आधुनिक गद्य (नाटक एवं निबंध)

शास्त्रीय अध्ययन

(Modern Prose (Drama and Essay): Classical Studies)

कुनाल आहुजा

आधुनिक गद्य (नाटक एवं निबंध) : शास्त्रीय अध्ययन

आधुनिक गद्य (नाटक एवं निबंध) : शास्त्रीय अध्ययन

(Modern Prose (Drama and Essay): Classical Studies)

कुनाल आहुजा

भाषा प्रकाशन
नई दिल्ली - 110002

© प्रकाशक

I.S.B.N. : 978-81-323-5568-7

प्रथम संस्करण : 2021

भाषा प्रकाशन

22, प्रकाशदीप बिल्डिंग, अंसारी रोड,
दरियागंज, नई दिल्ली - 110002

द्वारा वर्ल्ड टेक्नोलॉजीज नई दिल्ली के सहयोग से प्रकाशित

प्रस्तावना

हिंदी साहित्य का आधुनिक काल भारत के इतिहास के बदलते हुए स्वरूप से प्रभावित था। स्वतंत्रता संग्राम और राष्ट्रीयता की भावना का प्रभाव साहित्य में भी आया। भारत में औद्योगीकरण का प्रारंभ होने लगा था। आवागमन के साधनों का विकास हुआ। अंग्रेजी और पाश्चात्य शिक्षा का प्रभाव बढ़ा और जीवन में बदलाव आने लगा। ईश्वर के साथ-साथ मानव को समान महत्त्व दिया गया। भावना के साथ-साथ विचारों को पर्याप्त प्रधानता मिली। पद्य के साथ-साथ गद्य का भी विकास हुआ और छापेखाने के आते ही साहित्य के संसार में एक नई क्रांति हुई। आधुनिक हिन्दी गद्य का विकास केवल हिन्दी भाषी क्षेत्रों तक ही सीमित नहीं रहा। पूरे देश में और हर प्रदेश में हिन्दी की लोकप्रियता फैली और अनेक अन्य भाषी लेखकों ने हिन्दी में साहित्य रचना करके इसके विकास में महत्त्वपूर्ण योगदान किया।

आधुनिक काल की अन्य गद्य-विधाओं के ही समान हिन्दी नाटक का भी आरम्भ पश्चिम के संपर्क का फल माना जाता है। भारत के कई भागों में अंग्रेजों ने अपने मनोरंजन के लिए नाट्यशालाओं का निर्माण किया, जिनमें शेक्सपीयर तथा अन्य अंग्रेजी नाटककारों के नाटकों का अभिनय होता था। उधर सर विलियम जोन्स ने फोर्ट विलियम कॉलेज में संस्कृत के 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' के हिन्दी अनुवाद के अभिनय की भी प्रेरणा दी। इस बीच 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' के कई हिन्दी अनुवाद हुए जिनमें राजा लक्ष्मण सिंह का अनुवाद

आज भी महत्त्वपूर्ण माना जाता है। सन् 1859 में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के पिता बाबू गोपालचन्द्र ने 'नहुष' नाटक लिखा और उसको रंगमंच पर प्रस्तुत किया। इधर पारसी नाटक कम्पनियां नृत्य– संगीत प्रधान, नाटकों को बड़े धूम-धड़ाके से प्रस्तुत कर रही थीं, जिससे सुरुचि सम्पन्न तथा साहित्यिक गुणों के खोजी हिन्दी-साहित्यकार क्षुब्ध थे। इस सबसे प्रेरित होकर भारतेन्दु बाबू ने जनता की रुचि का परिष्कार करने के लिए स्वयं अनेक नाटक लिखे और अन्य लेखकों को नाट्य साहित्य की रचना के लिए प्रोत्साहित किया।

निबन्ध (Essay) गद्य लेखन की एक विधा है। लेकिन इस शब्द का प्रयोग किसी विषय की तार्किक और बौद्धिक विवेचना करने वाले लेखों के लिए भी किया जाता है। निबंध के पर्याय रूप में सन्दर्भ, रचना और प्रस्ताव का भी उल्लेख किया जाता है। लेकिन साहित्यिक आलोचना में सर्वाधिक प्रचलित शब्द निबंध ही है। इसे अंग्रेजी के कम्पोजीशन और एस्से के अर्थ में ग्रहण किया जाता है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के अनुसार संस्कृत में भी निबंध का साहित्य है। प्राचीन संस्कृत साहित्य के उन निबंधों में धर्मशास्त्रीय सिद्धांतों की तार्किक व्याख्या की जाती थी। उनमें व्यक्तित्त्व की विशेषता नहीं होती थी। किन्तु वर्तमान काल के निबंध संस्कृत के निबंधों से ठीक उलटे हैं। उनमें व्यक्तित्त्व या वैयक्तिकता का गुण सर्वप्रधान है।

पुस्तक लेखन में कई लिखित व अलिखित स्रोतों से मदद ली गई है; मैं उन सभी विज्ञ लेखकों के प्रति अपना आभार प्रकट करता हूँ। आशा करता हूँ कि पुस्तक पाठकों के लिए उपयोगी होगी।

–लेखक

अनुक्रम

	प्रस्तावना	*v*
1.	**विषय-बोध**	**1**
	आधुनिक हिन्दी गद्य	5
	भारतेंदु युग	7
	द्विवेदी युग	8
	शुक्ल युग	8
	शुक्लोत्तर युग	9
2.	**आधुनिक हिन्दी नाटक**	**11**
	नाटक कला का विविध स्वरूप	21
	रंगमंच, परम्परा और प्रयोग	43
3.	**निबन्ध**	**49**
	आधुनिक युग में हिन्दी निबन्ध का उद्‌भव एवं विकास	51
	भारतेन्दु युग में हिन्दी निबंध	51
	द्विवेदी युग में हिन्दी निबंध	54
	प्रसाद-युग में हिन्दी निबंध	56
	प्रसादोत्तर युग में हिन्दी निबंध	59
4.	**भारतेन्दु युग का हिन्दी गद्य साहित्य**	**62**
	हिन्दी नाट्य साहित्य	63

साहित्यिक परिचय 65
महत्त्वपूर्ण कार्य 68
संस्कृत 74
भारतेन्दुयुगीन प्रमुख गद्य रचनाकार 89
भारतेन्दु युग की आधुनिक हिन्दी गद्य – साहित्य का मूल्यांकन 95
5. द्विवेदी युग में हिन्दी गद्य का विकास 107
नाट्य साहित्य 108
रामचन्द्र शुक्ल की विवेचना 111
द्विवेदी युग की विशेषता 112
द्विवेदी युगीन प्रतिनिधि रचनाकार 120
महत्त्वपूर्ण कार्य 124
बालकृष्ण भट्ट 126
बाबू मैथिलीशरण गुप्त 129
पंडित रामचरित उपाध्याय 130
पंडित लोचन प्रसाद पांडेय 130
राय देवीप्रसाद 'पूर्ण' 131
पंडित गया प्रसाद शुक्ल 'सनेही' 132
पंडित राम नरेश त्रिपाठी 132
लाला भगवानदीन 'दीन' 133
पंडित रूपनारायण पांडेय 133
पंडित सत्यनारायण 'कविरत्न' 134
वियोगी हरि 134
अयोध्या सिंह उपाध्याय 'हरिऔध' 134
गिरिधर शर्मा – 'नवरत्न' 135
सैयद अमीर अली 'मीर' 136
कामता प्रसाद गुरु 136
बाल मुकुंद गुप्त 136
श्रीधर पाठक 137
मुकुटधर पांडेय 138
6. प्रसाद युग में हिन्दी गद्य साहित्य का स्वरूप 139
प्रसाद के काल में नाटक 141

प्रसाद–युगीन समीक्षा 157
जयशंकर प्रसाद की साहित्य दृष्टि 159
प्रसादयुगीन प्रतिनिधि रचनाकार 175
महादेवी वर्मा 177
सुमित्रा नंदन पंत 178
सुभद्रा कुमारी चौहान 180
सियाराम शरण गुप्त 180
भगवती चरण वर्मा 183
7. हिन्दी गद्य साहित्य का अद्यतन काल 189
अद्यतन काल का हिन्दी नाटक 190
अद्यतन काल के प्रमुख साहित्यकार 199
प्रमुख कृतियाँ 202
उपेन्द्रनाथ अश्क 203
प्रकाशित रचनाएँ 204

1

विषय-बोध

गद्य साहित्य का महत्त्वपूर्ण अंग है, जिसमें छन्द अलंकार योजना रस विधान आदि का निर्वाह करना आवश्यक नहीं। गद्य की विशेषता तथ्यों को सर्वमान्य भाषा के माध्यम से, ज्यों का त्यों प्रस्तुत करने में होती है। गद्य साहित्य की अनेक विधाएँ है- कहानी नाटक, उपन्यास निबन्ध, जीवनी, संस्मरण, आत्मचरित रिपोर्ताज व्यंग्य आदि।

सामान्यत: मनुष्य की बोलने या लिखने-पढने की छंदरहित साधारण व्यवहार की भाषा को गद्य (prose) कहा जाता है। इसमें केवल आंशिक सत्य है, क्योंकि इसमें गद्यकार के रचनात्मक बोध की अवहेलना है। साधारण व्यवहार की भाषा भी गद्य तभी कही जा सकती है जब यह व्यवस्थित और स्पष्ट हो। रचनात्मक प्रक्रिया को ध्यान में रखते हुए गद्य को मनुष्य की साधारण किंतु व्यस्थित भाषा या उसकी विशिष्ट अभिव्यक्ति कहना अधिक समीचीन होगा।

मनुष्य की सहज एवं स्वाभाविक अभिव्यक्ति का रूप गद्य है। कविता और गद्य में बहुत सी बातें समान है। दोनों के उपकरण शब्द हैं, जो अर्थ परिवर्तन के बिना एक ही भंडार से लिए जाते है, दोनों के व्याकरण और वाक्यरचना के नियम एक ही हैं (कविता के वाक्यों में कभी-कभी शब्दों का स्थानांतरण, वाक्यरचना के आधारभूत नियमों का खंडन नहीं), दोनों ही लय और चित्रमय उक्ति का सहारा लेते हैं। वर्डस्वर्थ के अनुसार गद्य और पद्य (या कविता) की भाषा में कोई मूलभूत अंतर न तो है और न हो सकता है।

लेकिन इन सारी समानताओं के बावजूद कविता और गद्य अभिव्यक्ति के दो भिन्न रूप हैं। समान उपकरणों के प्रति भी उनके दृष्टिकोणों की असमानता प्रायः स्तर पर उभर आती है। लेकिन उनमें केवल स्तरीय नहीं बल्कि तात्विक या गुणात्मक भेद है, जिसका कारण यह है कि कविता और गद्य जगत् और जीवन के विषय में मनुष्य की मानसिक प्रक्रिया के दो भिन्न रूपों की अभिव्यक्ति हैं। उनके उदय और विकास के इतिहास में इसके प्रमाण मौजूद हैं।

अपनी पुस्तक इल्यूजन ऐंड रिएलिटी में कॉडवेल ने कविता की उत्पत्ति, सामाजिक उपादेयता और तकनीक का विस्तृत विवेचन करते हुए लिखा है कि साहित्य के सबसे प्रारंभिक रूप में कविता मनुष्य की साधारण भाषा का उन्मेषीकरण थी। उस काल कविता केवल रागात्मक न होकर इतिहास, धर्म, दर्शन, तंत्र, मंत्र, ज्योतिषि, नीति और भेषज संबंधी ज्ञान का भी वहन करती थी। उसे उन्मेष प्रदान करने के लिए संगीत, छंद, तुक, मात्रा या स्वराघात, अनुप्रास, पुनरावृत्ति, रूपक इत्यादि का प्रयोग किया जाता है। कालांतर में सभ्यता के विकास, समाज के वर्गीकरण, श्रमविभाजन और उद्‌बुद्ध साहित्यिक चेतना के कारण पहले की उन्मेषपूर्ण भाषा भी विभक्त हो गई–कविता ने अपने को रागों की उन्मेषपूर्ण भाषा के रूप में सीमित कर लिया और विज्ञान, दर्शन, इतिहास, धर्मस्त्र, नीति, कथा और नाटक ने साधारण व्यवहार, अर्थात् कथ्य की भाषा को अपनाया। आवश्यकतानुसार प्रत्येक शाखा ने अपनी विशिष्ट शैली की विधि का विकास किया, उनमें आदान-प्रदान हुआ और उनसे स्वयं साधारण व्यवहार की भाषा भी प्रभावित हुई। मनुष्य का मानसिक जगत् अपने को भाषा के दो विशिष्ट रूपों-कविता और गद्य-में प्रतिबिंबित करने लगा।

कविता और गद्य के उद्देश्यों में भेद और भाषा के उपकरण शब्दों के प्रति उनके दृष्टिकोण में भेद का गहरा संबंध है। कविता की उत्पत्ति मनुष्य के सामूहिक श्रम के साथ हुई। शब्द अनिवार्यत् संगीत और प्रायः नृत्य के सहारे पूरे समूह के आवेगों को एक बिंदु पर संगठित कर कार्य संपन्न करने की प्रेरणा देते थे। फसल सामने नहीं थी, बीज बोना था। शब्दों का कार्य था लहलहाती फसल का मायावी चित्र उपस्थित कर पूरे समूह को बीज बोने के लिए प्रेरित करना। कॉडवेल के अनुसार इस मायावी सृष्टि के द्वारा शब्द शक्ति बन जाते थे। कविता सामूहिक भावों और आंकाक्षाओं का प्रतिबिंब थी और उन्हें उद्‌बुद्ध और संगठित करने का अस्त्र थी। इसलिए कविता का सूक्ष्म कथ्य-उसके तथ्यों की

वस्तु-नहीं, बल्कि समाज में उसकी गद्यात्मक भूमिका-उसके सामूहिक भावों की वस्तु-कविता का सत्य है।

सामाजिक जीवन में शब्द वस्तुनिष्ठ जगत् के शुष्क प्रतीक मात्र नहीं रह जाते बल्कि उनके साथ जीवन के अनुभव से उत्पन्न सरल से जटिल होते हुए भावात्मक संदर्भ जुड़ जाते हैं। कविता शब्दों के शुद्ध प्रतीकात्मक अर्थ की उपेक्षा नहीं कर सकती, लेकिन उसका मुख्य उद्देश्य शब्दों के भावात्मक संदर्भों का अर्थपूर्ण संगठन है। कविता शब्दों की नई सृष्टि है। हर्बर्ट रीड के शब्दों में कविता में चिंतन के दौरान शब्द बार-बार नया जन्म लेते हैं। अनेक भाषाओं में कवि के लिये प्रयुक्त शब्द का अर्थ स्रष्टा है।

गद्य शब्दों के भावात्मक संदर्भों के स्थान पर उनके वस्तुनिष्ठ प्रतीकात्मक अर्थ को ग्रहण करता है। गद्य में शब्दों के इस प्रकार के प्रयोग को ध्यान में रखकर हर्बर्ट रीड ने गद्य को निर्माणात्मक अभिव्यक्ति कहा है, ऐसी अभिव्यक्ति जिसमें शब्द निर्माता के चारों ओर प्रयोग के लिए ईंट-गारे की तरह बने बनाए तैयार करते हैं।

स्पष्ट है कि शब्द के वस्तुनिष्ठ अर्थ और उसके भावात्मक संदर्भ को पूर्णतया विभक्त करना संभव है। यही कारण है कि कविता सर्वथा कथ्यशून्य नहीं हो सकती और गद्य सर्वथा भावशून्य नहीं हो सकता। कविता और गद्य की तकनीकों में पास्परिक आदान प्रदान स्वाभाविक है। किंतु जहाँ उनके विशिष्ट धर्मों का बोध नहीं होता, वहाँ हमें कविता के स्थान पर फूहड़ गद्य और पद्य के स्थान पर फूहड़ कविता के दर्शन होते हैं।

वस्तुनिष्ठ सत्य की भाषा कहने का अर्थ यह नहीं कि गद्य कविता से हेय है, या उसका सामाजिक प्रयोजन कविता से कम है, या वह भाषा की कलाशून्य अभिव्यक्ति है। वास्तव में बहुत से ऐसे कार्य जो कविता की शक्ति के बाहर है, गद्य द्वारा संपन्न होते हैं। बहुत पहले यह अनुभव किया गया कि कविता की छंदमय भाषा में विचारों का तर्कमय विकास संभव नहीं। कविता से कम विकसित अवस्था में भी गद्य की विशिष्ट शक्ति को पहचानकर अरस्तु ने अपने प्रसिद्ध ग्रंथ रेटॉरिक में उसे प्रतीति परसुएशन, दूसरों को अपने विचारों से प्रभावित करने की भाषा कहा था, जिसके मुख्य तत्त्व हैं-विचारों का तर्कसंगत क्रम, वर्णन की सजीवता, कल्पना, चित्रयोजना, सहजता, लय, व्यक्तिवैचित्र्य, उक्ति-सौंदर्य, ओज, संयम। इनमें से प्रत्येक बिंदु पर कविता और गद्य की सीमाएँ मिलती हुई जान पड़ती हैं, किंतु दोनों में इनके प्रयोग की अलग-अलग रीतियाँ हैं।

उदाहरणार्थ, उनके दो तत्त्व, लय और चित्रयोजना, लिए जा सकते हैं जिनकी बहुत चर्चा होती है। गद्य की लय में कविता की लय से अधिक लोच या विविधता होती है, क्योंकि गद्य में लय वाक्यरचना की नहीं बल्कि विचारों की इकाई होती है। कविता में प्राय: लय को वाक्यरचना की इकाई बनाकर पुनरावृत्ति से प्रभाव को तीव्रता दी जाती है। कविता से कहीं ज्यादा गद्य में लय अनुभूति की वाणी है। प्राय: लय के माध्यम से ही गद्यकार के व्यक्तिव का उद्‌घाटन होता है।

कविता के प्राण चित्रयोजना में बसते हैं, जबकि गद्य में उसका प्रयोग अत्यंत संयम के साथ विचार को आलोकित करने के लिये ही किया जाता है। अंग्रेजी गद्य के महान शैलीकर स्विफ्ट के विषय में डॉ. जान्सन ने कहा था। यह दुष्ट कभी एक रूपक का भी खतरा मोल नहीं लेता। मुख्य वस्तु यह है कि गद्य में भाषा की सारी क्षमताएँ विचार की अचूक अभिव्यक्ति के अधीन रहती हैं। कविता में भाषा को अलंकृत करने की स्वतंत्रता अक्सर शब्दों के प्रयोग और वाक्यरचना के प्रति असावधान रहने की प्रवृत्ति का कारण है। विशेषणों का जितना दुरुपयोग कविता में संभव है उतना गद्य में नहीं। कविता में संगीत को अक्सर सस्ती भावुकता का आवरण बना दिया जाता है। गद्य में कथ्य का महत्त्व उस पर अंकुश का काम करता है। इसलिये गद्य का अनुशासन भाषा के रचनासौंदर्य के बोध का उत्तम साधन है। टी. एस. इलियट के शब्दों में अच्छे गद्य के गुणों को होना अच्छी कविता की पहली और कम से कम आवश्यकता है।

गद्य का प्रारंभ इतिहास, विज्ञान, सौंदर्यशास्त्र इत्यादि की भाषा के रूप में हुआ। बाद में वह उपयोग से कला की ओर प्रवृत्त हुआ। रूपों के विकास के आधार पर उसकी तीन स्थूल कोटियाँ बनी हैं-वर्णनात्मक, जिसमें कथा, इतिहास, जीवनी, यात्रा इत्यादि आते हैं। विवेचनात्मक, जिसमें विज्ञान, सौंदर्यशास्त्र, आलोचना, दर्शन, धर्म और नीतिशास्त्र, विधि, राजनीति इत्यादि आते हैं, एवं भावात्मक, जिसमें ऊपर के अनेक विषयों के अतिरिक्त आत्मपरक निबंध और नाटक आते हैं। विषयों के अनुसार गद्य में प्रवाह, स्पष्टता, चित्रमयता, लय, व्यक्तिगत अनुभूति, अलंकरण इत्यादि की मात्राओं में हेर फेर का होना आवश्यक हैं, किंतु गद्य की कोटियों के बीच दीवारें नहीं खड़ी की जा सकतीं। लेखक की रुचि और प्रयोजन के अनुसार वे एक-दूसरे में अंत:प्रविष्ट होती रहती हैं।

आधुनिक युग में उपन्यास गद्य की विशेष प्रयोगशाला बन गया है। कविता रह रहकर काफी दिनों तक शब्दों के पथ्य पर रहती है, गद्य में नए पुराने, सूखे चिकने सभी प्रकार के शब्दों को पचाने की अद्‌भुत शक्ति होती है। बोनामी डाब्री (Bonamy Dobree) के अनुसार सारा अच्छा जीवित गद्य प्रयोगात्मक होता है। उपन्यास गद्य की इस क्षमता का पूरा उपयोग कर सकता है। ऐसे प्रयोग इंग्लैंड की अपेक्षा अमरीका में अधिक हुए हैं और विंढम लिविस, हेमिंग्वे, स्टीन, फाकनर, ऐंडर्सन इत्यादि ने अपने प्रयोगों के द्वारा अंग्रेजी गद्य को नया रक्त दिया है। गद्य में तेजी से कें‌चुल बदलने की शक्ति का अनुमान हिंदी गद्य के तेज विकास से भी किया जा सकता है, हालाँकि उसका इतिहास बहुत पुराना नहीं। भविष्य में गद्य के विकास की ओर संकेत करते हुए एक अंग्रेज आलोचक मिडिलटन मरी ने लिखा है। गद्य की विस्तार सीमा अनंत है और शायद कविता की उपेक्षा उसकी संभावनाओं की कम खोज हुई है।

आधुनिक हिन्दी गद्य

हिंदी साहित्य का आधुनिक काल भारत के इतिहास के बदलते हुए स्वरूप से प्रभावित था। स्वतंत्रता संग्राम और राष्ट्रीयता की भावना का प्रभाव साहित्य में भी आया। भारत में औद्योगीकरण का प्रारंभ होने लगा था। आवागमन के साधनों का विकास हुआ। अंग्रेजी और पाश्चात्य शिक्षा का प्रभाव बढ़ा और जीवन में बदलाव आने लगा। ईश्वर के साथ-साथ मानव को समान महत्त्व दिया गया। भावना के साथ-साथ विचारों को पर्याप्त प्रधानता मिली। पद्य के साथ-साथ गद्य का भी विकास हुआ और छापेखाने के आते ही साहित्य के संसार में एक नई क्रांति हुई।

आधुनिक हिन्दी गद्य का विकास केवल हिन्दी भाषी क्षेत्रों तक ही सीमित नहीं रहा। पूरे देश में और हर प्रदेश में हिन्दी की लोकप्रियता फैली और अनेक अन्य भाषी लेखकों ने हिन्दी में साहित्य रचना करके इसके विकास में महत्त्वपूर्ण योगदान किया। हिन्दी गद्य के विकास को विभिन्न सोपानों में विभक्त किया जा सकता है।

1. भारतेंदु पूर्व युग 1800 ईस्वी से 1850 ईस्वी तक
2. भारतेंदु युग 1850 ईस्वी से 1900 ईस्वी तक
3. द्विवेदी युग 1900 ईस्वी से 1920 ईस्वी तक
4. रामचंद्र शुक्ल व प्रेमचंद युग 1920 ईस्वी से 1936 ईस्वी तक
5. अद्यतन युग 1936 ईस्वी से आज तक

19वीं सदी से पहले का हिन्दी गद्य

हिन्दी गद्य के उद्‌भव को लेकर विद्वानों में मतभेद है। कुछ विद्वान हिन्दी गद्य की शुरूआत 19वीं सदी से ही मानते हैं, जबकि कुछ अन्य हिन्दी गद्य की परम्परा को 11वीं-12वीं सदी तक ले जाते हैं। आधुनिक काल से पूर्व हिन्दी गद्य की निम्न परम्पराएं मिलती हैं-

(1) राजस्थानी में हिन्दी गद्य–राजस्थानी गद्य के प्राचीनतम रूप 10 वीं शताब्दी के दान पत्रों, पट्टे-परवानों, टीकाओं व अनुवाद ग्रंथों में देखने को मिलता है। आराधना, अतियार, बाल शिक्षा, तत्त्व विचार, धनपाल कथा आदि रचनाओं में राजस्थानी गद्य के प्राचीनतम प्रयोग दृष्टिगत होते हैं।

(2) मैथिली में हिन्दी गद्य–कालक्रम की दृष्टि से राजस्थानी के बाद मैथिली में हिन्दी गद्य के प्रयोग दृष्टिगत होते हैं। मैथिली में प्राचीन हिन्दी गद्य ग्रन्थ ज्योतिरिश्वर की रचना वर्ण रत्नाकर है। इसका रचना काल 1324 ईस्वी सन् है।

(3) ब्रजभाषा में हिन्दी गद्य– ब्रजभाषा में हिन्दी गद्य की प्राचीनतम रचनाएँ 1513 ईस्वी से पूर्व की प्रतीत नहीं होती। इनमें गोस्वामी विट्‌ठलनाथ कृत 'श्रृंगार रस मंडन', 'यमुनाष्टाक', 'नवरत्न सटीक', चतुर्भुज दास कृत 'ऋतु वार्ता', गोकुल नाथ कृत 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता', 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता 'गोस्वामी हरिराम कृत 'कृष्णावतार स्वरूप निर्णय', 'सातों स्वरूपों की भावना' 'द्वादश निकुंज की भावना', नाभादास कृत 'अष्टयाम', बैकुंठ मणि शुक्ल कृत 'अगहन माहात्म्य', 'वैशाख माहात्म्य' तथा लल्लू लाल कृत 'माधव विलास' विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

(4) दक्खिनी में हिन्दी गद्य– गेसुदराज कृत 'मेराजुलआशिकीन' तथा मूल्ला वजही कृत 'सबरस' में प्राचीन दक्खिनी हिन्दी गद्य रूप को देखा जा सकता है।

भारतेंदु पूर्व युग

खड़ीबोली हिन्दी में गद्य का विकास 19वीं शताब्दी के आसपास हुआ। इस विकास में कोलकाता के फोर्ट विलियम कॉलेज की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही। इस कॉलेज के दो विद्वानों लल्लूलाल जी तथा सदल मिश्र ने गिलक्राइस्ट के निर्देशन में क्रमशः प्रेमसागर तथा नासिकेतोपाख्यान नामक पुस्तकें तैयार कीं। इसी समय सदासुखलाल ने सुखसागर तथा मुंशी इंशा अल्ला खां ने 'रानी

केतकी की कहानी' की रचना की इन सभी ग्रंथों की भाषा में उस समय प्रयोग में आनेवाली खड़ी बोली को स्थान मिला। ये सभी कृतियाँ सन् 1803 में रची गयी थीं।

आधुनिक खड़ी बोली के गद्य के विकास में विभिन्न धर्मों की परिचयात्मक पुस्तकों का खूब सहयोग रहा जिसमें ईसाई धर्म का भी योगदान रहा। बंगाल के राजा राम मोहन राय ने 1815 ईस्वी में वेदांत सूत्र का हिन्दी अनुवाद प्रकाशित करवाया। इसके बाद उन्होंने 1829 में बंगदूत नामक पत्र हिन्दी में निकाला। इसके पहले ही 1826 में कानपुर के पं जुगल किशोर ने हिन्दी का पहला समाचार पत्र उदंतमार्तंड कलकत्ता से निकाला। इसी समय गुजराती भाषी आर्य समाज संस्थापक स्वामी दयानंद सरस्वती ने अपना प्रसिद्ध ग्रंथ सत्यार्थ प्रकाश हिन्दी में लिखा।

भारतेंदु युग

भारतेंदु हरिश्चंद्र (1850-1885) को हिन्दी-साहित्य के आधुनिक युग का प्रतिनिधि माना जाता है। उन्होंने कविवचन सुधा, हरिश्चन्द्र मैगजीन और हरिश्चंद्र पत्रिका निकाली। साथ ही अनेक नाटकों की रचना की। उनके प्रसिद्ध नाटक हैं- चंद्रावली, भारत दुर्दशा, अंधेर नगरी। ये नाटक रंगमंच पर भी बहुत लोकप्रिय हुए. इस काल में निबंध नाटक उपन्यास तथा कहानियों की रचना हुई। इस काल के लेखकों में बालकृष्ण भट्ट, प्रताप नारायण मिश्र, राधा चरण गोस्वामी, उपाध्याय बदरीनाथ चौधरी प्रेमघन, लाला श्रीनिवास दास, बाबू देवकी नंदन खत्री और किशोरी लाल गोस्वामी आदि उल्लेखनीय हैं। इनमें से अधिकांश लेखक होने के साथ-साथ पत्रकार भी थे।

श्रीनिवासदास के उपन्यास परीक्षागुरू को हिन्दी का पहला उपन्यास कहा जाता है। कुछ विद्वान श्रद्धाराम फुल्लौरी के उपन्यास भाग्यवती को हिन्दी का पहला उपन्यास मानते हैं। बाबू देवकीनंदन खत्री का चंद्रकांता तथा चंद्रकांता संतति आदि इस युग के प्रमुख उपन्यास हैं। ये उपन्यास इतने लोकप्रिय हुए कि इनको पढ़ने के लिये बहुत से अहिंदी भाषियों ने हिंदी सीखी। इस युग की कहानियों में शिवप्रसाद सितारे हिन्द की राजा भोज का सपना महत्त्वपूर्ण है।

बलदेव अग्रहरि की सन 1887 में प्रकाशित नाट्य पुस्तक 'सुलोचना सती' में सुलोचना की कथा के साथ आधुनिक कथा को भी स्थान दिया गया हैं, जिसमें संपादको और देश सुधारकों पर व्यंग्य किया गया है। कई नाटको में मुख्य

कथानक ही यथार्थ चित्रण प्रस्तुत करते हैं। बलदेव अग्रहरि की सुलोचना सती में भिन्नतुकांत छंद का आग्रह भी दिखाई देता है।

द्विवेदी युग

पण्डित महावीर प्रसाद द्विवेदी के नाम पर ही इस युग का नाम द्विवेदी युग रखा गया। सन 1903 ईस्वी में द्विवेदी जी ने सरस्वती पत्रिका के संपादन का भार संभाला। उन्होंने खड़ी बोली गद्य के स्वरूप को स्थिर किया और पत्रिका के माध्यम से रचनाकारों के एक बड़े समुदाय को खड़ी बोली में लिखने को प्रेरित किया। इस काल में निबंध, उपन्यास, कहानी, नाटक एवं समालोचना का अच्छा विकास हुआ।

इस युग के निबंधकारों में महावीर प्रसाद द्विवेदी, माधव प्रसाद मिश्रा, श्याम सुंदर दास, चंद्रधर शर्मा गुलेरी, बाल मुकंद गुप्त और अध्यापक पूर्ण सिंह आदि उल्लेखनीय हैं। इनके निबंध गंभीर, ललित एवं विचारात्मक हैं। किशोरीलाल गोस्वामी और बाबू गोपाल राम गहमरी के उपन्यासों में मनोरंजन और घटनाओं की रोचकता है।

हिंदी कहानी का वास्तविक विकास द्विवेदी युग से ही शुरू हुआ। किशोरी लाल गोस्वामी की इंदुमती कहानी को कुछ विद्वान हिंदी की पहली कहानी मानते हैं। अन्य कहानियों में बंग महिला की दुलाई वाली, शुक्ल जी की ग्यारह वर्ष का समय, प्रसाद जी की ग्राम और चंद्रधर शर्मा गुलेरी की उसने कहा था महत्त्वपूर्ण हैं। समालोचना के क्षेत्र में पद्मसिंह शर्मा उल्लेखनीय हैं। हरिऔध, शिवनंदन सहाय तथा राय देवीप्रसाद पूर्ण द्वारा कुछ नाटक लिखे गए। इस युग ने कई सम्पादकों को जन्म दिया। पन्डित ईश्वरी प्रसाद शर्मा ने आधा दर्जन से अधिक पत्रों का सम्पादन किया। शिव पूजन सहाय उनके योग्य शिष्यों में शुमार हुए। इस युग में हिन्दी आलोचना को एक दिशा मिली। इस युग ने हिन्दी के विकास की नींव रखी। यह कई मायनों में नई मान्यताओं की स्थापना करने वाला युग रहा।

शुक्ल युग

गद्य के विकास में इस युग का विशेष महत्त्व है। पं रामचंद्र शुक्ल (1884–1941) ने निबंध, हिन्दी साहित्य के इतिहास और समालोचना के क्षेत्र में गंभीर लेखन किया। उन्होंने मनोविकारों पर हिंदी में पहली बार निबंध लेखन

किया। साहित्य समीक्षा से संबंधित निबंधों की भी रचना की. उनके निबंधों में भाव और विचार अर्थात् बुद्धि और हृदय दोनों का समन्वय है। हिंदी शब्दसागर की भूमिका के रूप में लिखा गया उनका इतिहास आज भी अपनी सार्थकता बनाए हुए है। जायसी, तुलसीदास और सूरदास पर लिखी गयी उनकी आलोचनाओं ने भावी आलोचकों का मार्गदर्शन किया। इस काल के अन्य निबंधकारों में जैनेन्द्र कुमार जैन, सियारामशरण गुप्त, पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी और जयशंकर प्रसाद आदि उल्लेखनीय हैं।

कथा साहित्य के क्षेत्र में प्रेमचंद ने क्रांति ही कर डाली। सेवा सदन, रंगभूमि, निर्मला, गबन एवं गोदान आदि उपन्यासों की रचना की। उनकी तीन सौ से अधिक कहानियां मानसरोवर के आठ भागों में तथा गुप्तधन के दो भागों में संग्रहित हैं। पूस की रात, कफन, शतरंज के खिलाडी, पंच परमेश्वर, नमक का दरोगा तथा ईदगाह आदि उनकी कहानियां खूब लोकप्रिय हुई। इस काल के अन्य कथाकारों में विश्वंभर शर्मा कौशिक, वृंदावनलाल वर्मा, राहुल सांकृत्यायन, पांडेय बेचन शर्मा उग्र, उपेन्द्रनाथ अश्क, जयशंकर प्रसाद, भगवतीचरण वर्मा आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

नाटक के क्षेत्र में जयशंकर प्रसाद का विशेष स्थान है। इनके चंद्रगुप्त, स्कंदगुप्त, ध्रुवस्वामिनी जैसे ऐतिहासिक नाटकों में इतिहास और कल्पना तथा भारतीय और पाश्चात्य नाट्य पद्धतियों का समन्वय हुआ है। लक्ष्मीनारायण मिश्र, हरिकृष्ण प्रेमी, जगदीशचंद्र माथुर आदि इस काल के उल्लेखनीय नाटककार हैं।

शुक्लोत्तर युग

इस काल में गद्य का चहुंमुखी विकास हुआ। पं हजारी प्रसाद द्विवेदी, जैनेंद्र कुमार, अज्ञेय, यशपाल, नंददुलारे वाजपेयी, डॉ. नगेंद्र, रामवृक्ष बेनीपुरी तथा डॉ. रामविलास शर्मा आदि ने विचारात्मक निबंधों की रचना की है। हजारी प्रसाद द्विवेदी, विद्यानिवास मिश्र, कुबेर नाथ राय, कन्हैयालाल मिश्र प्रभाकर, विवेकी राय, ने ललित निबंधों की रचना की है। हरिशंकर परसांई, शरद जोशी, श्रीलाल शुक्ल, रवींन्द्रनाथ त्यागी। तथा के पी सक्सेना, के व्यंग्य आज के जीवन की विद्रूपताओं के उद्घाटन में सफल हुए हैं। जैनेन्द्र, अज्ञेय, यशपाल, इलाचंद्र जोशी, अमृतलाल नागर, रांगेय राघव और भगवती चरण वर्मा ने उल्लेखनीय उपन्यासों की रचना की। नागार्जुन, फणीश्वर नाथ रेणु, अमृतराय, तथा राही मासूम रजा ने लोकप्रिय आंचलिक उपन्यास लिखे हैं। मोहन राकेश, राजेन्द्र यादव, मन्नू भंडारी,

कमलेश्वर, भीष्म साहनी, भैरव प्रसाद गुप्त आदि ने आधुनिक भाव बोध वाले अनेक उपन्यासों और कहानियों की रचना की है। अमरकांत, निर्मल वर्मा तथा ज्ञानरंजन आदि भी नए कथा साहित्य के महत्त्वपूर्ण स्तंभ हैं।

प्रसादोत्तर नाटकों के क्षेत्र में लक्ष्मीनारायण लाल, लक्ष्मीकांत वर्मा, मोहन राकेश तथा कमलेश्वर के नाम उल्लेखनीय हैं। कन्हैयालाल मिश्र प्रभाकर, रामवृक्ष बेनीपुरी तथा बनारसीदास चतुर्वेदी आदि ने संस्मरण रेखाचित्र व जीवनी आदि की रचना की है। शुक्ल जी के बाद पं हजारी प्रसाद द्विवेदी, नंद दुलारे वाजपेयी, नगेन्द्र, रामविलास शर्मा तथा नामवर सिंह ने हिंदी समालोचना को समृद्ध किया। आज गद्य की अनेक नयी विधाओं जैसे यात्रा वृत्तांत, रिपोर्ताज, रेडियो रूपक, आलेख आदि में विपुल साहित्य की रचना हो रही है और गद्य की विधाएं एक-दूसरे से मिल रही हैं।

2

आधुनिक हिन्दी नाटक

आधुनिक काल की अन्य गद्य-विधाओं के ही समान हिन्दी नाटक का भी आरम्भ पश्चिम के संपर्क का फल माना जाता है। भारत के कई भागों में अंग्रेजों ने अपने मनोरंजन के लिए नाट्यशालाओं का निर्माण किया जिनमें शेक्सपीयर तथा अन्य अंग्रेजी नाटककारों के नाटकों का अभिनय होता था। उधर सर विलियम जोन्स ने फोर्ट विलियम कॉलेज में संस्कृत के 'अभिज्ञान शाकुन्तलंम्' के हिन्दी अनुवाद के अभिनय की भी प्रेरणा दी। इस बीच 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' के कई हिन्दी अनुवाद हुए जिनमें राजा लक्ष्मण सिंह का अनुवाद आज भी महत्त्वपूर्ण माना जाता है। सन् 1859 में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के पिता बाबू गोपालचन्द्र ने 'नहुष' नाटक लिखा और उसको रंगमंच पर प्रस्तुत किया। इधर पारसी नाटक कम्पनियां नृत्य– संगीत प्रधान, नाटकों को बड़े धूम-धड़ाके से प्रस्तुत कर रही थीं जिससे सुरुचि सम्पन्न तथा साहित्यिक गुणों के खोजी हिन्दी-साहित्यकार क्षुब्ध थे। इस सबसे प्रेरित होकर भारतेन्दु बाबू ने जनता की रुचि का परिष्कार करने के लिए स्वयं अनेक नाटक लिखे और अन्य लेखकों को नाट्य साहित्य की रचना के लिए प्रोत्साहित किया।

अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से हिन्दी-नाट्यकला के विकास को चार कालों में बाँटा जा सकता है :

(1) भारतेन्दुयुगीन नाटक – 1850 से 1900 ई.

(2) द्विवेदी युगीन नाटक – 1901 से 1920 ई.

(3) प्रसाद युगीन नाटक – 1921 से 1936ई.

(4) प्रसादोत्तर युगीन नाटक – 1937 से अब तक

हिन्दी रंगमंच और भारतेन्दु हरिश्चंद्र

इस प्रकार भारतेन्दु से पूर्व हिन्दी रंगमंच और नाट्य-रचना के व्यावसायिक तथा अव्यावसायिक साहित्यिक प्रयास तो हुए पर हिन्दी का वास्तविक और स्थायी रंगमंच निर्मित और विकसित नहीं हो पाया था। सन् 1850ई. से सन् 1868 ई. तक हिन्दी रंगमंच का उदय और प्रचार-प्रसार तो हुआ पर उसका सुरुचिपूर्ण विकास और स्थायी निर्माण नहीं हो सका था। पारसी नाटक मंडलियों के अतिरिक्त कुछ और भी छुटपुट व्यावसायिक मंडलियाँ विभिन्न स्थानों पर निर्मित हुईं पर साहित्यिक सुरुचि सम्पन्नता का उनमें भी अभाव ही रहा।

व्यावसायिक मंडलियों के प्रयत्न में हिन्दी रंगमंच की जो रूपरेखा बनी थी, प्रचार और प्रसार का जो काम हुआ था तथा इनके कारण जो कुछ अच्छे नाटककार हिन्दी को मिले थे-उस अवसर और परिस्थिति का लाभ नहीं उठाया जा सका था।

भारतेन्दु के नाटक लिखने की शुरूआत बंगला के विद्यासुंदर (1867) नाटक के अनुवाद से होती है। यद्यपि नाटक उनके पहले भी लिखे जाते रहे किंतु नियमित रूप से खड़ीबोली में अनेक नाटक लिखकर भारतेन्दु ने ही हिंदी नाटक की नींव को सुदृढ़ बनाया। भारतेन्दु के पूर्वत नाटककारों में रीवा नरेश विश्वनाथ सिंह (1846-1911) के बृजभाषा में लिखे गए नाटक 'आनंद रघुनंदन' और गोपालचंद्र के 'नहुष' (1841) को अनेक विद्वान हिंदी का प्रथम नाटक मानते हैं। यहाँ यह जानना रोचक हो सकता है कि गोपालचंद्र, भारतेन्दु हरिश्चंद्र के पिता थे।

हिन्दी के विशुद्ध साहित्यिक रंगमंच और नाट्य-सृजन की परम्परा की दृष्टि से सन् 1868 ई. का बड़ा महत्त्व है। भारतेन्दु के नाटक-लेखन और मंचीकरण का श्रीगणेश इसी वर्ष हुआ। इसके पूर्व न तो पात्रों के प्रवेश-गमन, दृश्य-योजना आदि से युक्त कोई वास्तविक नाटक हिन्दी में रचा गया था। भारतेन्दु के पिता गोपालचन्दर चित 'नहुष' तथा महाराज विश्वनाथसिंह रचित 'आनंदरघुनंदन' भी पूर्ण नाटक नहीं थे, न पर्दों और दृश्यों आदि की योजना वाला विकसित रंगमंच ही निर्मित हुआ था। नाट्यारंगन के अधिकतर प्रयास भी अभी तक मुंबई आदि अहिन्दी भाषी क्षेत्रों में ही हुए थे और भाषा का स्वरूप भी हिन्दी-उर्दू का मिश्रित खिचड़ी रूप ही था।

3 अप्रैल सन् 1868 को पं. शीतलाप्रसाद त्रिपाठी रचित 'जानकी मंगल' नाटक का अभिनय 'बनारस थियेटर' में आयोजित किया था। कहते हैं कि जिस लड़के को लक्ष्मण का अभिनय पार्ट करना था वह अचानक उस दिन बीमार पड़ गया। लक्ष्मण के अभिनय की समस्या उपस्थित हो गई और उस दिन युवक भारतेन्दु स्थिति को न सँभालते तो नाट्यायोजन स्थगित करना पड़ता। भारतेन्दु ने एक-डेढ़ घंटे में ही न केवल लक्ष्मण की अपनी भूमिका याद कर ली अपितु पूरे 'जानकी मंगल' नाटक को ही मस्तिष्क में जमा लिया। भारतेन्दु ने अपने अभिजात्य की परवाह नहीं की।

उन दिनों उच्च कुल के लोग अभिनय करना अपनी प्रतिष्ठा के अनुकूल नहीं समझते थे। इस प्रकार इस नाटक से भारतेन्दु ने रंगमंच पर सक्रिय भाग लेना आरम्भ किया। इसी समय-उन्होंने नाट्य-सृजन भी आरम्भ किया।

भारतेन्दु ने सन् 1868 ई. से सन् 1885 ई. तक अपने स्वल्प और अत्यन्त व्यस्त जीवन से शेष 17 वर्षों में अनेक नाटकों का सृजन किया, अनेक नाटकों में स्वयं अभिनय किया, अनेक रंगशालाएँ निर्मित कराईं और हिन्दी रंगमंच के स्थापन का स्तुत्य प्रयास किया। यही नहीं, भारतेन्दु के अनेक लेखकों और रंगकर्मियों को नाट्य-सृजन और अभिनय के लिए प्रेरित किया। भारतेन्दु के सदुद्योग एवं प्रेरणा से काशी, प्रयाग, कानपुर आदि कई स्थानों पर हिन्दी का अव्यावसायिक साहित्यिक रंगमंच स्थापित हुआ।

भारतेन्दु के ही जीवन काल में ये कुछ रंग-संस्थाएँ स्थापित हो चुकी थीं-

(1) काशी में भारतेन्दु के संरक्षण में नेशनल थियेटर की स्थापना हुई। भारतेन्दु अपना 'अंधेर नगरी' प्रहसन इसी थियेटर के लिए एक ही रात में लिखा था,

(2) प्रयाग में 'आर्य नाट्यसभा' स्थापित हुई जिसमें लाला श्रीनिवासदास का 'रंगधीर प्रेममोहिनी' प्रथम बार अभिनीत हुआ था,

(3) कानपुर में भारतेन्दु के सहयोगी पं. प्रतापनारायण मिश्र ने हिन्दी रंगमंच का नेतृत्व किया और भारतेन्दु के 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति', 'सत्य हरिश्चन्द्र', 'भारत-दुर्दशा', 'अंधेर नगरी' आदि नाटकों का अभिनय कराया।

इनके अतिरिक्त बलिया, डुमराँव, लखनऊ आदि उत्तर प्रदेश के कई स्थानों और बिहार प्रदेश में भी हिन्दी रंगमंच और नाट्य-सृजन की दृढ़ परम्परा का निर्माण हुआ।

प्रेरणा-स्त्रोत

भारतेन्दु और उनके सहयोगी लेखकों ने नाट्य-सृजन की प्रेरणा कहाँ-कहाँ से प्राप्त की, यह प्रश्न पर्याप्त महत्त्व का है। इस प्रश्न का महत्त्व इस दृष्टि से और भी बढ़ जाता है, जब हम देखते हैं कि हिन्दी में नाट्य-रचना का सूत्रपात भारतेन्दु की ही नव-प्रवर्तनकारी प्रतिभा से हुआ। यद्यपि भारतेन्दु से पूर्व नाट्य-शैली में कुछ सृजन-प्रयास हुए थे, पर नाटक के वास्तविक रूप का उद्‌भव सर्वप्रथम भारतेन्दु की ही लेखिनी से हुआ। अस्तु, जब हिन्दी में इस साहित्यि-विधा का अभाव था, तो भारतेन्दु ने नाट्य-सृजन की प्रेरणा कहाँ से ली?

साहित्यिक प्रेरणा

साहित्यिक प्रेरणा की खोज की जाय तो कहा जा सकता है कि भारतेन्दु ने संस्कृत तथा प्राकृत की पूर्ववर्ती भारतीय नाट्य-परम्परा और बँगला की समसामयिक नाट्यधारा के साथ अंग्रेजी प्रभाव-धारा से प्रेरणा ली। यद्यपि हमारे यहाँ भास, कालीदास, भवभूति, शूद्रक आदि पूर्ववर्ती संस्कृत नाटककारों की समृद्ध नाट्य-परम्परा विद्यमान थी, पर यह खेद की बात है कि भारतेन्दु बाबू ने उस समृद्ध संस्कृत नाट्य-परम्परा को अपने सम्मुख रखा। प्राकृत-अपभ्रंश काल में अर्थात् ईसा की 9वीं-10 वीं शताब्दी के बाद संस्कृत नाटक ह्रासोन्मुख हो गया था। प्राकृत और अपभ्रंश में भी नाट्य-सृजन वैसा उत्कृष्ट नहीं हुआ जैसा पूर्ववर्ती संस्कृत-नाट्य-साहित्य था। अतः भारतेन्दु के सामने संस्कृत-प्राकृत की यह पूर्ववर्ती ह्रासगामी परम्परा रही। संस्कृत के मुरारि, राजशेखर, जयदेव आदि की क्रमशः 'अनर्घराघव', 'बालरामायण', 'प्रसन्नराघव' आदि रचनाएँ ही भारतेन्दु तथा उनके सहयोगी लेखकों का आदर्श बनीं। इनमें न कथ्य- या विषय-वस्तु का वह गाम्भीर्य था, जो कालिदास आदि की अमर कृतियों में था, न उन जैसी शैली-शिल्प की श्रेष्ठता थी। यही कारण है कि भारतेन्दु-पूर्व हिन्दी नाटक सर्वथा निष्प्राण रहा और यद्यपि भारतेन्दु ने उसमें सामयिक, सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन की झलक पैदा कर नवोन्मेष और किंचित् सप्राणता का प्रयास किया, पर उनके प्रयत्नों के बावजूद भारतेन्दुकालीन हिन्दी नाटक कथ्य और शिल्प दोनों की ही दृष्टि से शैशव काल में ही पड़ा रहा, विशेष उत्कर्ष को प्राप्त नहीं हुआ।

भारतेन्दु के पश्चात

इस प्रकार भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के सत्यप्रयत्नों से हिन्दी के साहित्यिक रंगकर्म और नाट्य-लेखन की दृढ़ परम्परा चली। पर सन् 1885 ई. में भारतेन्दु के निधन के पश्चात् वह उत्साह कुछ मन्द पड़ गया। 19 वीं शती के अन्तिम दशक में फिर कुछ छुटपुट प्रयास हुए। कई नाटक मंडलियों की स्थापना हुई, जैसे प्रयाग की 'श्रीरामलीला नाटक मंडली' तथा 'हिन्दी नाट्य समिति', भारतेन्दु जी के भतीजों- श्रीकृष्णचन्द्र और श्री ब्रजचन्द्र-द्वारा काशी में स्थापित 'श्री भारतेन्दु नाटक मंडली' तथा 'काशी नागरी नाटक मंडली।' इन नाटक मंडलियों के प्रयत्न से उस समय 'महाराणा प्रताप', 'सत्य हरिश्चन्द्र', 'महाभारत', 'सुभद्राहरण', 'भीष्मपितामह', 'बिल्व मंगल', 'संसार स्वप्न', 'कलियुग' आदि अनेक नाटकों का अभिनय हुआ।

पर ये प्रयास भी बहुत दिन नहीं चल सके। धनाभाव तथा सरकारी और गैर-सरकारी प्रोत्साहन के अभाव में साहित्यिक रंगमंच की स्थापना के प्रयत्न कालान्तर में सब सो गए। इन छुटपुट प्रयासों के अन्तर्गत तत्कालीन साहित्यिक नाटकों का अभिनय हुआ और हिन्दी में कुछ अच्छे रंगमंचानुकूल साहित्यिक नाटकों की रचना हुई। पारसी नाटक कंपनियों के दुष्प्रभाव का तो यह प्रयास अच्छा जवाब था, किन्तु यह प्रयास था बहुत ही स्वल्प। दूसरे, इस साहित्यिक रंगान्दोलन से भी हिन्दी का रंगमंच विशेष विकसित नहीं हुआ, क्योंकि यह रंगमंच पारसी रंगमंच से विशेष भिन्न और विकसित नहीं था- वही पर्दों की योजना, वैसा ही दृश्य-विधान और संगी आदि का प्रबंध रहता था। वैज्ञानिक साधनों से सम्पन्न घूमने वाले रंगमंच का विकास 19 वीं शती में नहीं हो सका था। ध्वनि-यन्त्र आदि की स्थापना के प्रयास भी हिन्दी रंगमंच के विकास की दिशा में कोई महत्त्वपूर्ण योग नहीं दे पाए। हाँ, इनका यही लाभ हुआ की पारसी नाटक कम्पनियों के भ्रष्ट प्रचार को कुछ धक्का लगा तथा कुछ रंगमंचीय हिन्दी नाटक प्रकाश में आए।

हिंदी नाटक के विकास में पारसी थियेटर का योगदान

जब भारतेंदु नाट्य-साहित्य की रचना कर रहे थे तब तक अंग्रेजी राज्य स्थापित हो चुका था। अंग्रेजों के कारण रंग-कार्य और नाटक मंचन को फिर से एक नया जीवन मिला। पारसी रंग कंपनियां स्थापित हुईं। वे नाट्य-प्रदर्शन के

व्यवसाय में लग गए। उनके प्रदर्शन शैली और भाषा शिष्ट लोगों को अनुकूल नहीं थी। वे तो व्यावसायिक रंगमंच चला रहे थे। इस तरह की कंपनियों की शुरूआत "हिंदू ड्रमैटिक कोर" की स्थापना के साथ हुई। इस कंपनी ने अपना पहला नाटक 1 मार्च 1853 में एक मराठी नाटक खेला।

पारसी थियेट्रिकल कम्पनी को रंगमंचीय नाट्क कंपनी के नाम से भी जाना जाता है। कुछ लोग इस कम्पनी की उत्पत्ति 1853 में ही 1848 में अमानत रचित ''इन्दर सभा" का लखनऊ में हुए मंचन से भी जोड़ते हैं। यह नाटक उर्दू भाषा में था। कहा जाता है कि इस नाटक की रचना के लिए कवि अमानत को वाजिदअली शाह ने प्रोत्साहित किया था और रंगमंच पर खुद वाजिदअली शाह ने इन्द्र का अभिनय किया था।

इस नाटक से इतनी आमदनी हुई कि कुछ उत्साही पारसियों ने थियेट्रिकल कंपनी खोलने का संकल्प लिया। उन्होंने पहले सोहराब और रुस्तम की कहानी को नाटक का रूप देकर रंगमंच पर इसका अभिनय दिखाना शुरू किया। बाद में 1870 में पेस्टनजी फ्रेमजी ने "ओरिजिनल थियेट्रिकल कम्पनी" नाम से एक कम्पनी खोली। इस कम्पनी ने नतीज-ए-अस्मत, खुदा दोस्त, चांद बीवी, तोहफ-ए-दिलकुशा, बुलबुल-ए-बीमार, तोहफ-ए-दिलपजीर, शीरी-फरहाद, अलीबाबा, लैला-मजनू, तमाशा-ए-अलाउद्दीन, नक्श-ए-सुलेमान, हुस्न अफरोज आदि नाटक खेली।

1877 में दिल्ली में विक्टोरिया नाटक कम्पनी खुली। इसने विक्रम-विलास, दिलेर दिलशेर, निगाह-ए-गफलत, गोपीचन्द आदि नाटक खेली। फिर कावसजी खटाऊ ने अल्फ्रेड थियेट्रिकल कम्पनी खोली जिसके प्रसिद्ध नाटक थे हैमलेट, गुलनार फिरोज, चन्द्रावली, दिलफरोश, बकावली, चलतापुर्जा।

इसी कम्पनी से पं. नारायणप्रसाद 'बेताब' नाट्यकार के रूप में जुड़े।

पारसी शैली के नाटक का प्रदर्शन में खूब नाच-गाना भरा होता है। साथ ही तड़क-भड़क युक्त सीन-सीनरियों का प्रयोग किया जाता है। दर्शकों के मनोरंजन के लिए फूहड़ हास्य दृश्यों की बहुलता होती है। ऐसे मंचनों में न तो संस्कृति के प्रति और न ही कला के प्रति कोई प्रतिबद्धता परिलक्षित होती थी। शिक्षित जनता को ऐसे साहित्य से लगाव नहीं था।

उन्नीसवीं सदी के मध्य से बीसवीं सदी के आरंभ तक पारसी कम्पनियां जगह-जगह घूम-घूम कर नाटक खेला करती थीं। इनका मुख्य लक्ष्य था सस्ता मनोरंजन और हास्य प्रदान करना। दर्शक भी ऐसे नाटकों में वे ही लोग होते थे

जिन्हें नाच-गाने में मजा आता था। पैर पटक कर संवाद बोलना उनमें रोमांच पैदा करता था। बिना मतलब की उछल-कूद, भोंडी शारीरिक क्रियायें और भड़कीली सीन-सीनरी उनको रिझाते थे। ऐसे नाटकों में राष्ट्रीय नवनिर्माण की तो कोई बात ही नहीं होती थी। इस दौर के नाटकों ने आधुनिक पुनर्जागरण में कोई योगदान नहीं दिया। इनकी साहित्य में कोई गणना नहीं होती। इस थियेटर में अश्लीलता पर वाह-वाह करनेवाले प्रेक्षकों को संतुष्ट करने की मनोवृत्ति ने नाट्यकला को उन्नत न होने दिया।

जब संस्कृत रुचि रखने वाले विद्वानों ने ऐसे नाटकों की समालोचना की, तो कम्पनी वालों का ध्यान इसके सुधार की ओर गया। बीसवीं शताब्दी की शुरूआत में पारसी थियेटर का अंदाज कुछ-कुछ बदलने लगा। तब के इस थियेटर से जुड़े नाटककार मुंशी नारायण प्रसाद 'बेताब', मुंशी मुहम्मदशाह आगा 'हश्र' और राधेश्याम कथावाचक ने भारतीय संस्कार और नैतिक मूल्यबोध के नाटकों की रचना की और पारसी रंगमंच की एक नई धारा का सूत्रपात किया। हालाकि नाटक तो पारसी शैली में लिखे गए थे, लेकिन नवयुग की चेतना के अनुरूप देश-प्रेम और सांस्कृतिक भावना को नाटकों द्वारा व्यक्त किया गया। कुछ विद्वान इन्हें हिन्दी साहित्य का अंग मानने लगे हैं। 'बेताब', ने नाटक में गानों को स्थान दिया। आगा 'हश्र' ने रोमांचकारी घटनाओं के आधार पर नाटक रचे। इनके कथानक सनसनी फैलाने वाले होते थे। पं. राधेश्याम कथावचक के नाटकों में अश्लीलता को कहीं भी स्थान नहीं मिलता। इनके अधिकांश कथानक पौराणिक हैं।

आधुनिक युग में जब बोलती फिल्मों का दौर चला तो पारसी थियेट्रिकल कम्पनियों का व्यवसाय मन्द पड़ने लगा। बम्बई (मुम्बई) में एक नई कम्पनी खुली-पृथ्वी थियेटर। इसमें भारत-विभाजन के समय की स्थिति के नाटक खेले जाते थे। दीवार, गद्दार, पठान, आहुति इसके प्रसिद्ध नाटक हैं। नाटक की भाषा जनसाधारण की भाषा होते हुए भी परिकृत है। पृथ्वीराज के अभिनय की स्वाभाविकता के कारण इसके नाटकों की ख्याति पूरे देश में फैल गई।

बीसवीं शताब्दी

20 वीं शताब्दी के तीसरे दशक में सिनेमा के आगमन ने पारसी रंगमंच को सर्वथा समाप्त कर दिया। पर अव्यावसायिक रंगमंच इधर-उधर नए रूपों में जीवित रहा। अब हिन्दी का रंगमंच केवल स्कूलों और कॉलेजों में ही है। यह

रंगमंच बड़े नाटकों की अपेक्षा एकांकियों को अधिक अपनाकर चला। इसके दो मुख्य कारण हैं- एक तो आज का दर्शक कम-से-कम समय में अपने मनोरंजन की पूर्ति करना चाहता है, दूसरे, आयोजकों के लिए भी बड़े नाटक का प्रदर्शन यहां बहुत कठिनाई उत्पन्न करता है वहाँ एकांकी का प्रदर्शन सरल है-रंगमंच, दृश्य-विधान आदि एकांकी में सरल होते हैं, पात्र भी बहुत कम रहते हैं। अतः सभी शिक्षालयों, सांस्कृतिक आयोजनों आदि में आजकल एकांकियों का ही प्रदर्शन होता है। डॉ. राजकुमार वर्मा, उपेन्द्रनाथ अश्क, सेठ गोविन्द दास, जगदीशचन्द्र माथुर आदि हमारे अनेक नाटककारों ने सुन्दर अभिनय-उपयोगी एकांकी नाटकों तथा दीर्घ नाटकों की रचना की है।

प्रसाद जी ने उच्चकोटि के साहित्यिक नाटक रच कर हिन्दी नाटक साहित्य को समृद्ध किया था, पर अनेक नाटक रंगमंच पर कुछ कठिनाई उत्पन्न करते थे। फिर भी कुछ काट-छाँट के साथ प्रसाद जी के प्रायः सभी नाटकों का अभिनय हिन्दी के अव्यावसायिक रंगमंच पर हुआ। जार्ज बर्नार्ड शॉ, इब्सन आदि पाश्चात्य नाटककारों के प्रभाव से उपर्युक्त प्रसादोत्तर आधुनिक नाटककारों ने कुछ बहुत सुन्दर रंगमंचीय नाटकों की सृष्टि की। इन नाटककारों के अनेक पूरे नाटक भी रंगमंचों से प्रदर्शित हुए।

स्वतंत्रता के पश्चात

स्वतंत्रता के पाश्चात् हिन्दी रंगमंच के स्थायी निर्माण की दिशा में अनेक सरकारी-गैर-सरकारी प्रयत्न हुए हैं। सरकार की ओर से भी कई गैर-सरकारी संस्थाओं को रंगमंच की स्थापना के लिए आर्थिक सहायता मिली है। पुरुषों के साथ अब स्त्रियाँ भी अभिनय में भाग लेने लगी हैं। स्कूलों-कॉलेजों में कुछ अच्छे नाटकों का अब अच्छा प्रदर्शन होने लगा है।

अनेक सामाजिक-सांस्कृतिक संस्थाओं से संबद्ध कुछ अच्छे स्थायी रंगमंच बने हैं, जैसे थिएटर सेंटर के तत्त्वावधान में दिल्ली, बंबई, कलकत्ता, इलाहाबाद, हैदराबाद, बंगलौर, शान्तिनिकेतन आदि स्थानों पर स्थायी रंगमंच स्थापित हैं। केन्द्रीय सरकार भी इस ओर पर्याप्त ध्यान दे रही है। पर इन सर्वभाषायी रंगमंचों पर हिन्दी भिखारिणी-सी ही प्रतीत होती है।

केन्द्रीय सरकार ने संगीत नाटक अकादमी की स्थापना की है, जिसमें अच्छे नाटककारों और कलाकारों को प्रोत्साहन दिया जाता है।

व्यावसायिक रंगमंच के निर्माण के भी पिछले दिनों कुछ प्रयत्न हुए हैं। प्रसिद्ध कलाकार स्वर्गीय पृथ्वीराज कपूर ने कुछ वर्ष हुए पृथ्वी थियेटर की स्थापना की थी। उन्होंने कई नाटक प्रस्तुत किए हैं, जैसे 'दीवार', 'गद्दार', 'पठान', 'कलाकार', 'आहूति' आदि। धन की हानि उठाकर भी कुछ वर्ष इस कम्पनी ने उत्साहपूर्वक अच्छा कार्य किया। पर इतने प्रयास पर भी बंबई, दिल्ली या किसी जगह हिन्दी का स्थायी व्यावसायिक रंगमंच नहीं बन सका है। इस मार्ग में कठिनाइयाँ हैं।

नाटक का महत्त्व और उपादेयता

1. विभिन्न रुचियों की संतुष्टि का साधन–नाटक एक ऐसा साहित्यिक साधन है जिसके द्वारा मानव की विभिन्न रुचियों की संतुष्टि होती है। कालीदास के शब्दों द्वारा इस मान्यता की पुष्टि होती है–

नाट्यं भिन्न रुचेर्जन्सय बहुधाप्येकं समाराधनम्।

भरत मुनि ने भी स्पष्ट कहा है कि ऐसा कोई ज्ञान, योग, विद्या, कला अथवा शिल्प नहीं है, जिसे नाटक के माध्यम से प्रस्तुत न किया जा सके। नाटक में कहीं धर्म, कहीं क्रीड़ा अर्थ, कहीं श्रम, कहीं हंसी, कहीं रुदन, कहीं काम तथाशृंगार के बहुरंगी फव्वारे छूटते रहते हैं। वीर-रस तथा रुद्र-रस का निर्झर भी अपने पूर्ण वेग के साथ प्रवाहित होता है इसमें। अत: यह स्पष्ट है कि नाटक मानव की विभिन्न रुचियों की संतुष्टि का साधन है, माध्यम है।

2. कल्पना से अधिक वास्तविकता–नाटक असल में असल चीज के हकीकत को उजागर करता है। नाटक में कल्पना के स्थान पर वास्तविकता अधिक होती है। यही कारण है कि नाटक जीवन के अधिक निकट होता है। सच तो यह है कि इसमें वास्तविक जीवन ही रूपायित होता है।

3. लोकहित तथा लोकरंजन की भावना से पूर्ण–नाटक में लोकरंजन तथा लोकहित की भावना प्रमुख होती है। इससे दर्शकों तथा पाठकों का मनोरंजन तो होता ही है, उन्हें लोकहितकारी प्रेरणा तथा संदेश की प्राप्ति भी होती है। भारत मुनि के शब्दों में नाटक के इस महत्त्व को और भी स्पष्ट किया जा सकता है–

हितोपदेश जननम् नाट्यमेतद् भविष्यति।
विनोदकरणम् लोके नाट्यमेतद् भविष्यति॥

कहने का तात्पर्य की नाटक हितोपदेश व लोगों के मनोरंजन के लिए किये जाते हैं।

4. कवित्व की चरम भाषा–नाटक कवित्व की चरम भाषा है। काव्य में वर्णित दृश्य अथवा अवस्था को मानविक रूप से समझा जा सकता है। इसके विपरीत नाटक में वर्णित दृश्य अथवा स्थिति को रंगमंच पर प्रत्यक्ष देखकर आनंद प्राप्त किया जा सकता है। इस आनंद को 'ब्रह्मानंद' की संज्ञा दी गई है।

5. शिक्षण का प्रभावकारी माध्यम–मनोविज्ञान के माध्यम से यह स्पष्ट हो चुका है कि दृश्य-श्रव्य तकनीक के प्रयोग द्वारा शिक्षण पद्धति को और प्रभावशाली बनाया जा सकता है। नाटक एक जीवंत श्रव्य-दृश्य उपादान है। इस महत्त्व को आधुनिक शिक्षाशास्त्रियों ने भी स्वीकार किया है तथा शिक्षण-कार्यों में इसका उपयोग धड़ल्ले से हो रहा है। अब तो सभी विषयों को नाटक के माध्यम से पढ़ाए जाने की संभावना पर गंभीरतापूर्वक विचार किया जा रहा है। आचरण तथा व्यवहार की शिक्षा नाटक के माध्यम से सर्वोत्तम ढंग से दी जा सकती है। इतिहास की शिक्षा तो नाटक के माध्यम से जीवंत तथा वास्तविक हो उठती है। टेलीविजन पर अभिनय द्वारा आजकल विभिन्न विषयों की शिक्षा दी जाने लगी है।

6. नाटक के गद्य, पद्य एवं मिश्रित रूप–नाटक की रचना गद्य, पद्य तथा मिश्रित तीनों रूपों में होती है तथा हो सकती है। शेक्सपियर, कालिदास जैसे महान् नाटककारों ने अपने नाटकों की रचना पद्य में की है। डी. एल. राय, सेठ गोविन्द दास, रामकुमार वर्मा तथा जयशंकर प्रसाद ने अपने नाटक मुख्य रूप से गद्य में लिखे हैं। उन्हें मिश्रित भी कहा जाता है चूँकि इसके अन्दर गाने को भी स्थान दिया गया है।

7. जन-साधारण की वस्तु–नाटक जन सधारण की चीज है जब यह रंग मंच पर प्रस्तुत किया जाता है तो अच्छे-अच्छे मानव इसको सही मानने पर मजबूर हो जाते है। और दर्शक उन्हें वाहवाही देते हैं। रंगमंच पर नाटक की दुरूहता समाप्त हो जाती है। वह जनसाधारण की पहुँच में आ जाता है तथा जन-साधारण आलोड़ित-बिलोड़ित हो जाती है। इस प्रकार नाटक जन-साधारण की वस्तु बन जाता है।

नाटक का प्रयोजन

नाटक एक सस्ता मनोरंजन होने के साथ-साथ दर्शकों का स्वस्थ मनोरंजन भी करता है। नाटक के द्वारा आचरण की प्रभावकारी शिक्षा देने का उद्देश्य भी आंखों से ओझल नहीं किया जा सकता। छोटे बच्चों को अपेक्षित रूप से चलने,

बोलने, हाव-भाव प्रकट करने, कुमार्ग से बचने, न्याय के लिए बलिदान करने तथा दुष्टों का निर्भय विरोध करने की प्रेरणा शिक्षा नाटक के द्वारा सशक्त रूप से दी जा सकती है। भाषा-शिक्षण की दृष्टि से भी इसकी शिक्षा के उपयोगी उद्देश्य हैं। बच्चों को शुद्ध उच्चारण करने, सूक्ति एवं प्रशक्त गद्य-पद्य याद करने तथा सृजनात्मक ताकत को जागृत करने के अवसर पर नाटक-शिक्षण द्वारा प्रभावकारी ढंग से दिए जा सकते हैं। नाटक-शिक्षण द्वारा कल्पना, विवेचना तथा तर्क जैसी शक्तियों का विकास एवं परिष्कार आश्चर्यजनक रूप से होता है। इन बातो पर ध्यान देने से स्पष्ट होता है कि नाटक-शिक्षण के उद्देश्य अत्यंत व्यापक हैं। इन उद्देश्यों को अलग-अलग इस प्रकार रखा जा सकता है–

(क) उन्हें भावानुसार तथा प्रभावकारी वाचन की कला में निष्णात कराना।
(ख) उन्हें अभिनय कला से परिचित कराकर उसमें निष्णात कराना।
(ग) उनमें साहित्य के प्रति रुचि उत्पन्न करना।
(घ) उन्हें इतिहास एवं संस्कृति से परिचित कराना।
(ङ) छात्रों का स्वस्थ मनोरंजन करना और मोहना।
(च) उनमें साहित्यिक सृजनात्मक शक्ति का विकास करना।
(छ) उन्हें विभिन्न प्रकार के मानव-आचरणों एवं चरित्रों से परिचित कराना।
(ज) उन्हें मानव-स्वभाव के व्यावहारिक रूप से परिचित कराना।
(झ) उन्हें मानव-जीवन तथा समाजगत परिस्थितियों से परिचित कराना।
(ञ) उन्हें विभिन्न अवसरों के अनुकूल आचरण करना तथा वार्तालाप करना सिखाना।
(ठ) उन्हें वास्तविक जीवन के लिए तैयार करना।
(ढ) उनमें वक्तृत्व-कला को विकसित कर, उन्हें सार्वजनिक भाषण करने में झिझक से मुक्त कराना।

नाटक कला का विविध स्वरूप

सभी कलाओं के द्वारा मानवाभिव्यक्ति को व्यक्त करने का समय दिया जाता है। सृष्टि की रचना के प्रारम्भ से ही संगीत की मधुर ध्वनि मानव मन में स्थापित है। संगीत का अदभुत प्रभाव मानव पर ही नहीं, अपितु पशु-पक्षियों पर भी गहरा होता है। संगीत मानव की भावनाओं को जागृत करता है तथा साँसारिक

समस्याओं एवं दु:खों को भुलाने में विशेष रूप से सहायक सिद्ध होता है। संगीत शब्द में गायन, वादन एव नृत्य तीनों कलाओं का समावेश है। भावों को शब्दों में सँजोकर और स्वरों में पिरोकर अभिव्यक्ति करने को ही संगीत कहा जाता है।

कला या लोक संगीत द्वारा पूरे सँसार में मानवता, आत्मीयता की स्थापना की जा सकती है। पंडित जवाहरलाल नेहरू की दृष्टि में लोकसंगीत से हमें उल्लास मिलता है तथा यह शिक्षा मिलती है कि जीवन का आनन्द केवल भौतिक पदार्थों की उपलब्धि में ही नहीं है।

यहाँ एक सुयोग्य शिक्षक अपने छात्रों को शिक्षित करने के साथ-साथ उन्हें सर्वगुण-सम्मान बनाने का प्रयास करता है। शिक्षा के साथ पाठान्तर क्रियाओं में प्रवीण वह उनके सर्वांगीण विकास में सहायक सिद्ध होता है। एक शिक्षक अपने छात्रों तक संस्कृति का सर्वोत्तम संदेश देने वाला होता है। वह उन तक कला और संगीत का ज्ञान पहुँचाता है, जिसके लिए वह नाटक, लोक-गीत, लोक-नृत्य इत्यादि का सहारा लेता है।

यहाँ पर हिन्दी का 'लोक' शब्द एंग्लो-सैक्शन के शब्द 'फोक' जैसा ही है। इसमें लोक-गीत लोक-वाद्य तथा लोक-नृत्य तीनों का समावेश है। दैनिक जीवन में इनका बहुत ही महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसका रहन-सहन, खान-पान, वेश-भूषा इत्यादि से अटूट सम्बन्ध है। जैसे-जैसे समाज विकसित होता गया, वैसे-वैसे मानव की भावानुभूतियों के सूक्ष्म स्तरों का भी विकास हो गया। शनै-शनै: लोक-संगीत में पृथक्-पृथक् प्रदेशों में मनुष्यों की प्रकृति, बोलचाल तथा सभ्यता की विभिन्नता के कारण विविध आने लगी। सभी प्रदेशों में उसी स्थान की ग्रामीण बोलियों में ही लोक-गीत गाए जाते थे। वर्तमान समय में भी यही स्थिति बनी हुई है।

दृश्य काव्य कला के अंतर्गत ही नाटक आता है। नाटक में अभिनय एवं रंगमंच दोनों का होना अनिवार्य है। वास्तव में अभिनय तथा रंगमंच दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं, अर्थात् पारस्परिक रूप से सम्बद्ध नाटक मुख्यत: सृजनात्मक कलाओं में से एक है। सृजनात्मक कला से अभिप्राय नाटक के लिखित रूप से नहीं, बल्कि उसके अभिनीत रूप से है। नाटक की सार्थकता प्रस्तुतीकरण और निर्देशक की भूमिका पर निर्भर होती है। नाटक रंगमंच पर अभिनीत होकर ही पूर्णता को प्राप्त करता है। नाटक निर्देशक एवं रंग-शिल्पी सभी का प्रयास मुख्यत: अभिनेता के सृजन कार्य को अधिकाधिक प्रभावशाली एवं सक्षम बनाने के लिए होता है। दूसरी ओर भारतवर्ष में अभिनय की प्रतिभा लिए असंख्य

अभिनेता है। व्यावसायिक एवं अर्द्ध-व्यावसायिक दोनों प्रकार के उत्साही अभिनेता भारतीय रंगमंच को अपनी अभिनय कला से समृद्ध कर रहे हैं। अभिनेता जिस चरित्र को मंच पर अभिनीत करता है, यदि वह उसको सही अर्थों में जीता है, तभी दर्शक उसके अभिनय की महत्ता को समझ पाते हैं।

'ऋग्वेद' में नर्तकी और 'यजुर्वेद' में सूत्रा, सैलूषकारी (विदूषक) इत्यादि के उल्लेख से यह साफ हो जाता है कि प्राचीनकाल में भी नृत्य तथा नाट्य का महत्त्व किसी-न-किसी रूप में अवश्य था, जो निरन्तर विकास की दिशा में अग्रसर होता गया और विदेशी सम्पर्क में अपना परिष्कार करता गया। भारत की यह पुरानी विरासत आज भी अपना अहम् स्थान बनाए हुए है और जनमानस को निरंतर आन्दोलित कर रही है। भारतीय रंगमंच को विरासत में अनेक नाट्य-रूप मिले हैं, जिनका विकास अनेक रूपों में आगे चलकर हुआ। इस तरह नाट्य कला के कुछ प्रमुख भाग वर्णित हैं, जो निम्न हैं–

1. लोक-नाट्य।
2. नृत्य-नाट्य।
3. भारतीय संगीत नाटक।

लोक-नाट्य

लोक-नाट्य का सदा जनसाधारण से सम्बन्ध रहा है। लोक-नाटक सर्वसाधारण के रंगमंच का आवश्यक भाग है। समय-समय पर आवश्यकतानुसार इनका रूप बदलता रहा है। लोक-नाट्य हमारे रंग जीवन का अनन्य महत्त्वपूर्ण रूप है। **नेमिचन्द्र जैन** के शब्दों में, ह्लोक-नाट्य हमारे नाट्य-परम्परा की एक मूलभूत कड़ी है, क्योंकि वह कई प्रकारों और रूपों में संस्कृत नाटक के बाद मध्यकालीन नाट्य-परम्परा का ही निरन्तरण है।"

मुख्यत: प्रत्येक भाषाओं के गम्भीर और जागरूक रंग-कर्मियों ने अनेकानेक कारणों से यह अनुभव किया है कि इस देश में रंगमंच के विकास में लोक-नाट्य परम्परा किसी-न-किसी रूप में सम्भवत: उपयोगी सिद्ध हों। पूरे भारतवर्ष में आज भी यात्रा, नौटंकी, स्वांग, मंच, भंवर, तमाशा, दशावतार, जैसे–यश-गान, झांकियां, नाटक, रासलीला, रामलीला जैसे विभिन्न स्तर के लोक-नाट्य होते हैं। नि:सन्देह समस्त लोकप्रिय नाट्यों में ऐसी कुछ सामान्य मान्यताएँ हैं, जो समाज को एकसूत्र में बांधती हैं और सम्मिलित रूप में उन्हें एक व्यक्तित्त्व भी प्रदान करती हैं, अर्थात् व्यक्तित्त्व उभारने का अवसर देती हैं। समाज को पुरानी

परम्पराओं से जोड़ती है। पुरातन काल की परम्पराओं से वर्तमान समाज को अवगत कराती है।

इन सभी नाट्य-रूपों की विषय-वस्तु और कथानक एक ओर तो मुख्यत: पौराणिक, धार्मिक और ऐतिहासिक स्रोतों से प्रमाण मिलते हैं तथा दूसरी ओर देखा गया है कि अपने-अपने क्षेत्र की तत्कालीन सामाजिक परिस्थितियों से सम्बन्धित हैं।

इन सभी नाट्य रूपों में बहुत कुछ संस्कृत नाटकों की कथागत, स्थानगत एवं रूपगत रूढ़ियों का निर्वाह मिलता है। परन्तु बहुत से लोक-नाट्यों की कथा का विकास इसी प्रसंग से सम्बन्धित संस्कृत नाटक जैसा ही है। रंग-रचना की दृष्टि से भी बहुत-सी बातें मिलती-जुलती हैं। ये सभी नाटक खुले रंगमंच (स्टेज) पर होते हैं। देश के भिन्न-भिन्न भागों के लोक-नाट्यों में आमतौर पर सामान्य विशेषताएँ मिलती-जुलती हैं। फिर भी धीरे-धीरे नाटक और रंगमंच के कलात्मक स्वरूप प्रभाव और सम्भावना में लगातार परिवर्तन हो रहे हैं। नाटकों ने सदियों से समाज को आनन्द और दक्षताओं को विकसित करने का अवसर प्रदान किया है। भिन्न-भिन्न कलाओं ने मानवाभिव्यक्ति को व्यक्त करने का रुचिकर अवसर प्रदान किए हैं। भारत देश की लोक-नाट्य परम्परा बहुत ही विविधातपूर्ण एवं समृद्ध है। इसमें एक ओर जहाँ संस्कृत घटक तथा रंगमंच के बहुत से तत्त्व अवशिष्ट हैं, वहीं दूसरी ओर सदियों से उसने देश की लोकधर्मी नाट्य-चेतना और रुचि को अपने भीतर संजोया हुआ है और जनसाधारण का मनोरंजन किया है। इसमें नाट्य-रचना और रंग प्रथा की ऐसी बहुत-सी पद्धतियां, रूढ़ियाँ तथा मान्यताएँ हैं, जो मूल रूप से कभी पुरानी नहीं पड़ती, अर्थात् उनका मूलरूप नहीं बदलता और जिनमें किसी भी देश तथा काल का रंगधर्मी प्रेरणा ले सकता है। लोक-नाटकों की विशेषताओं की रचना पुरानी होते हुए भी नयापन लिये हुए है। इससे प्राचीन को नवीनता में परिवर्तित करने का अवसर मिलता है। परम्पराएँ सर्वदा पीढ़ी-दर-पीढ़ी चलती रहती हैं। देश के जनसाधारण की रंगमंच चेतना को उजागर करने में लोक-नाटक बहुत ही लोकप्रिय हो रहे हैं। लोक-नाटकों से कला एवं दक्षताओं को विकसित करने में मदद प्राप्त होती है।

नृत्य-नाट्य (बैले)

संस्कृत शब्द नृता (अभिनय) नृत (नाच) शब्द से उत्पन्न हुआ है, जो नाट्य-कला से सम्बन्धित है। नृत-नाट्य में पूरी कहानी (विषय) मंच पर केवल

नृत द्वारा प्रस्तुत की जाती है। नृत या अभिनय या मूल संकेतों द्वारा नृत्य-नाटक में पूरी कहानी मूक होकर केवल नृत्य द्वारा ही प्रस्तुत की जाती है। इसमें नृत्य और वादन दो अंगों का ही समावेश होता है। इसमें संगीत नहीं होता। वे एक शब्द को भी अपने मुख से उच्चारित नहीं करते। नृत्य अथवा अभिनय में मूल संकेतों द्वारा आन्तरिक भावनाओं व भावों को स्पष्ट करने का सफल प्रयास किया जाता है। जैसे–कृष्ण लीला, सपेरा-नृत्य, सावन की हरियाली, हरेली दृश्य, नृत्य-नाटकों द्वारा दिखाए गए हैं।

यहाँ पश्चिमी नृत्य-नाट्य की तुलना में भारतीय नृत्य-नाट्य काफी पुराने हैं। भारतीय नृत्य-कला भावों से ओतप्रोत है और इसमें अभिनय तथा हस्तों की भाषा है। पश्चिमी नृत्य-नाट्य आंखों एवं हस्तों की भाषा को नहीं जानता। भारतीय नृत्य-नाट्य की जड़ें पौराणिक और धार्मिक गाथाओं में है और इनमें गहन आध्यात्मिकता है। **नेमिचन्द्र जैन** लिखते हैं–'नृत्य-नाट्य या बैले हमारे देश के लिए नया नाम है और एक प्रकार से यह परिकल्पना भी नई है। भारतीय रंग-परंपरा में कथाबद्ध नृत्य या संगीत नाटक या उसके दूसरे नामों से सम्मानित होता रहा है। कुंखजी नाटक बैले या नृत्य-नाट्य नाम उदयशंकर या उनकी प्रेरणा एवं प्रभाव में बनी कथाबद्ध नृत्य रचनाओं को दिया जाता रहा है। इस प्रकार नृत्य-नाटक को अब दो रूपों में विभक्त किया जाने लगा है–एक, परम्परा और दूसरा, आधुनिक परम्परागत नृत्य-नाटकों में कथकलि का स्थान सबसे महत्त्वपूर्ण है। कथकलि नृत्य-नाट्य मूलतः एक उत्कृष्ट शास्त्री नृत्य-परम्परा में आन्ध्र का कुचिपुडी नृत्य नाट्य, कर्नाटक का यशगान नृत्य-नाट्य, तमिलनाडु भागवत मेल तथा कंवरजी नृत्य-नाट्य उल्लेखनीय है। कथकलि नाट्यशास्त्रीय नृत्य-परम्परा के रूप में अग्रसित हो रहा है। निःसन्देह ये सब नृत्य-नाट्य रोचक एवं महत्त्वपूर्ण हैं, जिनके संरक्षण और परिसंस्कार प्रदर्शन का स्थान अधिक प्रमुख है।

वर्तमान काल में जीवन को प्रदूषणरहित करने और जीवन की अभिव्यक्ति को व्यक्त करने के लिए ऐसे नए नाट्य-रूपों के विकास की विशेष रूप से आवश्यकता है, जो देश की परम्परागत पद्धतियों के विभिन्न सूत्रों को नवीनता के साथ जोड़ सके तथा उसके द्वारा आधुनिक जीवन के भाव-बोध की प्रत्यक्ष सीधी अनुभूति को रूपांतरित किया जा सके। बैले–एक नवीनतम शैली को रवींन्द्रनाथ ठाकुर के नृत्य-नाटक की प्रेरणा तथा शुरूआत माना जाता है। इस विषय में **बलवन्त गार्गी** जी का कहना है, 'रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने अपने जीवन के अन्तिम बीस वर्ष

में 912-41 नृत्य-नाटक लिखें, उन्हें संगीतबद्ध किया और उनका मंच पर प्रदर्शन भी किया है।

सही रूप में नृत्य-नाटय की प्रेरणा इस सदी के तीसरे दशक में उदयशंकर जी ने दीया। नाटककार, साहित्यकार उदयशंकर ने यूरोप में बैले का अध्ययन किया। बैले के आधार पर भारतीय नृत्य परम्परा में बैले बनाने का प्रयास किया। उन्होंने नृत्य-नाटक की एक नई शैली विकसित की, जिसमें भारत की शास्त्रीय तथा लोक-नृत्य परम्पराओं और पश्चिमी बैले पद्धति का समन्वय था। इस नृत्य-नाटक के माध्यम से आधुनिक जीवन के यथार्थ (वास्तविकता) को अभिव्यक्त कर सकते हैं।

समय-समय पर नृत्य नाटक को आधुनिकता के तौर पर प्रदर्शित करने की कोशिश की गई नृत्य-नाटक में आधुनिक यथार्थ। को स्पष्ट करने की विशेषता है। नाटक समृद्धि, आनन्द और प्रसन्नता का प्रतीक है, जिसमें समाज की वास्तविकता को स्पष्ट किया जाता है। इसके लिए आज आवश्यकता है–हमारे नृत्य और नाट्य-चिन्तकों में सुस्पष्ट चिन्तन और साहसपूर्ण मार्गदर्शन की।

भारतीय संगीत नाटक

भारत के प्रमुख नाट्य-प्रकारों में मुख्य रूप स्थान भारतीय संगीत नाटक का से रहा है। **बलवन्त गार्गी** जी का कहना है–"शताब्दियों से संगीत हमारे जीवन के हर कार्य पर छाया रहा है। बीजने-काटने में संगीत है। पीसने और छानने के लोग आवाज लगा-लगाकर और गा-गाकर चीजें बेचते हैं।" भारतीय संगीत परम्परा बहुत पौराणिक एवं धार्मिक है। प्राचीनकाल से संगीत को जीवन की खुशियों और आनन्द का आधार माना गया है। कोई भी उत्सव होता है तो संगीत नाटक के माध्यम से प्रस्तुत किया जाता है। जन्मोत्सव हो या विवाहोत्सव मनुष्य खुशी से झूमने लगता है। महिलाएँ एवं पुरुष मिलकर संगीत नाटक के माध्यम से प्रसन्नता जाहिर करते हैं। नृत्य और संगीत दोनों आकर्षक, मनमोहक अलग-अलग कलाएँ हैं, परन्तु नृत्य और संगीत को सामूहिक रूप से प्रदर्शित करने से इनका महत्त्व एवं आकर्षण बहुत बढ़ जाता है। नृत्य संगीत और वाद्यों के समावेश से यह सर्वश्रेष्ठ कला सिद्ध हो रही है, जो मानव की संवेदना तथा अभिव्यक्ति को झकझोर देती है।

भारत में संगीत मूलक गेय नाटक का अभाव नहीं, बल्कि सम्पूर्णत: गेय नाटकों के यहाँ बहुत से प्रकार प्रचलित है। यथा-यशगान, स्वांग, नौटंकी,

रासलीला, रामलीला, मवई, नाच, तमाशा, यात्रा आदि सम्पूर्णतः लोक-नाट्य एवं अंश रूप से संगीत मूलक नाटक है। संगीत नाट्य में कहानी के पात्रों का पारस्परिक संघर्ष और नाटक के भाव की अभिव्यक्ति केवल संगीत के माध्यम से होती है। साहित्यकार और कथावाचक गांवों की चौपाल या धर्मशाला में बैठकर प्राचीन वर्णनात्मक काव्य-गाथाओं को गाकर उनमें नाटकीय अंश उसी प्रकार व्यक्त करते हैं, जिस प्रकार चित्रकार रंग और ब्रुश के माध्यम से तथा मूर्तिकार शिला-पत्थर के माध्यम से। उसी प्रकार संगीत नाट्य का माध्यम केवल गायन (संगीत) ही है।

भारत के पुराने रंग-परम्परा संगीत नाटकों से युक्त होने के कारण यथार्थवादी रंगमंच की स्थापना की गई और उन्मुख होने के कारण भारतीय नाटककारों का ध्यान पिछले कुछ वर्षों से ही भारतीय संगीत नाटकों की ओर गया है। संगीत मूलक नाटक की रचना अथवा नाटक के प्रयोग के प्रयास में भी बार-बार भारतीय गीत नाटक को अपने निजी प्रकारों से किसी रचनात्मक सार्थकता और आधुनिक संवेदनशीलता के स्तर तक ले जाने का प्रयास नहीं किया गया। यहाँ तक कि संगीत नाटकों को जीवन्त आधुनिक रंगमंच का अंग बनाने की दिशा में भी अधिक प्रयत्न नहीं हो सका।

19वीं सदी तक भारत में संगीत नाट्य का प्रचलित रूप विदित नहीं था। अमानत (नाम) के इन्द्र सभा में ज्ञानियों और गीतों का मनोहर सुयोग नाट्य था। वर्तमान हिन्दी नाटकों की नींव यहीं से पड़ी और यही से संगीत मंच का चित्र उभरना प्रारम्भ हो गया। बीसवीं शताब्दी के पूरे दशक तक गीत भरे नाटक का विकास मूक नाटक से भिन्न रूप में हुआ। फिर धीरे-धीरे अनेक संगीत नाट्य लिखे और प्रस्तुत किए गए। **बलवन्त गार्गी** जी का कहना है-"जिस प्रकार नृत्य लिपिकारगण हमारे लोक-नृत्यों से बहुत कुछ ग्रहण कर रहे हैं, ऐसे संगीत नाटकों की उन्नति के लिए यह आवश्यक है कि संगीत की लोक-धुनों के भण्डार को अपनी कल्पना का स्थान समझकर प्रयोग में लाया जाए, इससे संगीत नाट्य भी अपने लिए वह स्थान बना सकेगा, जो नृत्यों-नाट्य ने बनाया है।"

हमारे देश में लोक-सम्पर्क विभागों की स्थापना की गई है। पूरे देश में जिला स्तर तब लोक-सम्पर्क विभाग स्थापित किए गए हैं, जो देश की लोक-कला और सृजनात्मक क्रियाओं के विकास में एवं प्रचार में सहयोग दे रहे हैं। लोक सम्पर्क विभाग अनेक उत्सवों, आयोजनों पर नृत्य-कला, संगीत

नृत्य-कला, अभिनय कला का प्रदर्शन करके विभिन्न कलाओं के विकास में अनूठा योगदान है।

इस तरह लोक-कलाओं का मानव जीवन में बहुत महत्त्व है। लोक-कलाओं द्वारा स्वतन्त्र रूप से सामान्य लोगों को अभिव्यक्ति व्यक्त करने का अवसर मिलता है। मोनो-एक्टिंग माइम, अभिनय, नाटक, नृत्य-नाटक, संगीत-नाटक, लोक-नाटक इत्यादि सृजनात्मक क्रियाओं की दक्षता से ही मानव का विकास हो सकता है।

नुक्कड़ नाटक

आजादी के बाद जनवादी मंच शिथिल पड़ने लगा। जन नाट्य मंच के रंग-निर्देशक उत्पल दत्त, बलराज साहनी आदि और रंगकर्मी एवं अभिनेता फिल्मों में चले गए। इसके परिणामस्वरूप 1960 तक जन नाट्य मंच के रंगमंचीय सांस्कृतिक क्रियाकलाप बंद हो गए। लेकिन जन नाट्य मंच ने जो सामाजिक न्याय की चेतना जगाई थी, वह समाजवादी राजनीतिक संगठनों के विकास के नये-नये रूपों में प्रकट होती रही। देश में भुखमरी, गरीबी, शोषण और अन्याय के खिलाफ जनता में असंतोष तो था ही विद्रोह के स्वर भी मुखरित होते रहे। हड़ताल और प्रदर्शन भी होता था। इसी चेतना के परिप्रेक्ष्य में बीसवीं सदी के सातवें दशक में नुक्कड़ नाटकों का नया रंग-प्रयोग शुरू हुआ।

शिक्षित-अशिक्षित जनता को जगाने-झकझोरने और सोचने-समझने के लिए नुक्कड़ नाटकों की भूमिका काफी सराहनीय रही। परंपरागत रंगमंचीय प्रस्तुतियों से अलग नुक्कड़ नाटक एक नया रंग प्रयोग था। इस शैली के नाट्य प्रदर्शन के लिए किसी प्रेक्षागृह की जरूरत नहीं थी। किसी प्रकार की साज की भी आवश्यकता नहीं थी। रोजमर्रा की स्थानीय जिन्दगी की विडंबनाओं, विसंगतियों और अंतर्विरोधों को सामने रखना इस तरह के नाटकों का लक्ष्य था। अभिनय में शरीक होने वाले पात्र जिस वेश में होते उसी वेश में अभिनय में भाग लेते। उनका रंगमंच तो झुग्गी-झोंपड़ी के बीच कोई खाली जगह, कस्बा या नगर का कोई नुक्कड़ या चौराहा या गांव की चौपाल, स्कूल का मैदान या कॉलेज का लॉन कुछ भी हो जाता था। नुक्कड़ नाटक मंडली के किसी एक अभिनेता की आवाज या पुकार पर भीड़ इकट्ठी हो जाती, दर्शक एक घेरा बना देते। नाटक शुरू हो जाता। दर्शकों से घिरा कोई पात्र संवाद शुरू करता। लोगों को लगता अरे! यह तो मेरे बीच का ही कोई पात्र है। वे यह भी महसूस करते कि

यह तो हमें भी साझेदारी के लिए यह उत्साहित करता है। दर्शक भीड़ में आते-जाते रहते हैं। इस तरह परंपरागत रंगमंचीय साधन-प्रसाधन और किसी भी साज-सज्जा के बगैर खुले स्थान में सम्पन्न होने वाला नाट्य व्यापार नुक्कड़ नाटक काफी प्रसिद्ध हुआ।

नुक्कड़ नाटक में किसी स्थानीय मुद्दे को लक्ष्य कर नाटक रचे जाते हैं। साथ ही उसे वे व्यापक सामाजिक-राजनीतिक विडम्बनाओं और विसंगतियों पर कटाक्ष करने का आधार बनाते हैं। समसामयिक जीवन की अनुचित अमानवीय और अन्यायपूर्ण घटना को नुक्कड़ नाटक के नाटककार केन्द्र बनाकर उस पर कटाक्ष भरी टिप्पणी करते हैं। भाषा हास्य-व्यंग्य की रहने एक नई मानवीय सोच जगाने में कामयाबी के साथ-साथ उससे लोगों का मनोरंजन भी होता है। हम देखते हैं कि रोज ही कुछ न कुछ बेतुका घटित होता रहता है। कहीं धार्मिक अंधविश्वास के कारण तो कहीं राजनीतिक दाँव-पेच के कारण, कहीं आर्थिक घोटाला तो कहीं अमानुषिक अत्याचार। ये हमारे जीवन को प्रभावित करते हैं। इसी यथार्थ को नाटकीय ढंग से नाट्यधर्मी प्रस्तुत करते हैं। नुक्कड़ नाटक में जाति-पांति, ऊंच-नीच, सांप्रदायिकता, दहेज, भ्रष्टाचार और हर तरह के शोषण के खिलाफ आवाज उठाई गई।

शिल्प का आधार तो लोक नाट्यों की नृत्य गान प्रधान ही होती है, लेकिन उसमें आलोचनात्मक टिप्पणी प्रधान संवाद रहने से इसमें एक नया आयाम जुड़ जाता है। इसे ब्रेख्ट की नाट्य प्रदर्शन शैली से लिया गया है। यही इसकी शैली का एक मौलिक पक्ष भी है। सामूहिक गीत की शैली में सामाजिक-राजनीतिक व्यवस्था पर टिप्पणी करना वर्तोल ब्रेख्ट के एपिक रंगमंच का एक महत्त्वपूर्ण अंग है। ब्रेख्ट ने समूहगान की जिस प्रकार से राजनीतिक-सामाजिक व्यवस्था पर आलोचनात्मक टिप्पणी के लिए प्रयोग किया, उसी का अनुकरण नुक्कड़ नाट्य प्रेमियों ने भी अपना लिया। इसीलिए सामान्य लोक-नाटक से नुक्कड़ नाटक अधिक गंभीर और सार्थक रंगकर्म प्रतीत होता है।

भारतीय रंगमंच के क्षेत्र में नुक्कड़ नाटक के रंग प्रयोग का श्रेय बादल सरकार को है। 'जुलूस', 'हत्यारे', 'औरत', 'मशीन', आदि प्रसिद्ध नुक्कड़ नाटक हैं। आज तो लगभग सभी प्रमुख नगरों में नुकड़ नाटक प्रदर्शित होते हैं। जनता को अपने जीवन परिवेश के प्रति सजग करने में नुक्कड़ नाटकों के प्रदर्शन का योगदान सराहनीय है।

जनवादी नाटक

ग्राम्यजीवन का स्तर ऊंचा करने के उद्देश्य से साम्यवादी चेतना का रंगमंचों पर भी प्रभाव पड़ा। समसामयिक जीवन की सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक आदि समस्याओं को नाटक का कथानक बनाया जाने लगा। ऐसे यथार्थवादी नाटकों की एक शाखा, जो राजनीतिक स्तर पर मार्क्सवादी विचारधारा के प्रतिबद्ध थी, जनवादी नाटक कहा जाने लगा। 1942-43 में इस विचारधारा से जुड़े विचारकों और कलाकारों ने जन नाट्य संघ (इप्टा - इंडियन पीपुल्स थियेटर एसोसिएशन) की स्थापना की।

जनवादी नाटकों का मूलत: लक्ष्य था साम्राज्यवादी और पूंजीवादी नीतियों का घोर विरोध करना। संकीर्णता की सभी सीमाओं को तोड़ते हुए सम्पूर्ण पिछड़े जनसमाज को साथ लेकर चलना इनका अभीष्ट था। सत्ताधारी राजनीति की गतिविधि से उत्पन्न विभीषिकाओं का चित्रण कर लोगों को सचेत करना जनवादी नाटककारों का लक्ष्य था। ये समस्याओं की केवल ऊपरी सतह पर ही नहीं बल्कि गहराई में जाकर विवेचन करते थे। जनता को आकृष्ट करने के लिए वे लोक मुहावरे, लोकगीत, लोकनृत्य और लोक कथा का सहारा लेते थे।

मार्क्सवादी विचारधारा में जिसे सर्वहारा वर्ग कहा गया है, उसी के लिए यहां 'जन' शब्द का प्रयोग हुआ। जन नाट्य संघ के कलाकारों ने हिंदी, बंगला, मराठी, गुजराती और अन्य भारतीय भाषाओं में लोगों के बीच जनवादी चेतना जगाने के लिए नाट्य प्रदर्शन स्थानीय भाषा में करते रहे। शुरू में इस नाटक संघ का मुख्य उद्देश्य दूसरे विश्वयुद्ध का विरोध प्रदर्शन था। हिटलर का अधिनायकवाद सर्वहारा वर्ग के हितों का विरोधी था। इसी उद्देश्य से सरवालकर कृत नाटक "दादा" और जाफरी कृत नाटक "यह खून किसका है "जन नाट्य मंच द्वारा मुंबई में खेला गया। बाद में इस मंच द्वारा ऐसे नाटक प्रस्तुत किए गए जिनमें सर्वहारा वर्ग के शोषण के मार्मिक चित्र प्रकट थे। इनका उद्देश्य था लोगों में व्यवस्था के खिलाफ जनाक्रोश जगाना। 1944 में बंगाल के मानव निर्मित अकाल ने इस नव चेतना के लिए उर्व, भूमि प्रदान की।

जन नाट्य मंच के अधिक सार्थक नाटक बंगला मे साहित्य में ही रचे गए। विजन भट्टाचार्य के नाटक "जबानबन्दी" और "नवान्न" ने इस तरह के सृजन को गति प्रदान की। इनके अनुकरण पर हिंदी, मराठी, गुजराती आदि में भी इसी ढर्रे पर नव लेखन का सिलसिला चला।

कुछ महत्त्वपूर्ण नाटक

सज्जाद जहीर कृत "तूफान से पहले"–1946 में इस नाटक को उपेन्द्र नाथ अश्क में निर्देशन में खेला गया।

ख्वाजा अहमद अब्बास कृत "मैं कौन हूं?"–1947 में इस नाटक की रचना हुई।

राजेन्द्र सिंह बेदी कृत "नकले मकानी", "जादू की कुर्सी (1948)

हबीब तनवीर कृत : "शतरंज के मोहरे", आगरा बाजार

विश्वामित्र कृत : "दखन की रात" (1949)

सर्वेश्वर दयाल सक्सेना : बकरी

आजादी के बाद के जनवादी नाटककारों ने बंटवारे के समय की सम्प्रदायिक अमानवीयता को अपने नाटकों का विषय बनाया। भीष्म साहनी कृत "भूत गाड़ी" इस दौर का बहुचर्चित हिंदी जनवादी नाटक है।

हिंदी जन नाट्य मंच ने मुंशी प्रेमचंद के उपन्यासों और कहानियों का रूपांतर करके पर प्रस्तुत किया। जनवादी मंच पर 'गोदान', 'सेवासदन', 'कर्मभूमि', 'कफन', 'ईदगाह', 'सवा सेर गेहूँ' का सफल मंचन किया गया। राजेन्द्र सिंह रघुवंशी ने नाट्य रूपांतर तैयार किया।

उत्पलदत्त के नाटकों "पीरअली'' और "प्लानिग" का भी हिंदी जन नाट्य मंच के रंगकर्मियों ने जगह-जगह मंचन किया। जन नाट्य मंच पर अभिनीत नाटकों में अधिकांश की कोई विधिवत पांडुलिपि नहीं होती थी। लेखक प्रदर्शन के लिए नाटक का एक काम चलाऊ ढ़ाँचा तैयार कर देते थे, रंग निर्देशक और अभिनेता उसमें अपने ढंग से रंगभर कर प्रस्तुत करते थे। 'इप्टा' ने नाटक की विषयवस्तु और अभिनेताओं की क्षमता पर बल देकर, बिलकुल सादे काले परदे के सामने नाटक करके, यांत्रिक और दिखावटी सज्जा के मोह पर पहला तीव्र आघात किया। 'इप्टा' के नाटक साधनहीनता के बावजूद, अपने कथ्य और तात्कालिकता, सार्थकता तथा गंभीरता के बल पर प्रभावी हुए।

जन नाट्य मंच की प्रदर्शन शैली लोक नाट्य की प्रदर्शन के काफी करीब थी इसलिए इसमें माटी के अभिनय की गंध मिलती थी। इसने न्यायमूलक नवचेतना को जगाया। नई मानवीयता की दृष्टि को आगे बढ़ाया। हालाकि मार्क्सवाद से प्रतिबंधित राजनीतिक चेतना के कारण इसे व्यापक स्वीकृति नहीं मिली और 1960 तक आते-आते इस रंगमंच के क्रियाकलाप लगभग समाप्त हो

गए, फिर भी नया नाटक लेखन की समाजोन्मुखी धारा को प्रभावित करने में इसका काफी योगदान है। दशरथ ओझा कहते हैं, "यदि जनवादी नाटक ग्रामीण जीवन के भिन्न वर्गों में कलह के स्थान पर सौमनस्य स्थापित करने का मार्ग निकाल पाता तो इसका भविष्य उज्ज्वल होता। महान नाट्य कृतियां समाज को विश्रृंखल नहीं करतीं अपितु जोड़ती चलती हैं (उनका उद्देश्य नैराश्य को दूर कर जिजीविषा उत्पन्न करना होता है।'

विसंगत नाटक

नया नाटक के बाद की धारा विसंगत नाटक की है। नये नाटक में लोक ग्राह्यता की तुलना में व्यक्तिगत विशेषता को ज्यादा महत्त्व दिया गया। नये नाटककार का व्यक्ति चरित्र के आंतरिक द्वन्द्वों और उलझनों को चित्रित करने की ओर झुकाव अधिक था। कुछ नाटककारों ने समाज की समस्या और व्यक्ति के आंतरिक उलझनों को जोड़ने का प्रयास भी किया। उदाहरण के लिए हम जगदीश चन्द्र माथुर के 'कोणार्क' और धर्मवीर भारती के 'अन्धा युग' को ले सकते हैं। किन्तु आगे के नाटककार विसंगत के ढ़र्रे पर अस्तित्त्वखोजी व्यक्ति चरित्रों की दिशाहीन क्रियाओं को प्रस्तुत करने के नए-नए प्रयोग करने में लग गए। इन नाटककारों ने मनुष्य के आचरण, व्यवहार या अभिव्यक्तियों का एक ऐसा गड्ड-मड्ड संसार प्रस्तुत किया है, जो दिशाहीन होने की व्याकुलता की ही संवेदना भरता है। जीवन के किसी सकारात्मक प्रवाह का संकेत नहीं देता है। मूल्यहीनता की दिशाहीन दुनिया में भटकने के लिए ही दर्शक को छोड़ दिया जाता है। अस्तित्त्व की खोज किसी सार्थक क्रांति के तहत नहीं की गई है। नाटककार की नाट्य सृष्टि ऐसी लगती है, जैसे हर स्तर पर स्तब्ध विवशता का बोध ही आज के मनुष्य की नियति है।

पश्चिम में बेकट का "वेटिग फॉर द गोदो" एब्सर्ड नाटक के रूप में काफी चर्चित हुआ था। इस तरह के नाटक में जीवन की विसंगतियों, अंधविश्वासों, ऊल-जलूल प्रसंगों को प्रदर्शित कर जीवन को ग्रस्त करने वाली दिशाहीनता का गहरा अहसास कराया जाता है।

हिंदी में भुवनेश्वर के "ऊसर" और "तांबे के कीड़े" एकांकियों में देखने को मिलता है। विपिन कुमार अग्रवाल का नाटक "कूड़े का पीपा", "लोटन", "राष्ट्र सम्राट", "अपने देश में', "मौत एक कुत्ते की", बृजमोहन शाह के नाटक "त्रिशंकु", "शह-ए-मात", मोहन राकेश के नाटक "मैड डिलाइट", "छतरियाँ",

मुद्राराक्षस के नाटक "तिलचट्टा", "मरजीवा", शरद जोशी के नाटक "अंधों का हाथी", मणि मधुकर का नाटक "खेला पोलमपुर", लक्ष्मीकान्त वर्मा कृत : अपना-अपना जूता, ललित सहगल कृत : हत्या एक आकार की, आदि कुछ बहुचर्चित विसंगत नाटक हैं।

नये नाटक के अस्तित्त्व खोजी चरित्र इसी आंतरिक संकट को मूर्त रूप में सामने लाते हैं। चाहे किर्केगार्द का धार्मिक विश्वास के कारण हो, चाहे सार्त्र के मानव-प्रकृति के स्वातंत्रय के कारण हो, अस्तित्त्ववादी दर्शन यह तो मानता ही है कि आज के जीवन में व्यक्ति की अस्मिता का संकट है। अस्तित्त्ववादी समान रूप से यह मानते हैं कि मानव जीवन के विकास का ढोंग करने वाले सारे आधारों-विज्ञान, तकनीकी विकास, ईश्वर, धर्म और नीति के प्रचलित प्रतिमान, समाज विकास की आर्थिक-राजनीतिक व्यवस्थाएं आदि से आज के व्यक्ति का विकास जैसे पूरी तरह उठ गया है। वह अपने को एक शून्य में निराधार अनुभव करने लगा है। कटुता और नैराश्य से भरकर, परंपरा से मिले सब प्रकार के आधारों से निरपेक्ष होकर वह एक प्रयोगधर्मी रूप से अस्मिता को खोजना चाहता है। चरित्रों के आचरण का धर्मी प्रयोग रूप किसी भी प्रचलित आदर्श से संचालित न होने के कारण विसंगति-व्यंजक होता है या दिशाहीन सा ज्ञात होता है। इस प्रकार, अस्तित्त्ववादी दर्शन से प्रेरणा लेकर जो नाट्य सृजन हुआ उसे विसंगत नाटक (एब्सर्ड नाटक) कहा गया। हिंदी का नया नाटक भी इसी वैचारिक पृष्ठभूमि में रचा जाने लगा। आठवें दशक में इस प्रवृत्ति की ओर झुकाव अधिक हुआ।

दूसरे विश्वयुद्ध के बाद के पश्चिमी जीवन में जो यथार्थ उभर कर सामने आया, उसे अस्तित्त्ववादी दर्शन के प्रकाश में रचनाकार समझने का प्रयास करने लगे। उन्हें ऐसा लगा कि न ही कहीं कोई कथानक है, न ही कोई नायक है, न व्यवस्था है, न कोई निश्चित मूल्य ही है, न ही आत्म-सम्मान शेष है। यही बोध पश्चिम के प्रयोगधर्मी या विसंगत नाटकों और हिंदी के नए नाटकों में ढाला जाने लगा।

इस बोध ने शैली शिल्प के स्तर पर हिंदी के नए नाटककार को पश्चिम के सभी प्रचलित रंग प्रयोगों से, चाहे वह ब्रेख्ट की महाकाव्यात्मक रंग प्रणाली हो, चाहे व्यक्ति समस्याओं को मूर्तमान करने वाली विसंगत नाटक की रंग पद्धति हो, -- सबसे तत्त्व ग्रहण कर अपने नाटकों का सृजन करने के लिए प्रेरित किया। ब्रेख्ट की वाद्य, नृत्य, गान भरी अभिनय प्रणाली और विसंगत नाटक की

प्रतीकात्मक प्रस्तुतीकरण प्रणाली, दोनों शैलियों को हिंदी के नए नाटककारों मे अपनाया। किसी एक विशेष रंग शैली का ही शुरू से लेकर अंत तक अनुकरण हिन्दी नाटककारों ने नहीं किया। हिन्दी का नया नाटक, इस तरह से अपने ढंग का प्रयोगधर्मी रंगमंच विकसित करने में समर्थ हुआ। फिर भी विसंगत नाटक के शैली शिल्प और संवेदना से वह अधिक प्रभावित हुआ है।

विसंगत नाटक का पतन क्यों?

दशरथ ओझा के अनुसार एब्सर्ड थियेट्रिकल नाट्य-कृतियों में कई ऐसी मूलभूत भूलें थीं, जो उनकी अकाल मृत्यु का कारण बनीं। ऐसे नाटककारों ने जल्दबाजी में आकर वैज्ञानिक सिद्धांतों का विरोध किया। एब्सर्ड नाटककारों का मानना था कि मनुष्य और उसका भाग्य सदा बदलता रहता है, और उसमें न तो कोई उद्देश्य होता और न उसका कोई पैटर्न है। ऐसे नाटककार गलत विचारों के पोषण में कल्पना शक्ति का दुरुपयोग करते रहे। विसंगत कहानियों के अनुचित प्रयोगों से उन भ्रान्त विचारों की पुष्टि की। उनमें जीवनदायिनी दृष्टि का अभाव था। यह कोई जीवन संदेश देते ही नहीं जिनको स्वीकार अस्वीकार करने का सोचा जा सके। इनका कोई पात्र ऐसा नहीं जिसके साथ सहानुभूति दिखाई जा सके। विचारों की कंगाली, पुनरावृत्ति की अनन्तता, आत्मघाती नाटकीय आविष्करण एब्सर्ड नाटक के विध्वंसक सिद्ध हुए। एब्सर्ड थियेटर की प्रशंसा और प्रसिद्धि का कारण थियेटर की अपनी विशेषताएं नहीं थीं। समय ही ऐसा था कि लोग उस मानसिकता को अंगीकार करने लगे।

इस विवेचन के आधार पर हम कह सकते हैं कि हालाकि आज के जीवन की संपूर्ण अराजकता का कोलाहल इन नाटकों की संरचना और भाषा में पाया जा सकता है फिर भी ये सभी विसंगतिवादी प्रयोग हमारे सांस्कृतिक-वैचारिक दृष्टिकोण से आरोपित और झूठी बौद्धिक मुद्रा के सैलाब हैं। हमारे देश की स्थिति अभी इतनी पतली और निचुड़ी हुई नहीं है कि हम सब इन अनुकरणात्मक प्रयोगों का साथ दे सकें। भारतीय नाटकों में गहरी हताशा का अंधेरा हमारे जीवनदर्शन के अनुकूल नहीं है। भारतीय दृष्टि में निराशा-पराजय एक संचारी चेतना है। वह स्थायी भाव-संस्कार कभी नहीं रहा। स्थायी संस्कार तो आस्था का पुनर्लाभ ही है। जीव के मरने से जीवन नहीं मर जाता। हिन्दी-नाटकों का स्वर अस्तित्त्ववादी न रह कर सामाजिक परिवर्तन और आस्थावाद का रहा है।

नया नाटक

हिंदी के नये नाटककार पश्चिम के नाट्य प्रयोगों से बहुत ही प्रभावित हुए। ब्रेख्ट के महाकाव्यात्मक रंगमंच, बेकेट के 'अब्सर्ड' (विसंगत) नाट्य लेखन की शैली, अस्तित्त्ववादी चेतना के नाटक की संवेदना और शिल्प ने इन पर बहुत प्रभाव डाला। प्रभाव क्या कई बार तो यह अनुकरण मात्र लगता है। ऐसा प्रतीत होता है कि अपनी मूलभूमि की समकालीनता को समझने का प्रयास ही नहीं किया जा रहा है। भारतीय यथार्थ के संदर्भ में ये नाटक बहुत अजनबी लगने लगते हैं। अपनी जमीन की संस्कृति से मानों कोई संबंध ही नहीं है। बस ऐसा लगता है कि पाश्चात्य रंग प्रयोगों का अनुकरण ही लक्ष्य हो, इससे शैली शिल्प के स्तर पर अभूतपूर्व प्रयोग किए जाने लगे। फिर भी प्रस्तुतिकरण के स्तर पर हिंदी नाटक बहुत समृद्ध हुआ।

इस काल में हिंदी के नये नाटककार और रंग निर्देशक समकालीन पश्चिमी रंग प्रयोग विज्ञान से बहुत कुछ सीख कर उसे हिंदी नाट्य सृजन और प्रस्तुतियों में अधिकाधिक अपनाने लगे। इन्हें बर्तोल ब्रेख्ट के आक्रोश गर्भित रंगमंच (Angry theatre) और महाकाव्यात्मक रंग-प्रयोग (Epic theatre) आयनेस्को और बेकेट के विसंगत रंग-प्रयोग (Absurd theatre) काफी प्रभावित करते रहे। उस समय का नाटककार, साहित्यकार और नागरिक जिस तरह का अंतर्द्वन्द्व महसूस कर रहा था, उसकी अभिव्यक्ति में पश्चिम की ये रंग-शैलियां बहुत ही सहायक सिद्ध हुईं। एक ओर सामाजिक खिचाव और दूसरी ओर दिशाहीनता के कारण अंतर्द्वन्द्व था। इस अंतर्द्वन्द्व को नाट्यबद्ध करने के लिए नाटककार को पश्चिम के अस्तित्त्ववादी दर्शन से भी प्रेरणा मिली।

नया नाटक अस्तित्त्ववादी दर्शन की वैचारिक पृष्ठभूमि में रचा गया है। इस दार्शनिक चिंतन की दो कोटियां हैं–

धर्ममूलक अस्तित्त्ववाद

धर्ममूलक अस्तित्त्ववाद के प्रवर्तक किर्केगाद थे। इस विचारधारा के अनुसार मनुष्य के जीवन में आज व्यर्थ-बोध समा गया है। इस व्यर्थता-बोध के मूल में आतंक भरा मन मनस्ताप (Anxiety) है। इस आतंक के मूल में नैराश्य है। इस नैराश्य के मूल में धर्मिक विश्वास का बीज अंतर्निहित है।

अनीश्वर मूलक अस्तित्त्ववाद

अनीश्वर मूलक अस्तिववाद के प्रवर्तक सार्त्र थे। सार्त्र ने किर्केगाद के अस्तित्त्ववादी सूत्र के केवल अंतिम शब्द को बदल दिया है। उसने धार्मिक विश्वास की जगह पर व्यक्ति स्वातंत्र्य को रख दिया है। उसने यह माना है कि चुनाव करने की स्वतंत्रता मनुष्य जाति की एक दुखद नियति है। स्वतंत्रता मानव प्रकृति का सहज रूप है। चुनने में स्वतंत्र होना उसकी जीवोचित प्रकृति भी है और आंतरिक संकट को जन्म देने वाली नियति भी है। उसकी इस स्वतंत्र इच्छा शक्ति पर तकनीकी उपकरणों और निरर्थक सिद्ध हो गए प्रचलित सभी आदर्शवादी दर्शनों के आयाचित दबाव ने अस्तित्त्व का संकट पैदा कर दिया है।

जगदीशचन्द्र माथुर और मोहन राकेश संवेदना की नई भूमि पर नए प्रयोग शिल्प के द्वारा नाट्य-लेखन को नया रूप देना शुरू किया। यहीं से नए नाटक लिखने का दौर शुरू हुआ। माथुर जी का 'कोणार्क' और राकेश जी का 'लहरों का राजहंस' और 'आषाढ़ का एक दिन' हिन्दी नया नाटक आधुनिक रूप में परिलक्षित हुए हैं। विगत नाट्य-परंपरा से भिन्न संवेदना और शिल्प के नाटक आजादी के बाद के वर्षों में भी न सिर्फ विकसित होते रहे बल्कि आंतरिकता के जटिल संसार को प्रतिबद्धता के साथ स्थापित करने के कारण गंभीर सर्जनात्मक नाट्य सर्जन से आभासित भी होते रहे। समय के साथ नये नाटक की सृजनशीलता बाह्य यथार्थ के स्थान पर आंतरिक यथार्थ को रूपायित करने की चेष्टा करने लगी। व्यक्ति के गहरे अंतर्द्वन्द्व, उलझाव और भटकाव के माध्यम से वर्तमान जीवन के यथार्थ को अभिव्यक्ति प्रदान की गई। लोक-ग्राह्यता की तुलना में व्यक्तिगत विशेषता को अधिक महत्त्व दिया गया। अस्तित्त्व की खोज के नाम पर मनुष्य के आचरण, व्यवहार या क्रियाओं का एक ऐसा गड्ड-मड्ड संसार प्रस्तुत किया गया, जो दिशाहीन होने की व्याकुलता की ही संवेदना भरता है।

उल्लेखनीय नाम

उपेन्द्रनाथ अश्क : पैंतरे (1952), अंजो दीदी (1954), अंधी गली (1954), बड़े खिलाड़ी

विष्णु प्रभाकर : डॉक्टर, अब और नहीं, युगे-युगे क्रांति

धर्मवीर भारती : अंधा युग (1955),

डॉ. लक्ष्मीनारायण लाल : अंधा कुआं (1955), मादा कैक्टस (1959), सुंदर रस (1959), तीन आंखों वाली मछली (1960), सूखा सरोवर (1960),

रक्त कमल (1962), रातरानी (1962), दर्पन (1963), सूर्यमुख (1968), कलंकी (1969), मिस्टर अभिमन्यु (1971), कर्फ्यू (1972), राम की लड़ाई, नरसिंह कथा, एक सत्य हरिश्चन्द्र आदि।

मोहन राकेश : आषाढ़ का एक दिन (1958), लहरों के राजहंस (1963), आधे अधूरे (1969)।

सुरेन्द्र वर्मा : द्रोपदी (1970), सूर्य की अंतिम किरण से सूर्य की पहली किरण तक, सेतुबध, आठवां सर्ग, छोटे सैयद बड़े सैयद

'अज्ञेय' : उत्तर प्रियदर्शी

ललित सहगल : हत्या एक आकार की

बृजमोहन शाह : त्रिशंकु, शह पे मात

डॉ. शंकर शेष : एक और द्रोणाचार्य, घरौंदा, खजुराहो का शिल्पी, फंदी, बंधन अपने-अपने

रेवतीशरण शर्मा : राजा बलि की नई कथा, अपनी धरती,

दया प्रकाश सिन्हा : कथा एक कंस की, इतिहास चक्र

गिरिराज किशोर : नरमेध, प्रजा ही रहने दो,

सुशील कुमार सिंह : सिंहासन खाली है

मुद्राराक्षस : मरजीवा, तेंदुआ, तिलचट्टा, योर्स फेथफुली, गुफाएं, संतोला,

रमेश बख्शी : वामाचार

मन्नू भंडारी : बिना दीवारों के घर

नरेश मेहता : सुबह के घंटे. खंडित यात्राएं

सर्वेश्वर दयाल सक्सेना : बकरी, लड़ाई, कल भात आएगा, अब गरीबी हटाओ

मृदला गर्ग : एक और अजनबी

कमलेश्वर : अधूरी आवाज

अमृत राय : चिंदियों की एक झालर

भीष्म साहनी : हानुश, कबिरा खड़ा बाजार में

नरेन्द्र कोहली : शंबूक की हत्या,

मणिमधुकर : इकतारे की आंख, बुलबुल सराय, खेला पोलमपुर

शरद जोशी : एक था गधा उर्फ अलादाद खां, अंधों का हाथी

संवेदना और शिल्प का समावेश

स्वाधीनता के बाद हिंदी-गद्य की सर्वांगीण उन्नति हुई। भारत ने गुलामी की जंजीरों को तोड़ कर आजादी की सुखद और स्फूर्तिदायक सांस ली। इसका परिणाम यह हुआ कि गद्य के क्षेत्र में नये आयामों का उद्‌घाटन हुआ। अपने मनोभावों को अभिव्यक्ति देने के लिए सर्वथा नवीन साहित्यरूपों का प्रश्रय लिया जाने लगा। नवनिर्माण पर बल दिया जाने लगा। कथ्य की कलात्मक अभिव्यक्ति के लिए सर्वथा नये प्रतीक, उपमान या बिंब ही प्रयुक्त नहीं हुए, बल्कि फ्लैशबैक, चेतना-प्रवाह आदि शैलियों का भी प्रयोग किया जाने लगा। कथानक को गौण मानने तथा पात्रों का मनोवैज्ञानिक चित्रण करने की प्रवृत्तियों के लेखक मानव-मन के सूक्ष्म से सूक्ष्म संवेदनाओं को अभिव्यक्त करने में सफल हो सके। इस प्रकार जटिल से जटिलतर होते हुए जीवन-यथार्थ की प्रखर चेतनात्मक अभिव्यक्ति मिली। रचनाकार समस्याओं को यथार्थ की जमीन पर ही यथार्थ को देखने, झेलने और रचने को प्रेरित हुए। फलतः प्रचलित साहित्यरूपों की अभ्यस्तता को तिरस्कृत करते हुए नये सहित्यरूप, नयी अभिव्यक्तियां और नयी शैली जन्मी।

हिंदी नाटक भी रंगमंच और यथार्थ से जुड़कर नयी दिशा की ओर उन्मुख हुआ। जगदीशचन्द्र गुप्त और मोहन राकेश ने प्रसाद की नाट्य शैली का अनुकरण करते हुए रंग-शिल्प के नये प्रयोग किए। मंचीय सार्थकता और नयी जटिल जीवनानुभूतियों की नाटकीय रचनात्मकता के लिए इन्होंने संवेदना की नयी भूमियों का उद्‌घाटन किया। इन्होंने ऐतिहासिक और पौराणिक नाटकों में लेखन में नये रंग भरे जिससे 'नया नाटक' लिखने की एक नई शुरूआत संभव हुई। इन्होंने नाटक लेखन को इस तरह से लिया कि नाटक लेखन और रंगमंच के बीच घनिष्ठ रिश्ता कायम हुआ। नाट्य कला में यह एक नया विकास था। संवेदना का स्वर भी आधुनिक बोध के नए स्वरूप को लिए था।

प्रसाद शैली से भिन्नता के कारण इनको हिंदी में नया नाटक या गंभीर नाटक लिखने की शुरूआत करने वाला नाटककार माना गया। धीरे-धीरे इस ढर्रे पर शिल्प और संवेदना से युक्त नाटक लिखने की प्रवृत्ति बढ़ने लगी। और फिर हिंदी में नया नाटक का दौर चल पड़ा। जगदीश चन्द्र माथुर कृत 'कोणार्क' (1951) और मोहन राकेश कृत 'आषाढ़ का एक दिन' (1956), 'लहरों के राजहंस' (1963) में ऐतिहासिक कथानक का आधार तो था, लेकिन शिल्प और

संवेदना का एक बदला हुआ आधुनिक रूप दिखा। इनमें समाज और व्यक्ति के जीवन की आंतरिकता के गहरे और जटिल यथार्थ का नाटकत्व प्रकट हुआ। इनमें मनोवैज्ञानिक गहराई के साथ जीवन के यथार्थ का चित्रण किया हुआ है। एक और विशेषता यह है कि इनमें नाट्य-भाषा और अभिनय के बीच अभिन्न रिश्ता कायम किया गया। हिंदी में रंगमंच लेखन की यह एक नई शुरूआत थी।

साठोत्तर के वर्षों में प्रकृतिवादी यथार्थ पर बल दिया जाने लगा। इस तरह के नाटकों में मनोवैज्ञानिक यथार्थ के केन्द्र से मानवीय रिश्तों और उन रिश्तों की संवेदनात्मक स्थितियों को प्रकाशित किया गया। इस प्रकार स्पष्ट बाह्य यथार्थ से कुछ अलग हटकर व्यक्ति के आन्तरिक यथार्थ का चित्रण करना 'नया नाटक' की एक विशिष्ट प्रवृत्ति बनकर प्रकट हुई।

नया नाटक आजादी के बाद सपनों के क्रमशः टूटने से उपजी विवशता और निराशा की संवेदना का नाटक है। बीसवीं सदी के छठे दशक के मध्य से हम पाते हैं कि शिक्षित जनमानस आंतरिक विघटन और घुटन का अनुभव करने लगा। मानव मन की पलने वाली आशाएं टूटीं। इससे एक मोहभंग की स्थिति पैदा हुई। नयी पीढ़ी में कुंठा, वर्जना, घुटन, संत्रास, निराशाएं और आशंका ने जन्म लिया। उसके पहले कुछ वर्षों तक ऐसी स्थिति नहीं थी। हालांकि विभाजन का दंश और गांधी जी की हत्या कचोटती रही फिर भी आजादी मिलने का हर्ष था, पहली पंचवर्षीय योजना की आंशिक सफलता की खुशी थी। इसलिए सामान्य शिक्षित व्यक्ति अपने को दिशाहीन नहीं समझता था। किंतु साठोत्तर काल तक आते-आते आंतरिक संकट बढ़ गए। रचनाकारों का ध्यान इस ओर गया। इसी आंतरिक संकट को मूर्त करने के लिए नया नाटक का विकास हुआ। आंतरिकता के जटिल संसार को रंगमंचीय प्रतिबद्धता के साथ रूपायित करने के कारण हिंदी का नया नाटक, गंभीर सर्जनात्मक नाट्य सर्जन का आभास देने लगा। (3 जारी 3)

उल्लेखनीय नाटक :

विशेष नाट्यप्रवृत्ति के आधार पर डॉ. गिरीश रस्तोगी ने इस प्रकार वर्गीकरण किया है -

भारतीय रंगतत्त्व अन्वेषक

लक्ष्मी नारायण लाल कृत : सूर्यमुख, एक सत्य हरिश्चन्द्र, मिस्टर अभिमन्यु, दर्पण, अब्दुल्ला दीवाना, सूखा-सरोवर, मादा कैक्टस, अंधा कुंआ, आदि।

गत्यावरोधक विध्वंसक

मोहन राकेश कृत : आषाढ़ का एक दिन, लहरों के राजहंस, आधे-अधूरे

सूक्ष्म सौन्दर्यबोधक

सुरेन्द्र वर्मा कृत : द्रौपदी, सूर्य की अंतिम किरण से सूर्य की पहली किरण तक, आठवां सर्ग।

समकालीन चेतना संकेतक

गिरिराज किशोर कृत : प्रजा ही रहने दो

शैली अन्वेषक

मुद्राराक्षस कृत : मरजीवा, तिलचिट्टा, योर्स फेथफुली

विडम्बना उद्धारक

डॉ. शंकर शेष कृत : एक और द्रोणाचार्य

प्रयोग धर्मी

ज्ञानदेव अग्निहोत्री कृत : शुतुर्मुर्ग
रमेश बख्शी कृत : देवयानी का कहना है, तीसरा हाथी
हमीदुल्ला कृत विसंगत नाटक : उलझी आकृतियां, दरिन्दे, उत्तर उर्वशी।
बृजमोहन शाह कृत : त्रिशंकु

कोकशैली अन्वेषक

सर्वेश्वर दयाल सक्सेना कृत : बकरी

मणि मधुकर

कुछ अन्य महत्त्वपूर्ण नाटक :
ललित सहगल कृत : हत्या एक आकार की
अज्ञेय कृत : उत्तर प्रियदर्शी
दया प्रकाश सिन्हा कृत : कथा एक कंस की
रेवती शरण शर्मा कृत : राजा बलि की नयी कथा

नरेन्द्र कोहली कृत : शम्बूक की हत्या
सुशील कुमार सिंह कृत : सिंहासन खाली है
काशी नाथ सिंह कृत : धोआस

जगदीशचंद्र माथुर का योगदान

सृजनशीलता का नया रूप प्रकट करने वाला नया नाटक संबंधों के आंतरिक यथार्थ की खोज करता है। यह बाह्य यथार्थ की जगह आंतरिक यथार्थ को नाटक में रूपायित करता है। व्यक्ति के गहरे अंतर्द्वन्द्व, उलझाव, भटकाव आदि के माध्यम से वर्तमान जीवन की दशाओं को व्यंजित करता है। शैली शिल्प के स्तर पर इस तरह के नाटक में प्रतीकात्मक प्रस्तुतिकरण की जाती है। इससे नाट्य-वस्तु अधिक व्यंजक और काव्यात्मक स्वरूप ग्रहण करती है। नया नाटककार अधुनिकता व्यंजक संवेदना को व्यक्त करने के लिए मिथकीय या पौराणिक प्रसंगों को नयी तार्किकता के साथ प्रस्तुत करता है।

दूसरे विश्वयुद्ध के बाद पश्चिम में लोगों की मानसिकता ऐसी हो गई थी जिसमें आध्यात्मिक चिंतन और सामाजिक व्यवस्था लोगों को निरर्थक लगने लगा था। मूल्यहीनता, अनास्था, बढ़ते जा रहे थे। जीवन विसंगतियों से भरा लगने लगा था। मानवीय विघटन था। उलझाव और संत्रास से मानव त्रस्त था। आक्रोश व्यंजक ब्रेखट की रंगचेतना संत्रास के सामाजिक या बाहरी चेहरे को मामूली आदमी का संत्रास रूपायित करने लगीं। जबकि दूसरी तरफ अस्तित्त्ववादी और विसंगत नाटककार व्यक्तिविशेष के आंतरिक संत्रास और उलझाव को नाट्यबद्ध करने लगे।

ब्रेख्ट की धारणा पर व्यक्तित्त्वखोजी मानव की झलक सबसे पहले जगदीश चन्द्र माथुर के 'कोणार्क' (1946) में देखने को मिलती है। माथुर जी 1941 बैच के आई.ए.एस. थे। बिहार के हाजीपुर अनुमंडल में एस.डी.ओ. नियुक्त हुए। अपने कर्मशील जीवन के तीस वर्ष उन्होंने वैशाली, नालंदा, मिथिला और मगध के जीर्णोद्धार और पुनर्निर्माण में लगाए। प्रतिवर्ष होने वाले भव्य वैशाली महोत्सव की परिकल्पना उन्हीं की थी। आकाशवाणी के महानिदेशक के तौर पर उन्होंने देश की सभी भाषाओं और कला-साहित्य की प्रतिभाओं को उससे जोड़ा। उन्होंने 'दस तस्वीरें' और 'जिन्होंने जीना जाना' रेखाचित्र की रचना की। 'परम्पराशील नाट्य तथा प्राचीन भाषा नाट्य संग्रह' शोध-प्रबंध लिखा। 12 वर्ष की आयु में 'मूर्खेश्वर राजा' नामक प्रहसन लिखा। 14-15 वर्ष की उम्र में

'लवकुश' और 'शिवाजी' नामक एकांकी की रचना की। 19 वर्ष की आयु में चर्चित 'मेरी बांसुरी' एकांकी की रचना की। इनके एकांकी संग्रह हैं, – 'भोर का तारा' और 'ओ मेरे सपने'।

कुछ समय के लिए इनकी नियुक्ति उड़ीसा में हुई थी। वही इन्होंने 'कोणार्क' की रचना की। इस नाटक में मंचीय सार्थकता और नयी जटिल जीवनानुभूतियों की नाटकीय रचनात्मकता लक्षित होती है। इसमें नायिका नहीं है। नायक सर्वहारा वर्ग का एक श्रमिक है। उसके चरित्र में मामूली न्याय से वंचित सामाजिक अस्तित्त्व के प्रति गहरी चिंता मिलती है। विभिन्न प्रकार के पात्रों, घटनाओं आदि को इसमें इस प्रकार संयोजित किया गया है कि वे विशिष्ट नाटकीय स्थिति में संश्लिष्ट हो उठते हैं। कोणार्क का निर्माण एक गहरे अंतर्द्वन्द्व का परिणाम है, एक प्रकार का उदात्तीकरण है। शिल्पी विशु की रचना की रचना-प्रक्रिया अनेक तरह के अंत:संघर्षों से प्रेरित है-एक विशेष बिन्दु पर पहुँच कर तो परिवेश का संघर्ष अंत:संघर्ष से मिल कर इतना उद्वेलनपूर्ण हो उठा है कि रचयिता विशु अपनी रचना का विध्वंस स्वयं कर देता है। कलाकार का युग-युग से मौन पौरुष, जो सौंदर्य-सृजन के सम्मोहन में अपने को भूल जाता है, कोणार्क के खंडन में फूट निकलता है।

माथुर जी का दूसरा ऐतिहासिक नाटक है 'शारदीया' (1959)। उन्होंने नागपुर के म्यूजियम में पांच गज की एक साड़ी देखी जिसका वजन मात्र पांच तोला था। इसे मराठों और हैदरबाद के निजाम के बीच 1795 में हुए खुर्दा युद्ध में बन्दी बने एक अज्ञात व्यक्ति ने ग्वालियर किले के तहखाने में आजीवन कारावास का दंड भुगतते हुए बुना था। लेखक ने ग्वालियर किले का वह कक्ष देखा और बाहर-भीतर के अंधेरे, अकेलेपन, घुटन और बेड़ियों में जकड़े उस कलाकार तथा उसकी प्रेमिका की सजीव-साकार कल्पना कर डाली। इसका नायक नरसिंह राव अर्ध-ऐतिहासिक पात्र है। प्रेम और सर्जनात्मक प्रक्रिया का प्रश्न इसमें उठाया गया है। इसमें जहां एक ओर भाषा की सरलता है वहीं दूसरी ओर नाटकीय स्थितियों की तीव्रतापूर्वक प्रस्तुति है।

माथुर जी का तीसरा नाटक 'पहला राजा' (1969) है। यह नाटक ऐतिहासिक-पौराणिक पृष्ठभूमि पर आधारित होने पर भी युगीन संदर्भों से जुड़ा है। माथुर जी ने आधुनिक समय की समस्याओं, विसंगतियों और जटिलताओं को अन्योक्ति-नाटक के रूप में प्रस्तुत किया है। नाटक में घटनाओं और पात्रों की

प्रतीकात्मकता काफी प्रभावित करती है। पौराणिक संदर्भ को लेकर उनकी चौथी कृति 'दशरथनंदन' (1974) और पांचवीं कृति 'रघुकुल रीति' (मरणोपरान्त) है।

इन नाटकों में माथुर जी ने अन्तश्चेतना की भूमिका में स्थित तथ्य के अनुसंधान के लिए मनोविज्ञान का संबल ग्रहण किया और तार्किकता का सहारा लिया। इनकी नाट्य-कला में विविध रंग-शैलियों के सार्थक तत्त्वों का रचनात्मक प्रयोग, काव्यात्मकता, भावेश, तरलता, प्रगतिशील दृष्टिकोण, सामाजिक सरोकार और रंग-शिल्प के दिलचस्प प्रयोग दिखाई पड़ते हैं। भारतीय रंग-परंपरा के साथ इन्होंने पश्चिमी त्रासद-तत्त्व का सुन्दर सामंजस्य स्थापित किया।

रंगमंच, परम्परा और प्रयोग

हिन्दी रंगमंच-नाटक का जो रूप स्वरूप, विधान आज हमारे सामने है, वह समय-समय पर हुये परिवर्तन और प्रयोगधर्मिता का ही परिणाम है। रंगमंच के नाटक ने नये आयाम स्थापित कर नये धरातलों को छुआ है, इसमें दो राय नहीं है। किन्तु साथ ही साथ आधुनिक रंगमंच ने कई प्रश्नों को भी जन्म दिया है। विचार नाटक की रीढ़ की हड्डी की तरह होता है। किन्तु प्रयोग के नाम पर हो रहे अधिकतर नाटकों में पिछले वर्षों से विचार ही लुप्त होता जा रहा है। विचार के स्थान पर आज शरीर और उसके संचालन को अधिक महत्त्व दिया जा रहा है। इसका परिणाम यह हो रहा है कि नाटक एकायामी न होकर जटिल और बहुआयामी होता जा रहा है। लगता है आज का नाटककार एक साथ ही बहुत कुछ देना चाहता है और निर्देशक प्रयोग के नाम पर कुछ भी नया कर दिखाने की ललक में एक बिन्दु पर नहीं ठहर पा रहा है।

जहाँ तक नाटकों में प्रयोगधर्मिता का प्रश्न है, परम्परा और प्रयोगधर्मिता के अन्त:संघर्ष ने ही नाटक को नया रूप दिया है। संवेदन और शिल्प ने ही नाटक को बहुरंगी बनाया है। नाटकों के क्रमिक विकास की बात करते हुए यदि हम वैदिककाल की बात करें तो संस्कृत नाटकों में भी प्रयोगधर्मिता के दर्शन होते हैं। वेदों में यम-यमी, पुरुरवा-उर्वशी, अगस्त्य-लोपामुद्रा आदि के जो संवाद सूक्त हैं उसमें नाटकीय कथोपकथन के गुण विद्यमान हैं। नाटकीय प्रयोग से सम्बन्ध रखने वाली अनेक धार्मिक क्रियाओं का उद्‌भव वैदिक कर्मकाण्डों से हुआ है।

नाटक की उत्पत्ति भले ही वैदिक संवाद सूक्तों से हुई हो, किन्तु नाटक ने शरीर पुराणों से पाया है। पौराणिक नाटकों की रचनाओं के मुख्य आधार कहीं धर्म प्रतिपादन, कहीं खेल, कहीं युद्ध, कहीं वध तो कहीं काम का वर्णन रहे

हैं। उस समय के नाटककार चाहे अश्वघोष हों चाहे भास, शूद्रक, भवभूति या कालिदास। उनकी रचनाओं का मुख्य आधार महाभारत की घटनाएँ रही हैं। भास के तेरह नाटकों में से नौ नाटकों का आधार महाभारत अथवा रामायण रहा है। संस्कृत के सर्वश्रेष्ठ माने जाने वाले कालिदास का नाटक 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' हो चाहे, भवभूति का 'उत्तर रामचरित', उनमें अधिकतर रामायण-महाभारत की घटनाओं का नाट्य-रूपान्तर ही किया गया है। समय-समय पर प्रयोग भी किये गये हैं और नाटक के सभी तत्त्व उनमें मौजूद भी रहे हैं। समय के अन्तराल के साथ एक परिवर्तन यह हुआ कि इन नाटकों की स्वाभाविकता लोप होने लगी और इनमें रूढ़वादिता उभरकर सामने आने लगी। नाटकों के संवादों की भाषा पांडित्यपूर्ण होने लगी। दैनिक जीवन की भाषा और नाटक की भाषा की खाई निरन्तर बढ़ने लगी। नाटक आम आदमी से कटकर विशिष्ट वर्ग के लिए रह गया। परिणाम यह हुआ कि संस्कृत नाटकों के रंगमंच का पतन प्रारम्भ हो गया किन्तु संस्कृत के नाटकों ने नाटक की जिन परम्पराओं को जन्म दिया, एक लम्बे समय तक वे परम्पराएँ हिन्दी नाटक को प्रभावित करती रहीं।

पौराणिकता काल स्वरूप और प्रासंगिकता भरत-वाक्य व पूर्व-रंग आदि परम्पराएँ हमारे इन शास्त्रीय नाटकों की ही देन है। ये परम्पराएँ एक लम्बे समय तक चलन में रही हैं और हमारे लीला व लोकनाट्यों में तो यह आज भी विद्यमान है। हमारे लीला नाटकों के प्रसंग महाकाव्यों से लिए गये हैं और हमारी लोकनाट्य शैलियों ने उन महाकाव्यों के उप-प्रसंगों को अपनाया है। इन प्रसंगों के पात्रों की अलौकिकता और उनमें आस्था ही दर्शक का प्रयोजन रहा है। सम्प्रेषण इनका मूल उद्देश्य नहीं रहा है। हमारे लीला नाटकों की तुलना में लोकनाट्य शैलियों में सार्थक प्रयोग किये गये हैं। इनकी प्रस्तुतियों की अगर बात करें तो सम्पूर्ण प्रस्तुति आँगिक अभिनय गायन और संवादों पर आधारित होती है। मंच सज्जा तो होती ही नहीं है। क्योंकि इनका प्रदर्शन किसी भी खुले स्थान पर होता आया है। हाँ, रंगभूषा और रूप-सज्जा इनके प्रदर्शन के सहायक तत्त्व जरूर होते हैं। एक बात और कि इनके आलेख और प्रस्तुति में बडा अन्तर होता है। आलेख बहुत छोटा होता है और प्रस्तुति उससे दस गुना अधिक होती है। क्योंकि इन नाट्यों में उप-प्रसंग बहुत जोड़ दिये जाते हैं। जो हमारे शास्त्रीय नाटकों के पूर्व-रंग की तरह होते हैं। प्राय: सभी स्थानों के लोकनाट्यों में यह प्रयोग किये जाते हैं। जैसे गुजरात का भवाई, महाराष्ट्र विदर्भ का खड़ी गम्मत, बंगाल की जात्र या हमारे राजस्थान की लोकनाट्य शैली गवरी या लोकनाट्य खयाल। इन सभी में पूर्व रंग के रूप

में वेश या स्वांग लाने की परम्परा रही है। मूल नाटक की प्रस्तुति से पहले नाई का वेश, सेठ का वेश, मालिन का वेश या महाराष्ट्र के लोकनायक खड़ी गम्मत में ग्वालिन का वेश। इसी तरह आदिवासी नाट्य शैली गवरी में विभिन्न स्वांग वाले पात्र।

ऐसा भी नहीं है कि इस परम्परा का प्रयोग केवल हमारे देश में ही होता है। पश्चिमी देशों व यूनान में भी यह प्रथा प्रचलन में रही है। पश्चिम में इसे करटेन रेजर के रूप में जाना जाता है तो यूनान में कोरस के रूप में। हमारे नाटकों में जो भूमिका सूत्रधार द्वारा अदा की जाती है वही भूमिका यूनान में कोरस के द्वारा अदा की जाती रही है। हमारे यहाँ सूत्रधार एक या दो होते हैं तो यूनान में कोरस में पूरा नृतकों और गायकों का समूह होता है। यूनानी नाटकों की एक विशेषता यह भी होती है कि उनका दृश्य-विभाजन नहीं होता। अनवरत नाट्य-व्यवहार चलता रहता हैं ऐसा नहीं है कि पूर्व रंग के इस एक प्रकार का प्रचलन नाटक के प्रारम्भ में होता हो-यूरोप में नाटक की अवधि बढ़ाने के लिए नाटक के अंत में आफ्टर-पीसेज जोड़ने की प्रथा भी रही है।

संसार भर में प्रथम महायुद्ध के पश्चात् सभी सृजनात्मक और रचनात्मक विधाओं और मानवीय संवेदनाओं में बहुत बडा परिवर्तन हुआ। 1890 के आसपास के इस समय को हम प्रयोगधर्मी संक्रमण काल भी कह सकते हैं। इसी दौर में परम्पराओं से हटकर आधुनिक रंगमंच के नाटक की नींव रखी गई। यही दौर हमारे प्रयोगधर्मी नाटककार भारतेन्दु जी का काल रहा। इसी काल में हिन्दी के साहित्यिक रंगमंच की स्थापना हुई। यह दौर व्यावसायिक पारसी रंगमंच के उत्कर्ष का भी दौर था। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने व्यावसायिक रंगमंच के भडकीले-रोमांचक प्रदर्शनों के स्थान पर रंगमंच की नई परम्पराओं की शुरूआत की। ना केवल प्रदर्शनों के स्तर पर बल्कि नाटक लिखने की नई परम्पराओं को भी जन्म दिया। उन्होंने अकेले भाषा साहित्य के माध्यम से समाज और राष्ट्र को नई दिशा दी। सदियों से चली आ रही नाटकों की पुरानी परम्पराओं पूर्व रंग, सूत्रधार, यम-यमी, नंदी आदि की प्रथाओं को तोडा। उन्होंने नाटकों की भाषा को सहज और अर्थपूर्ण बनाया। उन्होंने अपने नाटकों व कविताओं में दो भाषाओं का प्रयोग किया-खड़ी बोली और ब्रजभाषा। वे बहुत अच्छे कवि और व्यंग्यकार भी थे। उनके पिता जी गिरधरदास भी लेखक थे। उन्होंने एक नाटक भी लिखा था नहुष। शीर्षक से स्पष्ट है कि अवश्य ही यह नाटक किसी पौराणिक प्रसंग पर आधारित होगा। भारतेन्दु जी ने नाटकों में आम व्यक्ति की त्रासदियों का समावेश किया। लिहाजा

आम आदमी नाटकों से जुड़ता चला गया। वह निर्विवाद सत्य है कि भारतेन्दु जी ने आधुनिक नाटक की नींव रखी।

भारतेन्दु युग के बाद द्विवेदी युग नाटक के विकास की दृष्टि से महत्त्वहीन रहा। इस दौर में कुछ नाटकों के अनुवाद अवश्य हुये और फिर आया प्रसाद युग। जयशंकर प्रसाद जी ने ऐसे नाटकों का सृजन किया, जिनका रंगमंच पर प्रदर्शन सम्भव नहीं था। प्रसाद जी ने अपने नाटकों में बड़ी सुन्दर भाषा शैली का प्रयोग किया। लेकिन उनके नाटक गूढ़ और गम्भीर थे। उनकी गम्भीरता को देखकर उस समय एक प्रश्न उठा था कि नाटक और रंगमंच में कौन श्रेष्ठ है? स्पष्ट है कि रंगमंच के प्रयोग उन नाटकों में नहीं के बराबर थे। उनके नाटक ऐतिहासिक और पौराणिक थे।

किन्तु प्रसाद जी के पश्चात् उपेन्द्रनाथ अश्क ने अपने नाटकों को रंगमंच से जोड़ने का प्रशंसनीय प्रयास किया। उन्होंने अपने नाटकों में मध्यमवर्गीय जीवन की विसंगतियाँ दर्शाते हुए नाटक को आम आदमी तक पहुँचाने का प्रयोग किया। उन्होंने अनेक एकांकी नाटक लिखे जिनका प्रदर्शन सफलतापूर्वक रंगमंच पर किया गया। उनके कुछ नाटकों में वैवाहिक उलझनों का यथार्थवादी मनोवैज्ञानिक चित्रण बडा सुन्दर है।

लेखकीय स्तर पर प्रयोगधर्मिता का एक अनूठा उदाहरण हमको धर्मवीर भारती जी के काव्य-नाटक 'अन्धायुग' के रूप में मिलता है। क्योंकि यहाँ से नाट्य लेखन को एक नया मोड़ मिलता है। 'अन्धायुग' ने पहली बार हिन्दी नाटक में यह स्थापित किया कि काव्य और नाटक का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है और एक श्रेष्ठ नाट्यकृति काव्य का ही एक प्रकार है।

यहाँ मैं थोड़ा रंगमंच से हटकर रेडियो की बात करना चाहूँगा। सन् 1936 में रेडियो अपने अस्तित्त्व में आया। रेडियो ने नाट्य प्रस्तुति और लेखकीय स्तर पर बहुत प्रयोग किये हैं। रेडियो का जिक्र करना यहाँ इसलिए भी आवश्यक है, क्योंकि जिस 'अन्धायुग' नाटक की हम बात कर रहे हैं वह मूलत: रेडियो के लिए ही लिखा गया था। और इसका प्रसारण सर्वप्रथम आकाशवाणी के इलाहाबाद केन्द्र से किया गया। यही नहीं सुप्रसिद्ध नाटककार मोहन राकेश का बहुचर्चित नाटक 'आषाढ़ का दिन' भी मूलत: आकाशवाणी के लिए लिखा गया नाटक है जिसका सर्वप्रथम प्रसारण जालन्धर से किया गया। इसी तरह जगदीशचन्द्र माथुर का क्लासिक नाटक 'कोणार्क' भी मूलत: रेडियो के लिए लिखा गया नाटक है। रंगमंच के कई प्रतिष्ठित नाटककार रेडियो की ही देन हैं।

रेडियो ने उन श्रेष्ठ नाटकों का प्रसारण किया जिनका प्रदर्शन रंगमंच पर संभव नहीं था। उनमें जयशंकर प्रसाद, सेठ गोविन्ददास, डॉ. रामकुमार वर्मा, उदयशंकर भट्ट जैसे प्रसिद्ध नाटककारों के नाटक जैसे 'अजातशत्रु', 'स्कन्दगुप्त', 'जनमेजय का नाग-यज्ञ', 'ध्रुवस्वामिनी', 'राज्यश्री' जैसी रचनाएँ शामिल हैं।

इसी दौर में नेशनल स्कूल ऑफ ड्रामा की स्थापना हुई। संगीत नाटक अकादमी अस्तित्त्व में आई। इप्टा, पृथ्वी थियेटर यूनिट आदि भी अस्तित्त्व में आये। इन्होंने हिन्दी रंगमंच के आधुनिक स्वरूप निर्माण व विकास में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। यह प्रयोगधर्मिता का प्रमुख दौर रहा और इसी दौर ने कई सुप्रसिद्ध आधुनिक नाट्यकारों को दिया। जैसे डॉ. लक्ष्मीनारायण लाल, सुरेन्द्र वर्मा, रमेश बक्षी, सुशील कुमार सिंह, मुद्राराक्षस, शंकर शेष, ज्ञानदेव अग्निहोत्री, सर्वेश्वर दयाल, नरेन्द्र कोहली, बृजमोहन शाह, असगर वजाहत आदि।

राष्ट्रीय स्तर पर चर्चित-इन नाटककारों ने जर्जर विगलित रूढ़ियों पर प्रहार कर यथार्थवादी अभिव्यक्ति के नाटकों की रचना की। प्रयोगधर्मी नाटककार डॉ. लाल के नाटक 'एक सत्य हरिश्चन्द्र', 'मादा कैक्टस', 'कर्फ्यू', 'व्यक्तिगत' आदि। सुरेन्द्र वर्मा के नाटक 'द्रौपदी', 'सूर्य की अन्तिम किरण से सूर्य की पहली किरण तक' आदि इसके उदाहरण हैं। इसी प्रकार रमेश बक्षी का 'देवयानी कहना हैं।' मुद्राराक्षस का 'मरजीवा'-'यौर्स फेथफुली'। शंकर शेष के 'एक और 'द्रोणाचार्य', 'कोमल गांधी', 'फंदी'। हमीदुल्ला के 'दरिन्दे', 'उलझी-आकृतियाँ' 'समय सन्दर्भ।' सर्वेश्वर दयाल सक्सेना का 'बकरी'। ज्ञानदेव अग्निहोत्री का 'शुतुरमुर्ग।' मणि मधुकर के 'रस गंधर्व' और 'बुलबुल सराय' आदि। बृजमोहन शाह का 'त्रिशंकु'-ये सभी नाटक प्रयोगधर्मिता के उदाहरण हैं। कुछ नाटक एब्सर्ड शैली की तर्ज पर भी लिखे गये जिनमें लक्ष्मीकान्त वर्मा का 'रोशनी एक नदी', सत्यव्रत सिन्हा का 'अमृत-पुत्र' शामिल हैं। एब्सर्ड शैली रंगजगत् में बड़े विवाद का कारण रही है। इसके जनक जर्मनी के नाटककार यूगन बेर्थाल्ड फ्रेडरिक ब्रेख्त हैं। 1898 में उनका जन्म हुआ और स्थापित आदर्शों की धज्जियाँ उड़ाने वाला उनका पहला नाटक 'ड्रम्स इन द नाइट' उन्होंने 1922 में लिखा।

एब्सर्ड शैली अलगाव की तकनीक है, जो एलिएनेशन कहलाती है। यह मंच पर संगीत के साथ सूचना देकर केवल नाटक के कार्यव्यवहार को यथार्थ दृश्य के रूप में प्रस्तुत करती है। संवादों को गीतों से अलग कर पाठक के विषय का खरा प्रस्तुतीकरण कर दर्शकों को भावनात्मक बहाव से रोकती है। पाश्चात्य देशों में एब्सर्ड शैली के नाटक भले ही सफल रहे हों किन्तु भावनाप्रधान हमारे

देश में विचार एवं भावहीन नाटक दर्शकों को प्रभावित कर पायेंगे, इसमें संदेह है। आज के पलपल परिवर्तित होते वैज्ञानिक युग में समयानुकूल परिवर्तन और प्रयोग नाटकों की माँग और आवश्यकता है। किन्तु प्रयोग के नाम पर कुछ भी कर दिखाना बेमानी है। प्रयोग की एक सीमा होनी चाहिए। क्योंकि हर वर्ग का दर्शक नाटक के साथ जुड़ा रहता है। उसे यह कहने का अवसर नहीं देना चाहिए–

अपना कहा गर आप ही समझे तो क्या समझे
मजा तब है जब एक कहे और दूसरा समझे।

3

निबन्ध

निबन्ध (Essay) गद्य लेखन की एक विधा है। लेकिन इस शब्द का प्रयोग किसी विषय की तार्किक और बौद्धिक विवेचना करने वाले लेखों के लिए भी किया जाता है। निबंध के पर्याय रूप में सन्दर्भ, रचना और प्रस्ताव का भी उल्लेख किया जाता है। लेकिन साहित्यिक आलोचना में सर्वाधिक प्रचलित शब्द निबंध ही है। इसे अंग्रेजी के कम्पोजीशन और एस्से के अर्थ में ग्रहण किया जाता है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के अनुसार संस्कृत में भी निबंध का साहित्य है। प्राचीन संस्कृत साहित्य के उन निबंधों में धर्मशास्त्रीय सिद्धांतों की तार्किक व्याख्या की जाती थी। उनमें व्यक्तित्त्व की विशेषता नहीं होती थी। किन्तु वर्तमान काल के निबंध संस्कृत के निबंधों से ठीक उलटे हैं। उनमें व्यक्तित्त्व या वैयक्तिकता का गुण सर्वप्रधान है।

इतिहास-बोध परम्परा की रूढ़ियों से मनुष्य के व्यक्तित्त्व को मुक्त करता है। निबंध की विधा का संबंध इसी इतिहास-बोध से है। यही कारण है कि निबंध की प्रधान विशेषता व्यक्तित्त्व का प्रकाशन है।

निबंध की सबसे अच्छी परिभाषा है–

निबंध, लेखक के व्यक्तित्त्व को प्रकाशित करने वाली ललित गद्य-रचना है।

इस परिभाषा में अतिव्याप्ति दोष है। लेकिन निबंध का रूप साहित्य की अन्य विधाओं की अपेक्षा इतना स्वतंत्र है कि उसकी सटीक परिभाषा करना

अत्यंत कठिन है। सारी दुनिया की भाषाओं में निबंध को साहित्य की सृजनात्मक विधा के रूप में मान्यता आधुनिक युग में ही मिली है। आधुनिक युग में ही मध्ययुगीन धार्मिक, सामाजिक रूढ़ियों से मुक्ति का द्वार दिखाई पड़ा है। इस मुक्ति से निबंध का गहरा संबंध है।

ललित अत्री श्री के अनुसार-

नए युग में जिन नवीन ढंग के निबंधों का प्रचलन हुआ है वे व्यक्ति की स्वाधीन चिन्ता की उपज हैं।

इस प्रकार निबंध में निबंधकार की स्वच्छंदता का विशेष महत्त्व है।

आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने लिखा है–

निबंध लेखक अपने मन की प्रवृत्ति के अनुसार स्वच्छंद गति से इधर-उधर फूटी हुई सूत्र शाखाओं पर विचरता चलता है। यही उसकी अर्थ सम्बन्धी व्यक्तिगत विशेषता है। अर्थ-संबंध-सूत्रों की टेढ़ी-मेढ़ी रेखाएँ ही भिन्न-भिन्न लेखकों के दृष्टि-पथ को निर्दिष्ट करती हैं। एक ही बात को लेकर किसी का मन किसी सम्बन्ध-सूत्र पर दौड़ता है, किसी का किसी पर। इसी का नाम है एक ही बात को भिन्न दृष्टियों से देखना। व्यक्तिगत विशेषता का मूल आधार यही है।

इसका तात्पर्य यह है कि निबंध में किन्हीं ऐसे ठोस रचना-नियमों और तत्त्वों का निर्देश नहीं दिया जा सकता जिनका पालन करना निबंधकार के लिए आवश्यक है। ऐसा कहा जाता है कि निबंध एक ऐसी कलाकृति है जिसके नियम लेखक द्वारा ही आविष्कृत होते हैं। निबंध में सहज, सरल और आडम्बरहीन ढंग से व्यक्तित्त्व की अभिव्यक्ति होती है।

'हिन्दी साहित्य कोश' के अनुसार–

लेखक बिना किसी संकोच के अपने पाठकों को अपने जीवन-अनुभव सुनाता है और उन्हें आत्मीयता के साथ उनमें भाग लेने के लिए आमंत्रित करता है। उसकी यह घनिष्ठता जितनी सच्ची और सघन होगी, उसका निबंध पाठकों पर उतना ही सीधा और तीव्र असर करेगा। इसी आत्मीयता के फलस्वरूप निबंध-लेखक पाठकों को अपने पांडित्य से अभिभूत नहीं करना चाहता।

इस प्रकार निबंध के दो विशेष गुण हैं-

(1) व्यक्तित्त्व की अभिव्यक्ति

(2) सहभागिता का आत्मीय या अनौपचारिक स्तर

निबंध का आरंभ कैसे हो, बीच में क्या हो और अंत किस प्रकार किया जाए, ऐसे किसी निर्देश और नियम को मानने के लिए निबंधकार बाध्य नहीं है। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि निबंध एक उच्छृंखल रचना है और निबंधकार एक उच्छृंखल व्यक्ति। निबंधकार अपनी प्रेरणा और विषय वस्तु की संभावनाओं के अनुसार अपने व्यक्तित्त्व का प्रकाशन और रचना का संगठन करता है। इसी कारण निबंध में शैली का विशेष महत्त्व है।

हिन्दी साहित्य के आधुनिक युग में भारतेन्दु और उनके सहयोगियों से निबंध लिखने की परम्परा का आरंभ होता है। निबंध ही नहीं, गद्य की कई विधाओं का प्रचलन भारतेन्दु से होता है। यह इस बात का प्रमाण है कि गद्य और उसकी विधाएँ आधुनिक मनुष्य के स्वाधीन व्यक्तित्त्व के अधिक अनुकूल हैं। मोटे रूप में स्वाधीनता आधुनिक मनुष्य का केन्द्रीय भाव है। इस भाव के कारण परम्परा की रूढ़ियाँ दिखाई पड़ती हैं। सामयिक परिस्थितियों का दबाव अनुभव होता है। भविष्य की संभावनाएँ खुलती जान पड़ती हैं। इसी को इतिहास-बोध कहा जाता है। भारतेन्दु युग का साहित्य इस इतिहास-बोध के कारण आधुनिक माना जाता है।

आधुनिक युग में हिन्दी निबन्ध का उद्‌भव एवं विकास

हिन्दी निबन्ध का जन्म भारतेन्दु-काल में हुआ। यह नवजागरण का समय था। भारतीयों की दीन-दुखी दशा की ओर लेखकों का बहुत ध्यान था। पुराने गौरव, मान, ज्ञान, बल-वैभव को फिर लाने का प्रयत्न हो रहा था। लेखक अपनी भाषा को भी हर प्रकार से सम्पन्न और उन्नत करने में लग गए थे, और सबसे बड़ी बात यह थी कि इस काल के लेखक स्वतंत्र विचारों के थे। उनमें अक्खड़पन और फक्कड़पन भी था। ऐसा युग निबन्ध के बहुत अनुकूल होता है, इसलिए इस युग में जितने अच्छे निबन्ध लिखे गये उतने अच्छे नाटक, आलोचना, कहानी आदि नहीं लिखे गए।

भारतेन्दु युग में हिन्दी निबंध

भारतेन्दु काल के वातावरण और परिस्थितियों से तो आप परिचित ही हैं। उस युग में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, बालकृष्ण भट्ट, प्रतापनारायण मिश्र, बदरी नारायण चौधरी 'प्रेमधन', बालमुकुन्द गुप्त, राधाचरण गोस्वामी जैसे प्रमुख निबन्धकार हुए।

भारतेन्दु जी के निबन्ध भी अनेक विषयों पर हैं। 'काश्मीर कुसुम' 'उदयपुरोदय', 'कालचक्र', 'बादशाह दर्पण'-ऐतिहासिक, 'वैद्यनाथ धाम', 'हरिद्वार', सरयू पार की यात्रा': विवरणात्मक, 'कंकण स्तोत्र': व्यंग्यपूर्ण वर्णनात्मक और 'नाटक', 'वैष्णवता और भारतवर्ष' विचारात्मक निबन्ध हैं। भारतेन्दु सबसे अधिक सफल हुए अपने व्यंगात्मक निबन्धों में। 'लेवी प्राणलेवी', 'स्वर्ग में विचार-सभा का अधिवेशन', 'पाँचवें पैगम्बर', 'अंग्रेज स्त्रोत', कंकड़ स्तोत्र' आदि में गजब का हास्य-व्यंग्य है ही 'सरयू पार की यात्रा' में भी भारतेन्दु अपने व्यंग्य का बढ़िया नमूना उपस्थित करते हैं। जैसे: वाह रे बस्ती। झक मारने बसती है। अगर बस्ती इसी को कहते हैं, तो उजाड़ किसे कहेंगे?

इनके निबन्धों की भाषा स्वच्छ और श्लेषपूर्ण है। कहीं-कहीं तो उर्दू की बढ़िया शैली भी आपने उपस्थित की। भाव और विचार की दृष्टि से युग की वे सभी विशेषताएं इनमें भी हैं, जो भट्ट जी या प्रतापनारायण मिश्र में हैं।

बालकृष्ण भट्ट अपने समय के सर्वश्रेष्ठ निबन्धकार कहला सकते हैं। इन्हें हिन्दी का 'मान्तेन, कहा जाता है। भट्ट जी ने सभी प्रकार के निबन्ध लिखे। 'मेला-ठेला', 'वकील': वर्णनात्मक, 'आंसू', 'चन्द्रोदय', 'सहानुभूति', 'आशा माधुर्य', 'खटका': भावात्मक 'आत्म-निर्भरता', 'कल्पना-शक्ति', 'तर्क', और 'विश्वास': विचारात्मक निबन्ध हैं। 'खटका', 'इंगलिस पढ़े तो बाबू होय', 'रोटी तो कमा खाय किसी भांति', 'मुछन्दर', 'अकल अजीरन राग' आदि निबन्धों में मस्ती, हास-परिहास, विनोद-व्यंग्य सभी कुछ है। ऐसे निबन्धों की भाषा चलती और दैनिक व्यवहार की है। भट्ट जी की भाषा विषय के अनुकूल और अपने समय में सबसे अधिक मंजी हुई सबल और प्रभावशाली है। समाज, व्यक्ति, जीवन, धर्म, दर्शन, राष्ट्र, हिन्दी: सभी विषयों पर आपने लिखा। जन-साहित्य को जन-भाषा में लिखने वालों में प्रतापनारायण मिश्र का नाम सर्वप्रथम आएगा। इनके व्यक्तित्त्व और निबन्धों में निराला आकर्षण है। लापरवाही, चुभता व्यंग्य, गुदगुदीभरा विनोद इनकी रचनाओं की विशेषताएँ हैं। इस युग में इतनी चुलबुली भाषा लिखने वाला और कोई नहीं हुआ। यह 'ब्राह्मण' नामक पत्र निकालते थे, जिसमें इनके निबन्ध छपते थे। छोटे-छोटे विषयों पर इतने बढ़िया, मनोरंजन और उच्च उद्देश्य को लेकर किसी लेखक ने नहीं लिखा। 'नाक', 'भौंह', 'वृद्ध', 'दांत', 'पेट', 'मृच्छ' आदि विषयों को लेकर आपने अपने निबन्धों में मनोरंजन का सामान भी जुटाया और देश-प्रेम, समाज-सुधार, हिन्दी के प्रति प्रेम, स्वाभिमान, आत्म-गौरव का

सन्देश भी दिया। इनकी शैली में घरेलू बोलचाल की शब्दावली तथा पूर्वी बोलियों की कहावतों और मुहावरों का प्रयोग मिलता है। लापरवाही के कारण भाषा की अशुद्धयाँ रहना साधारण बात है। 'आत्मीयता', 'चिन्ता', 'मनोयोग' इनके विचारात्मक निबन्ध हैं।

प्रेमघन जी अपने निरालेपन के लिए याद किए जाते हैं। उनका उद्देश्य यह नहीं था कि उनकी बात साधारण समाज तक पहुँचे, उसका मनोरंजन हो या उसके विचारों में परिवर्तन हो। कलम की करामात दिखाना ही उनका उद्देश्य था। वह स्वाभाविक, प्रवाहमय, सुबोध भाषा नहीं लिखते। बल्कि शब्दों की जड़ाई करते थे। भाषा बनावटी होते हुए भी उसमें कहीं-कहीं विवेचन की शक्ति पायी जाती है। आप 'नागरी नीरद' और 'आनन्द कादम्बिनी' नामक पत्र निकालते थे। इन्हीं में उनके निबन्ध छपा करते थे। इनके शीर्षक उनकी भाषा-शैली को प्रकट करते हैं, जैसे सम्पादकीय, सम्पत्ति सीर, हास्य, हरितांकुर, विज्ञापन और वीर बधूटियां। 'हमारी मसहरी' और 'हमारी दिनचर्या' जैसे मनोरंजक लेख उन्हीं के लिखे हुए हैं। 'फागुन', 'मित्र', 'Rrq-वर्णन उनके अच्छे निबन्ध हैं।

बावमुकुन्द गुप्त इस युग के अन्तिम और सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण निबन्धकार थे। 'शिवशम्भू' के नाम से 'भारतमित्र' में वह 'शिवसम्भू' का चिट्ठा' लिखा करते थे। हास्य-व्यंग्य के बहाने 'शिवशम्भू का चिट्ठा नाम से पुस्तक रूप में प्रकाशित हुए। उनका व्यंग्य शिष्ट और नागरिक होता था। भाषा मिली-जुली हिन्दी-उर्दू। राधाचरण गोस्वामी को भी इस युग के प्रगतिशील लेखकों में गिना जाएगा। 'यमपुर की यात्रा' में उन्होंने धार्मिक अंधविश्वास का बहुत मजाक उड़ाया है। धार्मिक विचारों के लोग गाय की पूंछ पकड़कर वैतरणी पार करते हैं। इसमें कुत्ते के पूंछ पकड़कर वैतरणी पार कराई गई है। पहले ऐसी बात सोचना घोर पाप समझा जा सकता था।

भारतेन्दु-काल के निबन्धकारों की विशेषताएँ हैं: निबन्धों के विषयों की विविधता, व्याकरण-सम्बन्धी लापरवाही और अशुद्धयां, देशज या स्थानीय शब्दों का प्रयोग, शैली के विविध रूप और विचार-स्वतन्त्रता, समाज-सुधार, देश-भक्ति, पराधीनता के प्रति रोष आत्म-पतन पर खेद, देशोत्थान की कामना, हिन्दी-सम्मान की रक्षाभावना, हिन्दू, पर्व-त्यौहारों के लिए उत्साह और नवीन विचारों का स्वागत। निबन्ध की एक विशेष शैली भी इस युग की विशेषता है: 'राजा भोज का सपना' (शिवप्रसाद सितारे हिन्द), एक अद्‌भुत अपूर्व स्वप्न (भारतेन्दु) एक

अनोखा स्वप्न (बालकृष्ण भट्ट), यमपुर की यात्रा (राधाप्रसाद गोस्वामी): इन रचनाओं में स्वप्न के बहाने राजनैतिक अधिकार पाने, समाज सुधार तथा धर्म-संस्कार का संदेश दिया गया है।

द्विवेदी युग में हिन्दी निबंध

भारतेन्दु-युग के बाद द्विवेदी-युग आता है। भारतेन्दु-युग गद्य-साहित्य के बचपन का समय था। बचपन में लापरवाही, खिलवाड़, विनोद, मनोरंजन, मुग्धता, चंचलता रहती है। किशोर अवस्था में थोड़ी जिम्मेदारी, समझदारी, शिक्षा, नियम-पालन, साज-संवार, स्थिरता आ जाती है। इसी अवस्था में प्रतिस्पर्धा की भावना भी जागती है। अन्य साथियों की शिष्टता, शील, ज्ञान, आत्मसम्मान आदि को देखकर उनके समान ही हम भी गुण विकसित करना चाहते हैं। यही बात भारतेन्दु युग के संदर्भ में समझनी चाहिए। भारतेन्दु-काल में साहित्य तो बहुत लिखा गया था, पर भाषा की भूलें साधारण बात थी। निबन्ध के विषय भी साधारण हुआ करते थे। इस युग में इन अभावों की ओर विशेष ध्यान दिया गया। इस काल के निबन्धों का आरम्भ दो अनुवाद-पुस्तकों से हुआ। महावीर प्रसाद द्विवेदी ने अंग्रेज लेखक बेकन के निबन्धों का अनुवाद 'बेकन-विचार-रत्नावली' के नाम से, गंगा प्रसाद अग्निहोत्री ने मराठी लेखक चिपलूणकर के निबन्धों का अनुवाद प्रकाशित कराया। लेकिन यहाँ यह बात ध्यान रखने की है कि द्विवेदी-युग का निबन्ध-साहित्य भारतेन्दु-युग के निबन्ध-साहित्य के समान सम्पन्न नहीं है। महावीर प्रसाद द्विवेदी, माधव प्रसाद मिश्र, अध्यापक पूर्णसिंह और चन्द्रधर शर्मा गुलेरी इस युग के प्रमुख निबन्धकार हैं। गोविन्द नारायण मिश्र, पद्मसिंह शर्मा और श्यामसुन्दरदास का नाम दूसरी श्रेणी में लिया जा सकता है।

द्विवेदी-युग में महावीर प्रसाद द्विवेदी का नाम सबसे पहले आता है। अपने युग के यह आचार्य थे। आचार्य का काम होता है शिक्षा देना, ज्ञान-वर्द्धन कराना, समाज पर नया संस्कार डालना और सुधार करना। ये सब काम इन्होंने किये, इसलिए यह आचार्य कहलाए और इनके नाम पर ही इस काल का नाम द्विवेदी-युग रखा गया। अपने निबन्धों और समालोचनाओं के द्वारा सबसे मुख्य काम इन्होंने भाषा-सुधार का किया। 'किंकर्तव्य' नामक निबन्ध में यह लिखते हैं: 'कविता लिखने में व्याकरण के नियमों की अवहेलना नहीं करनी चाहिए। शुद्ध भाषा का जितना मान होता है, अशुद्ध का नहीं होता। जहां तक सम्भव हो,

शब्दों का मूल रूप न बिगाड़ना चाहिए। मुहावरे का विचार रखना चाहिए। क्रोध क्षमा कीजिए, इत्यादि वाक्य कान को अतिशय पीड़ा पहुँचाते हैं।' इस अवतरण से इनके भाषा सम्बन्धी विचार स्पष्ट हो जाते हैं।

द्विवेदी जी ने सभी प्रकार के निबन्ध लिखे। 'कवि और कविता' 'प्रतिभा', 'साहित्य की महत्ता' इनके विचारात्मक निबन्ध हैं। 'लोभ', 'क्रोध' 'संतोष': भावात्मक, 'हंस का क्षीरनीर विवेक', 'जापान में पतंगबाजी', 'हजारों वर्ष पुराने खंडहर' और 'प्रताप सुषमा': वर्णनात्मक हैं और 'हंस-संदेश' तथा 'नल का दुस्तर दूत-कार्य': विवरणात्मक। यहाँ यह बात ध्यान रखने की है कि इनके निबन्धों में जानकारी अधिक रहती हैं, इनकी रचनाओं को पढ़कर ऐसा लगता है कि एक आचार्य शिष्य-मण्डली को पढ़ा रहा है।

माधवप्रसाद मिश्र भारतीय संस्कृति, धर्म-दर्शन, साहित्य कला के सच्चे उपासक थे। इनका अपना व्यक्तित्त्व था। यदि ये किसी को भारतीय और प्राचीन साहित्य का गौरव घटाने का प्रयत्न करते हुए पाते थे, तो उनकी आलोचना करते थे। आचार्य द्विवेदी और श्रीधर पाठक की भी उन्होंने निर्भय आलोचना की थी। इनकी भाषा निर्दोष, साफ-सुथरी, विषयानुकूल, व्यंग्यात्मक और प्रभावशाली है। संस्कृत का प्रभाव उन पर स्पष्ट है। इनके लिखे 'धृति', 'क्षमा', 'श्री वैष्णव सम्प्रदाय', 'काव्यालोचना', 'वेबर' का भ्रम': विचारात्मक और 'सब मिट्टी हो गया': भावात्मक निबन्ध हैं। भारतेन्दु युग की यह परम्परा मिश्र जी के निबन्धों के साथ ही समाप्त हो गई।

अध्यापक पूर्णसिंह इस युग के सबसे प्रमुख, भावुक और विचारक निबन्धकार हैं। इससे अधिक गौरव की बात और क्या होगी कि इन्होंने केवल छः निबन्ध लिखे और फिर भी अपने समय के श्रेष्ठ लेखक माने गए। उनमें से प्रमुख हैं 'मजदूरी और प्रेम', 'आचरण की सभ्यता', और 'सच्ची वीरता'। अध्यापक जी के निबन्धों में प्रेरणा देने वाले नए-नए विचार हैं। इनकी भाषा बड़ी ही शक्तिशाली है। उसमें एक खास बाँकपन है जिससे भाव का प्रकाशन भी निराले ढंग से होता है। विषय भी ऐसे नए कि अब तक किसी को सूझे ही नहीं। साथ, ही इनमें भावुकता का माधुर्य भरा है। वीरता, आचरण, शारीरिक परिश्रम का जो महत्त्व उन्होंने समझाया, उसको ठीक समझा जाए तो आज धर्म का नया रूप सामने आ जाए। समाज में क्रांति हो जाए, मनुष्य और सारा देश उन्नति के शिखर पर पहुँच जाए। ''जब तक जीवन के अरण्य में पादरी, मौलवी, पंडित और साधु-संन्यासी, हल कुदाल और खुरपा लेकर मजदूरी न करेंगे तब तक उनका

आलस्य जाने का नहीं।'' 'मजदूरी और प्रेम' का यह उद्धरण कितना महान् संदेश देता है। भाषा की लाक्षणिकता इनकी विशेषता है।

चन्द्रधर शर्मा गुलेरी भी स्वतंत्र विचारों के लिए प्रसिद्ध हैं। निबन्ध इन्होंने भी थोड़े ही लिखे। इनकी रचनाओं में भी जीवन को उठाने की प्रेरणा और नए विचारों का खजाना मिलता है। संस्कृत के महापण्डित होते हुए भी पुरानी लकीर पीटने वाले ये नहीं थे। प्राचीन धार्मिक कथाओं की ये वैज्ञानिक और बुद्धसम्मत व्याख्या करते थे। 'कछुआ धर्म' नामक निबंध भी गम्भीर तर्कपूर्ण, प्रभावशाली, विचार-प्रधान शैली इनकी विद्वता और तर्क-कुशलता का सुन्दर उदाहरण है।

गोविन्दनारायण मिश्र का नाम उनकी विचित्र अलंकारपूर्ण संस्कृत शब्दावली से लदी काव्यमय और बनावटी शैली के लिए लिया जा सकता है। आपको याद होगा भारतेन्दु-काल में 'प्रेमघन' जी भी इसलिए याद किए जाते हैं।

प्रसाद-युग में हिन्दी निबंध

प्रसाद युग हिन्दी साहित्य का स्वर्ण काल है। क्या कविता, क्या गद्य दोनों का विकास इस काल में ऊँचे शिखर पर पहुँचा। कहानी, उपन्यास, नाटक, निबन्ध, आलोचना सभी का खूब विकास हुआ। वर्णन और विवरण प्रधान निबन्धों की रचना बहुत कम हुई, विचारात्मक और भावात्मक की अधिक। इन दोनों प्रकार के सर्वश्रेष्ठ निबन्ध इसी युग में लिखे गए। विचारात्मक निबन्धकारों में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और भावात्मक निबन्धकारों में डॉ. रघुवीर सिंह, सिरमौर हैं। गुलाबराय, वासुदेवशरण अग्रवाल, शांतिप्रिय द्विवेदी, माखनलाल चतुर्वेदी, वियोगी हरि और रायकृष्णदास का नाम भी उल्लेखनीय है।

गुलाबराय जी के सामने द्विवेदी-युग का सारा साहित्य-भण्डार था। इनके साहित्य का बहुत कुछ रंग द्विवेदी-युग का रहा। यह निबन्धकार पहले हैं, आलोचक बाद में। 'फिर निराशा क्यों? 'मेरी असफलताएं', 'अंधेरी कोठरी' इनके निबन्ध संग्रह हैं। 'मेरी असफलताएं' आत्मपरक या वैयक्तिक व्यंग्यात्मक निबन्धों का संग्रह है। शेष दोनों संग्रहों में विचारात्मक निबन्ध हैं। अन्तिम संग्रह मनोवैज्ञानिक निबन्धों का है। आपकी भाषा बड़ी सरल और सुबोध होती है। विचारात्मक और मनोवैज्ञानिक निबन्धों तक में भाषा या भाव की उलझन नहीं मिलेगी।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का निबन्ध-संग्रह 'चिन्तामणि' भारतीय साहित्य में ही नहीं, विश्व-साहित्य में महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। विचारात्मक निबन्धों में

शुक्ल जी के निबन्ध सर्वश्रेष्ठ हैं। इनमें विचारों की बारीकी और गंभीरता, भावों की मनोवैज्ञानिकता, भाषा का गठन और उसकी शक्ति आदि आदर्श हैं। 'चिन्तामणि' में 'क्रोध', 'ईर्ष्या', 'लोभ और प्रीति', 'उत्साह', 'श्रद्धाभक्ति', 'भय', 'करुणा', 'घृणा', 'लज्जा' और 'ग्लानि' आदि विषयों पर लिखे निबन्ध मानसिक भावों, वृत्तियों और विचारों से सम्बन्ध रखते हैं। 'कविता क्या है?' 'साधारणीकरण और व्यक्तिवैचित्र्य' साहित्यिक व्याख्या और विश्लेषण सम्बन्धी हैं और 'तुलसीदास का भक्ति मार्ग', 'मानस की धर्म-भूमि' आदि साहित्य-समीक्षा-सम्बन्धी। 'मित्रता' और 'प्राचीन भारतीयों का पहरावा' परिचयात्मक वर्णनात्मक निबन्ध हैं।

मनोभावों या चित्तवृत्तियों का विवेचन करते हुए वे राजनीति, समाजनीति, धर्म, पारस्परिक व्यवहार आदि पर भी यह अपने मौलिक विचार प्रकट करते चलते हैं। इन निबन्धों की शैली में लेखक का गहन ज्ञान और गम्भीर व्यक्तित्त्व प्रकट होता है। थोड़े शब्दों में बड़ी से बड़ी बात कहने की शक्ति इनमें है। जो उच्च स्थान इनका आलोचक के रूप में है, वही निबन्धकार के रूप में भी है। लोक मंगल की भावना भी इनके निबन्धों की प्रमुख विशेषता है।

छायावाद-युग के कवियों ने भी कुछ रेखाचित्र, संस्मरण और ललित निबन्धों की सम्मिश्रित विधा में रचनाएं की हैं। ऐसी रचनाओं में महादेवी वर्मा की ये पुस्तकें उल्लेखनीय मानी जाती हैं: 'स्मृति की रेखाएँ', 'अतीत के चलचित्र' तथा 'शृंखला की कड़ियां'। इनके अतिरिक्त गम्भीर विचारपूर्ण निबन्धों के लेखक सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' को भी नहीं भुलाया जा सकता। उनके तीन निबन्ध-संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। 'पृथिवी पुत्र' में आपने एक स्थान पर कहा है: ''विदेशी विचारों को मस्तिष्क में भर कर उन्हें अधपके ही बाहर उंडेल देने से किसी साहित्य का लेखक लोक में चिर जीवन नहीं पा सकता। हिन्दी साहित्यकारों को अपनी खुराक भारत की सांस्कृतिक और प्राकृतिक भूमि से प्राप्त करना चाहिए।'' ये भारतीयता के पुजारी और पक्ष-पोषक थे। 'कला संस्कृति' में प्राचीन और नवीन भारतीय ऋषियों, दार्शनिकों, कवियों और कलाकारों के विषय में निबन्ध हैं। इन्होंने 'समुद्र-मंथन', 'कल्पवृक्ष' आदि की व्याख्या नवीन वैज्ञानिक और मनोवैज्ञानिक ढंग से की है। आपके सभी निबन्ध विचारात्मक हैं।

निबन्ध-लेखकों में शांतिप्रिय द्विवेदी को भी नहीं भुलाया जा सकता। 'संचारिणी', 'सामयिकी', 'पदचिह्न' 'युग और साहित्य', 'परिव्राजक की प्रथा' इनकी पुस्तकें हैं। गांधीवादी नैतिकता और छायावादी भाषा रचनाओं की विशेषता

है। 'धरातल' में आप अपने को समाजवाद का हिमायती बताते हैं। इस संग्रह में जीवन की समस्याओं का भौतिक समाधान खोजा गया है। विचारात्मक और भावात्मक दोनों प्रकार के निबन्ध उन्होंने लिखे हैं। हिन्दी निबन्ध-साहित्य को इनकी देन है इनके वैयक्तिक निबन्ध। इस क्षेत्र में यह अद्वितीय हैं। अपने माता-पिता-बहन के जो चित्र इन्होंने खींचे हैं उनमें करुणा की नमी है और हृदय को स्पर्श करने वाली सच्चाई। इनके ये अनुपम वैयक्तिक निबन्ध 'पदचिह्न' और 'परिव्राजक की प्रथा' में संगृहीत हैं। आप काव्यमय, कोमल-कान्त भाषा का प्रयोग करते हैं।

डॉ. रघुवीर सिंह, माखनलाल चतुर्वेदी, रायकृष्ण दास, वियोगी हरि आदि ने भावात्मक निबन्ध लिखे। रघुवीर सिंह और माखनलाल जी के निबन्ध काफी बड़े हैं, शेष दोनों के बहुत छोटे-छोटे एक-डेढ़ पृष्ठ के। इनके निबन्धों की शैली अन्य निबन्धकारों की शैली से भिन्न हैं: छोटे-छोटे वाक्य, कहीं खण्डित, कहीं अपूर्ण। आश्चर्य, शोक, करुणा, प्रेम का आवेश इसमें उमड़ता-सा दिखता है, ऐसी रचनाओं को हिन्दी गद्यकाव्य का नाम दिया गया है। हम इन्हें निबन्ध मानते हैं। गद्य-काव्य के भीतर तो कहानी, नाटक, उपन्यास, शब्दचित्र, निबन्ध, आलोचना, सभी कुछ सम्मिलित हैं।

रघुवीर सिंह इतिहास के विद्वान हैं। मुगलकालीन घटनाओं, इमारतों, चरित्रों को लेकर इन्होंने 'अतीत स्मृति' और 'शेष स्मृतियाँ' दो पुस्तकें लिखी। वैसे तो इन निबन्धों में वर्णन और विवरण है, फिर भी ये भावात्मक हैं। क्योंकि लेखक ने इनमें वर्णन को महत्त्व नहीं दिया, इनको देखकर अपने हृदय में उठने वाले भावों को ही प्रकाशित किया है।

माखनलाल जी ने विचार-प्रधान निबन्धों को भी भावात्मक शैली में लिखा। 'युग और कला', 'साहित्य देवता', 'रंगों की बोली', 'व्यक्तित्त्व' आदि निबन्ध: कला, साहित्य, चित्रकला और व्यक्तित्त्व विषयों पर हैं, ये विचारात्मक हो सकते हैं। लेकिन विचार भी प्रभावात्मक ढंग से दिये गये हैं। लेखक की मुग्धता, श्रद्धा, करुणा, सहानुभूति ही इसमें प्रकट हुई है।

वियोगी हरि और रायकृष्णदास जी की रचनाओं में भक्ति, प्रेम, विस्मय, पश्चाताप, आत्म-निवेदन, मनोमुग्धता, करुणा, संवेदना आदि अनेक भाव और भावना प्रकट हुई हैं। 'भावना' और 'अन्तर्नाद' वियोगी हरि की और 'साधना' रायकृष्ण दास की पुस्तक है। इन सभी निबन्धकारों ने उर्दू शब्दों का भी यथावसर प्रयोग किया है।

प्रसादोत्तर युग में हिन्दी निबंध

प्रसादोत्तर या प्रगतियुग में निबन्ध-साहित्य ने सबसे अधिक विकास किया। विषयों की संख्या और विविधता की दृष्टि से तो इस युग का मुकाबला ही नहीं। यह युग उथल-पुथल का युग है। दूसरा विश्वयुद्ध हुआ, समाजवादी विचारों का आगमन हुआ। भारत स्वतंत्र होकर विभाजित हुआ। प्राचीन साहित्य, संस्कृति और कला की ओर हमारा ध्यान गया। अनेक आर्थिक एवं सामाजिक समस्याएं भी पैदा हुईं। इन सब बातों की छाया निबन्धों में भी मिलती है। इस युग के चार निबन्धकार विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं– आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, जैनेन्द्र कुमार भवन्त आनन्द कौशल्यायन तथा यशपाल।

कौसल्यायन जी बौद्धभिक्षु थे और समाजवादी विचारों का इन पर बहुत प्रभाव था। निबन्ध तो इन्होंने बहुत नहीं लिखे, पर पृथक् विषय की दृष्टि से इनका महत्त्व है। 'जो न भूल सका' इनके संस्मरणात्मक निबन्धों का संग्रह है, जिनमें सामाजिक विषमता, धार्मिक शोषण, आर्थिक उत्पीड़न के तीखे चित्र हैं। धर्म को यह शोषण का संगठित साधन बताते हैं और अमीरों के भवनों को गरीबों की हड्डियों की ईंटों और खून के चूने से बना मानते हैं। जनवादी लेखक होने से इनकी भाषा सरल है।

प्रगतिवादी निबन्ध-साहित्य में यशपाल बेजोड़ हैं। इनके ये निबन्ध-संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं: 'चक्कर क्लब', 'न्याय का संघर्ष, 'गांधीवाद की शव परीक्षा', 'देखा, सोचा, समझा', 'बात में बात', 'राम-राज्य की कथा' इन सभी पुस्तकों के नामों से भी पता चलता है कि ये समाजवाद के समर्थक ही नहीं, प्रचारक भी हैं। पुरानी परम्पराओं, समाज के ढांचे, धर्म की बुनियादों पर उन्होंने बड़े जोश के साथ वार किए हैं। इनका विश्वास है कि पुराने दर्शन और संस्कृति, मानव की उन्नति में रोड़े हैं। इसलिए इनका विरोध यह निडर होकर करते हैं। वर्तमान समाज में धन के गलत बंटवारे के कारण कोई राजा बन गया और कोई गुलाम। वे कहते हैं कि 'मानव की घृणा', मानव से मानव की शत्रुता, मानव द्वारा मानव का शोषण और अपमान तभी दूर हो सकेगा, जब सबको अपने परिश्रम का फल मिले, विकास का अवसर प्राप्त हो।'' सभ्यता, संस्कृति, कला, साहित्य, समाज सभी के विषय में इन्होंने अपने मौलिक विचार प्रकट किए। विविधता की दृष्टि से इन्होंने हिन्दी निबन्ध-साहित्य को धनी बताया है।

जैनेन्द्र कुमार शुद्ध रूप से विचारक हैं। धर्म, युद्ध, न्याय, राष्ट्रीयता, दान की बात, दीन की बात, पैसा कमाई और भिखाई, गांधीवाद का भविष्य, रोटी का मोर्चा, संस्कृति की बात, उपवास और लोकतंत्र, दु:ख, सत्यं शिवं सुन्दरं, साहित्य की सच्चाई, प्रगतिवाद, जड़चेतन, सम्पादकीय मैटर–इनके इन निबन्धों से विषय की विविधता का तो पता चलता ही है, यह भी पता चलता है कि लेखक समाज, साहित्य, धर्म, राजनीति, जीवन की यथार्थ उलझनों आदि किसी से भी बेखबर नहीं। इनके ये निबन्ध–संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं: 'जड़ की बात', पूर्वोदय', 'जैनेन्द्र के विचार' 'इतस्तत:'। इनके निबन्धों की विशेषताएं हैं: गांधीवाद, नैतिकता, संस्कृति–प्रेम, मौलिक विचार, स्वतंत्रता और सबल, संक्षिप्त गठी हुई शैली। व्यक्तित्त्व और शैली को निबन्ध का प्राण मानें, तो जैनेन्द्र जी एक महान लेखक हैं। भाषा सरल, हाट–घाट–बाट की है, लेकिन उसमें अर्थ गजब का मिलेगा। इनकी शैली के लिए कुछ अवतरण देखिए–

व्यवस्था का दल कागजी है।

काम उसके दफ्तरी है।

मत पता लगने दो कि नीचे जान है।

दिलेरी डर से पैदा होती है।

उस नीयत का मुंह बाहर चाहे न दीखता हो, पेट में छिपी उसकी जड़ है जरूर।

निबन्धकारों में राहुल सांकृत्यायन का नाम भी महत्त्वपूर्ण है। इनके निबन्ध देश–दशा, राजनीति, यात्रा–वृत्तान्त तथा इतिहास को लेकर ही होते है। देश–दशा और राजनीति से सम्बन्धित निबन्धों के एक संग्रह का नाम है: 'तुम्हारा क्षय'। इस संग्रह के सभी निबन्धों का निष्कर्ष यह है कि जो रूढ़िवादी है, जो रास्ता रोककर खड़े हैं, उनका क्षय हो। इनके कुछ संस्मरणात्मक निबन्धों के संग्रह ये हैं बचपन की स्मृतियां, जिनका मैं कृतज्ञ, मेरे असहयोग के साथी, राहुल जी का अपराध आदि। राहुल जी के असली व्यक्तित्त्व और निबन्धकार की आत्मा का यदि दर्शन करना हो तो उनका 'घुमक्कड़ शास्त्र' पढ़ना चाहिए।

राहुल जी जैसी मस्ती और जैनेन्द्र कुमार जैसी शैली की झलक कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर' के निबन्धों में मिलती है। इनके निबन्धों के 6 संग्रह हैं– 'जिन्दगी मुस्कराई', 'आकाश के तारे', 'धरती के फूल', 'दीप जले' 'शंख बजे', 'माटी हो गयी सोना', 'महके आंगन, चहके द्वार' तथा 'बूँद–बूँद सागर लहराया'।

आधुनिक निबन्धकारों में विद्यानिवास मिश्र का नाम उल्लेखनीय है। इन्होंने अधिकतर ललित निबन्ध लिखे हैं। इन निबन्धों में कविता और पाण्डित्यपूर्ण शास्त्र का आनन्द एक साथ मिलता है। इनके तीन निबन्ध संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं: (1) छितवन की छाँह, (2) कदम की फूली डाल तथा (3) तुम चन्दन हम पानी। नये निबन्धकारों में प्रभाकर माचवे, नामवर सिंह, हरिशंकर परसाई, श्रीनिधि सिद्धान्तालंकार, शरद जोशी, श्री लाल शुक्ल आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। प्रभाकर माचवे के निबन्धों के संग्रह का नाम है: 'खरगोश के सींग' और नामवर सिंह का निबन्ध-संग्रह है: बकलम-खुद'। हरिशंकर परसाई के व्यंग्य-विनोदपूर्ण निबन्धों में मस्ती और जान है। 'भूत के पाँव' 'सदाचार का ताबीज' और 'निठल्ले की डायरी' में उनके व्यंग्य लेख संग्रहीत हैं। विद्या निवास मिश्र का 'छितवन की छाह', 'तुम चन्दन हम पानी', 'आंगन का पंछी' 'बनजारामन' और 'मेरे राम का मुकुट' भीग रहा है', कुबेर नाथ राय का 'प्रिया-नीलकंठी', 'गन्ध मादन', 'माया बीज', विवेकी राय का 'आम रास्ता नहीं है', 'देवेन्द्र सत्यार्थी का 'एक युग का प्रतीक' हरिशंकर परसाई का 'शिकायत मुझे भी है' हरीश नवल का 'बागपत के खरबूजे, आदि प्रसिद्ध निबन्ध संकलन हैं।

हिन्दी निबन्ध लेखन की परम्परा अत्यन्त समृद्ध है, लेकिन इधर कुछ वर्षों में इस क्षेत्र में नये लेखकों का आगमन बहुत कम हुआ है। ललित भावात्मक, विचारात्मक निबन्ध लेखन की प्रवृत्ति कम हुई है और जो लिख भी रहे हैं वे पुराने पीढ़ी के ही लेखक हैं। नये लेखकों की निबन्ध लेखन की ओर से यह उदासीनता अत्यन्त चिन्ताजनक है।

4

भारतेन्दु युग का हिन्दी गद्य साहित्य

भारतेन्दु – युग अथवा पुनर्जागरण – काल का उदय आधुनिक हिन्दी गद्य – साहित्य में हिन्दी – कविता के लिए नवीन – जागरण के संदेशवाहक – युग के रूप में हुआ था किन्तु इसके सीमाँकन के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भारतेन्दु हरिश्चन्द्र (1850–1885) के रचनाकाल को दृष्टि में रख कर सम्वत् 1925 से 1950 की अवधि को 'नयी – धारा' अथवा 'प्रथम – उत्थान' की संज्ञा दी है, और इस काल को भारतेन्दु हरिश्चन्द्र तथा उनके सहयोगी लेखकों के कृतियों से समृद्ध माना गया है किन्तु उनके द्वारा निर्धारित कालावधि से कुछ लेखकों का वैमत्य है। मिश्रबन्धुओं ने 1926 से 1945 वि 0 सम्वत् तक, डॉ. रामकुमार वर्मा ने 1927 से 1957 वि. सम्वत् तक, डॉ. केसरी नारायण शुक्ल ने 1922 से 1957 वि. सम्वत् तक और डॉ. रामविलास शर्मा ने 1925 से 1957 वि. सम्वत् तक 'भारतेन्दु युग' की व्याप्ति मानी है।

उल्लेखनीय यह है, कि भारतेन्दु द्वारा सम्पादित मासिक पत्रिका 'कविवचनसुधा' का प्रकाशन 1868 ई. में प्रारम्भ हुआ था। अतः भारतेन्दु युग का उदय 1968 ई. (1925 वि 0 सम्वत्) से मानना उचित है। तथा इसी तर्क का अनुसरण करते हुए 'सरस्वती' नामक पत्रिका का प्रकाशन – वर्ष 1900 ई.

को भारतेन्दु - युग की समाप्ति का सूचक भी माना जा सकता है। यह ठीक ही है कि भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के देहावसान के साथ ही भारतेन्दु - युग की समाप्ति न मान कर उनके समकालीन कवियों के द्वारा बाद में रचित - कृतियों को ध्यान में रखते हुए इस काल की व्याप्ति 1900 ई. तक स्वीकार की गयीं, क्योंकि इस समय तक हिन्दी साहित्य - क्षेत्र में अनेकों नवीन प्रवृत्तियों का उदय होने लगा था किन्तु यह जिज्ञासा प्रासंगिक होगी कि रीतिकाल के समापन से लेकर भारतेन्दु - युग का पूर्वकाल (1843 से 1867 ई.) तक की रचनाओं का अनुशीलन किस संदर्भ में किया जाना चाहिए ?

वस्तुतः इतिहास का कोई भी काल सहस्र ही समाप्त नहीं हो सकता है और प्रायः अगले एक - दो दशक तक उसकी रचना, प्रवृत्तियाँ किसी न किसी रूप में व्यक्त होती रहती हैं। इसी भाँति किसी नये युग का शुभारम्भ भी सहसा नहीं होता है, उसके स्वरूप - निर्माण की प्रक्रिया के बीज, दस - बीस साल तक के पहले साहित्य में विद्यमान रहते हैं। 1843 से 1867 ई. तक का कृतित्त्व न तो पूर्णतः रीतिकाल के प्रभावक्षेत्र में आता है और न ही इसमें भारतेन्दु - युग की पुनर्जागरण - मूलक प्रवृत्तियाँ विद्यमान होती हैं। अतः इसका अनुशीलन "भारतेन्दु - युग" की पृष्ठभूमि के रूप में किया जाना चाहिए।

हिन्दी नाट्य साहित्य

भारतेन्दु युग नवोत्थान का युग था। भारतेन्दु देश की सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक और आर्थिक दुर्दशा से आहत थे। अतः साहित्य के माध्यम से उन्होंने समाज को जाग्रत करने का संकल्प लिया। समाज को जगाने में नाटक सबसे प्रबल सिद्ध होता है। भारतेन्दु ने इस तथ्य को पहचाना और नैराश्य के अन्धकार में आशा का दीप जलाने के लिए प्रयत्नशील हुए।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र (9 सितंबर 1850-7 जनवरी 1885) आधुनिक हिंदी साहित्य के पितामह कहे जाते हैं। वे हिन्दी में आधुनिकता के पहले रचनाकार थे। इनका मूल नाम 'हरिश्चन्द्र' था, 'भारतेन्दु' उनकी उपाधि थी। उनका कार्यकाल युग की सन्धि पर खड़ा है। उन्होंने रीतिकाल की विकृत सामन्ती संस्कृति की पोषक वृत्तियों को छोड़कर स्वस्थ्य परम्परा की भूमि अपनाई और नवीनता के बीज बोए। हिन्दी साहित्य में आधुनिक काल का प्रारम्भ भारतेन्दु हरिश्चन्द्र से माना जाता है। भारतीय नवजागरण के अग्रदूत के रूप में प्रसिद्ध भारतेन्दु जी ने देश की गरीबी, पराधीनता, शासकों के अमानवीय शोषण का

चित्रण को ही अपने साहित्य का लक्ष्य बनाया। हिन्दी को राष्ट्र-भाषा के रूप में प्रतिष्ठित करने की दिशा में उन्होंने अपनी प्रतिभा का उपयोग किया।

भारतेन्दु बहुमुखी प्रतिभा के धनी थे। हिंदी पत्रकारिता, नाटक और काव्य के क्षेत्र में उनका बहुमूल्य योगदान रहा। हिंदी में नाटकों का प्रारंभ भारतेन्दु हरिश्चंद्र से माना जाता है। भारतेन्दु के नाटक लिखने की शुरूआत बंगला के विद्यासुंदर (1867) नाटक के अनुवाद से होती है। यद्यपि नाटक उनके पहले भी लिखे जाते रहे किंतु नियमित रूप से खड़ीबोली में अनेक नाटक लिखकर भारतेन्दु ने ही हिंदी नाटक की नींव को सुदृढ़ बनाया।(1) उन्होंने 'हरिश्चंद्र पत्रिका', 'कविवचन सुधा' और 'बाल विबोधिनी' पत्रिकाओं का संपादन भी किया। वे एक उत्कृष्ट कवि, सशक्त व्यंग्यकार, सफल नाटककार, जागरूक पत्रकार तथा ओजस्वी गद्यकार थे। इसके अलावा वे लेखक, कवि, संपादक, निबंधकार, एवं कुशल वक्ता भी थे।(2) भारतेन्दु जी ने मात्र 34 वर्ष की अल्पायु में ही विशाल साहित्य की रचना की। पैंतीस वर्ष की आयु (सन् 1885) में उन्होंने मात्रा और गुणवत्ता की दृष्टि से इतना लिखा, इतनी दिशाओं में काम किया कि उनका समूचा रचनाकर्म पथदर्शक बन गया।

भारतेंदु हरिश्चंद्र का जन्म 9 सितंबर, 1850 में काशी के एक प्रतिष्ठित वैश्य परिवार में हुआ।(2) उनके पिता गोपाल चंद्र एक अच्छे कवि थे और गिरधर दास उपनाम से कविता लिखा करते थे। 1857 में प्रथम भारतीय स्वतंत्रता संग्राम के समय उनकी आयु 7 वर्ष की होगी। ये दिन उनकी आँख खुलने के थे। भारतेन्दु का कृतित्त्व साक्ष्य है कि उनकी आँखें एक बार खुलीं तो बन्द नहीं हुईं। पैंतीस वर्ष की आयु (सन् 1885) में उन्होंने मात्रा और गुणवत्ता की दृष्टि से इतना लिखा, इतनी दिशाओं में काम किया कि उनका समूचा रचनाकर्म पथदर्शक बन गया। भारतेन्दु के पूर्वज अंग्रेज भक्त थे, उनकी ही कृपा से धनवान हुए। पिता गोपीचन्द्र उपनाम गिरिधर दास की मृत्यु इनकी दस वर्ष की उम्र में हो गई। माता की पाँच वर्ष की आयु में हुई। इस तरह माता-पिता के सुख से भारतेन्दु वंचित हो गए। विमाता ने खूब सताया। बचपन का सुख नहीं मिला।(3) शिक्षा की व्यवस्था प्रथापालन के लिए होती रही। संवेदनशील व्यक्ति के नाते उनमें स्वतन्त्र रूप से देखने-सोचने-समझने की आदत का विकास होने लगा। पढ़ाई की विषय-वस्तु और पद्धति से उनका मन उखड़ता रहा। क्वींस कॉलेज, बनारस में प्रवेश लिया, तीन-चार वर्षों तक कॉलेज आते-जाते रहे पर यहाँ से मन बार-बार भागता रहा। स्मरण शक्ति तीव्र थी, ग्रहण क्षमता अद्‌भुत। इसलिए

परीक्षाओं में उत्तीर्ण होते रहे। बनारस में उन दिनों अंग्रेजी पढ़े-लिखे और प्रसिद्ध लेखक - राजा शिवप्रसाद सितारे हिन्द थे, भारतेन्दु शिष्य भाव से उनके यहाँ जाते। उन्हीं से अंग्रेजी शिक्षा सीखी। भारतेन्दु ने स्वाध्याय से संस्कृत, मराठी, बंगला, गुजराती, पंजाबी, उर्दू भाषाएँ सीख लीं।

उनको काव्य-प्रतिभा अपने पिता से विरासत के रूप में मिली थी। उन्होंने पांच वर्ष की अवस्था में ही निम्नलिखित दोहा बनाकर अपने पिता को सुनाया और सुकवि होने का आशीर्वाद प्राप्त किया–

लै ब्योढ़ा ठाढ़े भए श्री अनिरुद्ध सुजान।
वाणासुर की सेन को हनन लगे भगवान॥

धन के अत्यधिक व्यय से भारतेंदु जी णी बन गए और दुश्चिताओं के कारण उनका शरीर शिथिल होता गया। परिणाम स्वरूप 1885 में अल्पायु में ही मृत्यु ने उन्हें ग्रस लिया।

साहित्यिक परिचय

भारतेन्दु के वृहत साहित्यिक योगदान के कारण ही 1857 से 1900 तक के काल को भारतेन्दु युग के नाम से जाना जाता है।

आचार्य रामचंद्र शुक्ल के अनुसार "भारतेन्दु ने अपनी सर्वतोमुखी प्रतिभा के बल से एक ओर तो वे पद्माकर, द्विजदेव की परंपरा में दिखाई पड़ते थे, तो दूसरी ओर बंग देश"

पंद्रह वर्ष की अवस्था से ही भारतेंदु ने साहित्य सेवा प्रारंभ कर दी थी। अठारह वर्ष की अवस्था में उन्होंने कविवचनसुधा नामक पत्रिका निकाली जिसमें उस समय के बड़े-बड़े विद्वानों की रचनाएं छपती थीं। वे बीस वर्ष की अवस्था में ऑनरेरी मैजिस्ट्रेट बनाए गए और आधुनिक हिन्दी साहित्य के जनक के रूप में प्रतिष्ठित हुए। उन्होंने 1868 में 'कविवचनसुधा', 1873 'हरिश्चन्द्र मैगजीन' और 1874 में स्त्री शिक्षा के लिए 'बाल बोधिनी' नामक पत्रिकाएँ निकालीं। साथ ही उनके समांतर साहित्यिक संस्थाएँ भी खड़ी कीं। वैष्णव भक्ति के प्रचार के लिए उन्होंने 'तदीय समाज की स्थापना की थी। अपनी देश भक्ति के कारण राजभक्ति प्रकट करते हुए भी उन्हें अंग्रेजी हुकूमत का कोपभाजन बनना पड़ा। उनकी लोकप्रियता से प्रभावित होकर काशी के विद्वानों ने 1880 में उन्हें 'भारतेंदु की उपाधि प्रदान की। (3) हिन्दी साहित्य को भारतेन्दु की देन भाषा तथा साहित्य दोनों ही क्षेत्रों में है। भाषा के क्षेत्र में उन्होंने खड़ी बोली के उस रूप

को प्रतिष्ठित किया, जो उर्दू से भिन्न है और हिन्दी क्षेत्र की बोलियों का रस लेकर संवर्धित हुआ है। इसी भाषा में उन्होंने अपने सम्पूर्ण गद्य साहित्य की रचना की। साहित्य सेवा के साथ-साथ भारतेंदु जी की समाज सेवा भी चलती थी। उन्होंने कई संस्थाओं की स्थापना में अपना योग दिया। दीन-दुखियों, साहित्यिकों तथा मित्रों की सहायता करना वे अपना कर्तव्य समझते थे।

भारतेंदु जी की यह विशेषता रही कि जहां उन्होंने ईश्वर भक्ति आदि प्राचीन विषयों पर कविता लिखी वहां उन्होंने समाज सुधार, राष्ट्र प्रेम आदि नवीन विषयों को भी अपनाया। अत: विषय के अनुसार उनकी कविताश्रृंगार-प्रधान, भक्ति-प्रधान, सामाजिक समस्या प्रधान तथा राष्ट्र प्रेम प्रधान है।

श्रृंगार रस प्रधान भारतेंदु जी नेश्रृंगार के संयोग और वियोग दोनों ही पक्षों का सुंदर चित्रण किया है। वियोगावस्था का एक उदाहरण देखिए-

देख्यो एक बारहूं न नैन भरि तोहि याते
जौन जौन लोक जैहें तही पछतायगी।
बिना प्रान प्यारे भए दरसे तिहारे हाय,
देखि लीजो आंखें ये खुली ही रह जायगी।

भक्ति प्रधान भारतेंदु जी कृष्ण के भक्त थे और पुष्टि मार्ग के मानने वाले थे। उनकी कविता में सच्ची भक्ति भावना के दर्शन होते हैं। वे कामना करते हैं–

बोल्यों करै नूपुर स्त्रीननि के निकट सदा
पद तल मांहि मन मेरी बिहरयौ करै।
बाज्यौ करै बंसी धुनि पूरि रोम-रोम,
मुख मन मुस्कानि मंद मनहीं हास्यौ करै।

सामाजिक समस्या प्रधान भारतेंदु जी ने अपने काव्य में अनेक सामाजिक समस्याओं का चित्रण किया। उन्होंने समाज में व्याप्त कुरीतियों पर तीखे व्यंग्य किए। महाजनों और रिश्वत लेने वालों को भी उन्होंने नहीं छोड़ा-

चूरन अमले जो सब खाते,
दूनी रिश्वत तुरत पचावें।
चूरन सभी महाजन खाते,
जिससे जमा हजम कर जाते।

राष्ट्र-प्रेम प्रधान भारतेंदु जी के काव्य में राष्ट्र-प्रेम भी भावना स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है। भारत के प्राचीन गौरव की झांकी वे इन शब्दों में प्रस्तुत करते हैं -

भारत के भुज बल जग रच्छित,
भारत विद्या लहि जग सिच्छित।
भारत तेज जगत विस्तारा,
भारत भय कंपिथ संसारा।

प्राकृतिक चित्रण प्रकृति चित्रण में भारतेंदु जी को अधिक सफलता नहीं मिली, क्योंकि वे मानव-प्रकृति के शिल्पी थे, बाह्य प्रकृति में उनका मर्म पूर्ण रूपेण नहीं रम पाया। अत: उनके अधिकांश प्रकृति चित्रण में मानव हृदय को आकर्षित करने की शक्ति का अभाव है। चंद्रावली नाटिका के यमुना-वर्णन में अवश्य सजीवता है तथा उसकी उपमाएं और उत्प्रेक्षाएं नवीनता लिए हुए हैं-

कै पिय पद उपमान जान यह निज उर धारत,
कै मुख कर बहु भृंगन मिस अस्तुति उच्चारत।
कै ब्रज तियगन बदन कमल की झलकत झांईं,
कै ब्रज हरिपद परस हेतु कमला बहु आईं॥

प्रकृति वर्णन का यह उदहारण देखिये, जिसमें युमना की शोभा कितनी दर्शनीय है।

"तरनि तनूजा तट तमाल तरुवर बहु छाये।
झुके कूल सों जल परसन हित मनहूँ सुहाये ॥"

भाषा

भारतेंदु जी के काव्य की भाषा प्रधानत: ब्रज भाषा है। उन्होंने ब्रज भाषा के अप्रचलित शब्दों को छोड़ कर उसके परिष्कृट रूप को अपनाया। उनकी भाषा में जहां-तहां उर्दू और अंग्रेजी के प्रचलित शब्द भी जाते हैं। भारतेंदु जी की भाषा में कहीं-कहीं व्याकरण संबंधी अशुद्धियां भी देखने को मिल जाती हैं। मुहावरों का प्रयोग कुशलतापूर्वक हुआ है। भारतेंदु जी की भाषा सरल और व्यावहारिक है।

शैली

भारतेंदु जी के काव्य में निम्नलिखित शैलियों के दर्शन होते हैं -

1. **रीति कालीन रसपूर्ण अलंकार शैली** -श्रृंगारिक कविताओं में,
2. **भावात्मक शैली** - भक्ति के पदों में,

3. **व्यंग्यात्मक शैली** – समाज-सुधार की रचनाओं में,
4. **उद्‌बोधन शैली** – देश-प्रेम की कविताओं में।

रस

भारतेंदु जी ने लगभग सभी रसों में कविता की है।शृंगार और शांत की प्रधानता है।शृंगार के दोनों पक्षों का भारतेंदु जी ने सुंदर वर्णन किया है। उनके काव्य में हास्य रस की भी उत्कृष्ट योजना मिलती है।

छंद

भारतेंदु जी ने अपने समय में प्रचलित प्रायः सभी छंदों को अपनाया है। उन्होंने केवल हिंदी के ही नहीं उर्दू, संस्कृत, बंगला भाषा के छंदों को भी स्थान दिया है। उनके काव्य में संस्कृत के बसंत तिलका, शार्दूल, विक्रीड़ित, शालिनी आदि हिंदी के चौपाई, छप्पय, रोला, सोरठा, कुंडलियां कवित्त, सवैया घनाछरी आदि, बंगला के पयार तथा उर्दू के रेखता, गजल छंदों का प्रयोग हुआ है। इनके अतिरिक्त भारतेंदु जी कजली, ठुमरी, लावनी, मल्हार, चैती आदि लोक छंदों को भी व्यवहार में लाए हैं।

अलंकार

अलंकारों का प्रयोग भारतेंदु जी के काव्य में सहज रूप से हुआ है। उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक और संदेह अलंकारों के प्रति भारतेंदु जी की अधिक रुचि है। शब्दालंकारों को भी स्थान मिला है। निम्न पंक्तियों में उत्प्रेक्षा और अनुप्रास अलंकार की योजना स्पष्ट दिखाई देती है:

तरनि तनूजा तट तमाल तरुवर बहु छाए।
झुके कूल सों जल परसन हित मनहु सुहाए॥

महत्त्वपूर्ण कार्य

आधुनिक हिंदी साहित्य में भारतेंदु जी का अत्यंत महत्त्वपूर्ण स्थान है। भारतेंदु बहूमुखी प्रतिभा के स्वामी थे। कविता, कहानी, नाटक, उपन्यास, निबंध आदि सभी क्षेत्रों में उनकी देन अपूर्व है। भारतेंदु जी हिंदी में नव जागरण का संदेश लेकर अवतरित हुए। उन्होंने हिंदी के सर्वांगीण विकास में महत्त्वपूर्ण कार्य किया। भाव, भाषा और शैली में नवीनता तथा मौलिकता का समावेश करके उन्हें

आधुनिक काल के अनुरूप बनाया। आधुनिक हिंदी के वे जन्मदाता माने जाते हैं। हिंदी के नाटकों का सूत्रपात भी उन्हीं के द्वारा हुआ। भारतेंदु जी अपने समय के साहित्यिक नेता थे। उनसे कितने ही प्रतिभाशाली लेखकों को जन्म मिला। मातृ-भाषा की सेवा में उन्होंने अपना जीवन ही नहीं संपूर्ण धन भी अर्पित कर दिया। हिंदी भाषा की उन्नति उनका मूलमंत्र था–

निज भाषा उन्नति लहै सब उन्नति को मूल।
बिन निज भाषा ज्ञान के मिटे न हिय को शूल(2)(5)
विविध कला शिक्षा अमित, ज्ञान अनेक प्रकार।
सब देसन से लै करहू, भाषा माहि प्रचार॥

अपनी इन्हीं विशेषताओं के कारण भारतेंदु हिंदी साहित्याकाश के एक दैदीप्यमान नक्षत्र बन गए और उनका युग भारतेंदु युग के नाम से प्रसिद्ध हुआ। हरिश्चंद्र चंद्रिका, कविवचन सुधा, हरिश्चंद्र मैग्जीन, स्त्री बाला बोधिनी जैसे प्रकाशन उनके विचारशील और प्रगतिशील संपादकीय दृष्टिकोण का परिचय देते हैं।

युग-प्रवर्त्तक भारतेन्दु ने अनूदित/मौलिक सब मिलाकर सत्रह नाटकों की रचना की, जिनकी सूची इस प्रकार है :

(1) विद्यासुन्दर (1868), (2) रत्नावली (1868), (3) पाखण्ड विखंडन (1872), (4) वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति (1873)।

(5) धनंजय विजय (1873), (6) प्रेम जोगिनी, (1874), (7) सत्यहरिश्चन्द्र (1875), (8) मुद्राराक्षस (1875)।

(9) कर्पूर मंजरी (1876), (10) विषस्य विषमोषधम् (1876), (11) श्री चन्द्रावली (1875), (12) भारत-दुर्दशा (1876)।

(13) भारत जननी (1877) (14) नीलदेवी (1880), (15) दुर्लभ-बन्धु (1880), (16) अन्धेर नगरी (1881), (17) सती प्रताप (1884)।

मौलिक नाटक

भारतेन्दु जी की मौलिक कृतियों में वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति, प्रेमयोगिनी, विषस्य विषमोषधम्, चन्द्रावली, भारत दुर्दशा, नीलदेवी, अंधेर नगरी तथा सती प्रताप हैं। वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति, प्रेम योगिनी और पाखण्ड विखंडन में धार्मिक रूढ़ियों और विडम्बनाओं से ग्रस्त समाज के पाखण्ड, आडम्बर, भ्रष्टाचार आदि का नाटकीय आख्यान हुआ है। 'वैदिकी हिंसा हिंसा

न भवति' में ऊपर से सफेदपोश दिखने वाले धर्मात्माओं के साथ ही तत्कालीन देशी नरेशों और मंत्रियों के व्यभिचार की पोल खोली गयी है। अपने युग की धार्मिक स्थिति के प्रति जो तीव्र आक्रोश नाटककार में है, वही उसकी अपूर्ण नाटिका 'प्रेमयोगिनी' में प्रस्तुत हुआ है। 'पाखण्ड विखंडन' में हिन्दुओं के सन्त-महन्तों की हीन दशा का चित्रण हुआ है। इस प्रकार धार्मिक पाखण्डों का खण्डन करना ही इन नाटकों का मूल स्वर रहा है।

भारतेन्दु-युग में अंग्रेजों ने बहुत से राजाओं से उनका शासन छीन कर उनका राज्य अपने अधीन कर लिया था। अंग्रेजों की इस नीति की प्रशंसा पर गुलामी के भय के द्वन्द्व की परिकल्पना 'विषस्य विषमौषध म्' प्रहसन में साकार हो उठी है। देशोद्धार की भावना का संघर्ष भारतेन्दु जी के 'भारत जननी' और 'भारत दुर्दशा' में घोर निराशा के भाव के साथ प्रस्तुत होता है। 'भारत दुर्दशा' में भारत के प्राचीन उत्कर्ष और वर्तमान अध:पतन का वर्णन निम्नलिखित पंक्तियों में मिलता है–

रोअहु सब मिलि, आवहु भारत भाई।
हा हा! भारत दुर्दशा न देखी जाई।।

भारतेन्दु ने राजनीतिक संघर्ष की पृष्ठभूमि पर नौकरशाही की अच्छी आलोचना करते हुए 'अंधेर नगरी' प्रहसन लिखा है। 'अन्धेर नगरी' के चौपट राजा को फांसी दिलाकर नाटककार कामना करता है कि कभी इस अयोग्य राजा की तरह नौकरशाही भी समाप्त होगी और देश के कुशासन की समाप्ति होगी। अंग्रेजों के शासन से देश मुक्ति की कामना ही 'नील देवी' नाटक में ऐतिहासिक पृश्ठभूमि पर उभरती है। साथ ही तत्कालीन समाज में तीव्रता से उठ रहे 'नारी स्वातंत्र्य' के पक्ष-विपक्ष के द्वन्द्व को भी प्रस्तुत किया है।

''चन्द्रावली' और 'सती प्रताप' प्रेम की कोमल अभिव्यंजना से अभिभूत नाटक हैं। चन्द्रावली में ईश्वरोन्मुख प्रेम का वर्णन है। 'सती प्रताप' में भी पति-प्रेम का अनुकरणीय उज्ज्वल आदर्श है। इस प्रकार भारतेन्दु के नाटकों में भी प्रेम धारा तथाश्रृंगारिक मोहकता का वातावरण बना रहा है।

अनूदित और रूपान्तरित नाटक

भारतेन्दु ने अंग्रेजी, बंगला तथा संस्कृत के नाटकों के हिंदी अनुवाद भी किए, जिनमें रत्नावली नाटिका, पाखण्ड विखंडन, प्रबोध-चंद्रोदय, धनंजय-विजय, कर्पूर मंजरी, मुद्रा राक्षस तथा दुर्लभ बन्धु आदि हैं। अंग्रेजी से किए गए अनुवादों

में भारतेन्दु की एक विशेषता यह भी है कि उन्होंने उसमें भारतीय वातावरण एवं पात्रों का समावेश किया है। सभी नाटकों में मानव-हृदय के भावों की अभिव्यक्ति के लिए गीतों की योजना की है। इन नाटकों का अनुवाद केवल हिन्दी का भण्डार भरने की दृष्टि से नहीं किया गया बल्कि हिन्दी नाटकों के तत्त्वों में अपेक्षित परिवर्तन के लिए दिशा-निर्देश करने के उद्देश्य से किया गया। रूपांतरित नाटकों में 'विद्या सुन्दर' और 'सत्य हरिश्चन्द्र' नाटक आते हैं। 'विद्यासुन्दर' में प्रेम विवाह का समर्थन करते हुए भारतेन्दु मां-बाप के आशीर्वाद को अनिवार्य मानते हैं। 'सत्य हरिश्चन्द्र' में सामाजिक विकृतियों से ऊपर उठ कर सत्य के आदर्शों से अनुप्राणित होने का आह्वान किया है।

नाट्य-शास्त्र के गम्भीर अध्ययन के उपरान्त भारतेन्दु ने 'नाटक' निबन्ध लिख कर नाटक का सैद्धान्तिक विवेचन भी किया है। सामाजिक एवं राष्ट्रीय समस्याओं को लेकर-अनेक पौराणिक, ऐतिहासिक एवं मौलिक नाटकों की रचना ही नहीं की, अपितु उन्हें रंगमंच पर खेलकर भी दिखाया है। उनके नाटकों में जीवन और कला, सुन्दर और शिव, मनोरंजन और लोक-सेवा का सुन्दर समन्वय मिलता है। उनकी शैली सरलता, रोचकता एवं स्वभाविकता के गुणों से परिपूर्ण है। भारतेन्दु अद्वितीय प्रतिभा के धनी थे। सबसे बड़ी बात यह है कि वे अद्‌भुत नेतृत्व-शक्ति से युक्त थे। वे साहित्य के क्षेत्र में प्रेरणा के स्रोत थे। फलतः अपने युग के साहित्यकारों और नाटक तथा रंगमंच की गतिविधियों को प्रभावित करने में सफल रहे। इसके परिणामस्वरूप प्रतापनारायण मिश्र, राधाकृष्ण दास, लाला श्रीनिवास, देवकी नन्दन खत्री आदि बहुसंख्यक नाटककारों ने उनके प्रभाव में नाट्य रचना की। यह भी विचारणीय है कि भारतेन्दु मण्डल के नाटककारों ने पौराणिक, ऐतिहासिक, सामाजिक, चरित्रप्रधान राजनैतिक आदि सभी कोटियों के नाटक लिखे। इस युग में लिखे गये नाटक परिमाण और वैविध्य की दृष्टि से विपुल हैं। यहाँ मुख्य धाराओं का परिचय प्रस्तुत है:-

(क) पौराणिक धारा : इसकी तीन उपधाराएं : (1) रामचरित सम्बन्धी, (2) कृष्णचरित सम्बन्धी तथा (3) अन्य पौराणिक आख्यानक सम्बन्धी हैं। रामचरित सम्बन्धी नाटकों में देवकीनन्दन खत्री-कृत 'सीताहरण' (1876) और 'रामलीला' (1879), शीतलाप्रसाद त्रिपाठी-कृत 'रामचरित्र नाटक' (1891) उल्लेखनीय हैं। कृष्ण चरित सम्बन्धी नाटकों में अम्बिकादत्त व्यास-कृत 'ललिता' (1884), हरिहरदत्त दूबे-कृत 'महारास' (1885) और 'कल्पवृक्ष' तथा सूर्यनारायण सिंह कृत 'श्यामानुराग नाटिका' (1899) उल्लेखनीय

हैं। कृष्ण-परिवार के व्यक्तियों के चरित्र से सम्बन्धी नाटकों में चन्द्र शर्मा-कृत 'उषाहरण' (1887), कार्तिक प्रसाद खत्री-कृत उषाहरण (1892) और अयोध्यासिंह उपाध्याय-कृत 'प्रद्युम्न-विजय' (1893) तथा 'रुक्मणि परिणय' (1894) हैं। पौराणिक आख्यानकों से सम्बन्धी गजराजसिंह-कृत 'द्रोपदी हरण' (1882), श्री निवासदास-कृत 'प्रींद चरित्र' (1888), बालकृष्ण भट्ट-कृत 'नल-दमयन्ती स्वयंवर' (1895) और शालिग्राम लाल-कृत अभिमन्यु (1898) प्रसिद्ध हैं।

(ख) ऐतिहासिक धारा : ऐतिहासिक नाटक-धारा 'नीलदेवी' से प्रारम्भ होती है। ऐतिहासिक नाटकों में श्रीनिवासदास-कृत 'संयोगिता स्वयंवर' (1886), राधाचरण गोस्वामी-कृत 'अमर सिंह राठौर' (1895) और राधाकृष्ण दास-कृत 'महाराणा प्रताप' (1896) ने विशेष ख्याति प्राप्त की।

(ग) समस्या-प्रधान धारा : भारतेन्दु ने अपने सामाजिक नाटकों और प्रहसनों में नारी समस्या को जिस ढंग से उठाया था, वहीं उनके मण्डल के सभी नाटककारों पर छाया रहा। प्राचीन आदर्शों के अनुरूप उनमें पतिनिष्ठा की प्रतिष्ठा की गयी और नवीन भावनाओं के अनुरूप, बाल-विवाह-निषेध, पर्दा-प्रथा का विरोध और विधवा-विवाह तथा स्त्री-शिक्षा का समर्थन किया गया। श्री राधाचरणदास-कृत 'दु:खिनी बाला' (1880), प्रतापनारायण मिश्र-कृत 'कलाकौतुक' (1886), बालकृष्ण भट्ट-कृत 'जैसा काम वैसा परिणाम' (1913), काशी नाथ खत्री-कृत 'विधवा विवाह' (1899) बाबू गोपालराम गहमरी-कृत 'विद्या विनोद' आदि नाटक नारी-समस्याओं को केन्द्र-बिन्दु मानकर लिखे गये। इन समस्या-प्रधान नाटकों का मूलस्वर समाज-सुधार है। इस युग में जो तीव्र संघर्ष सामाजिक स्तर पर सुधारवाद की भावना से हो रहा था, वैसा इस काल के नाटकों में नहीं दिखाई देता। इनमें नाटक के नाम पर समस्याओं का वर्णन मात्र हुआ है। फिर भी इनमें सामाजिक जागरुकता मुख्य हुई है। इसमें संदेह नहीं कि ये अपने इसी स्वरूप में आगे के नाटकों के लिए कड़ी या आधार रहे।

(घ) प्रेम-प्रधान-धारा : रीतिकाल कीशृंगारिक प्रवृत्ति भारतेन्दु : युग की कविताओं में ही नहीं नाटकों में भी देखने को मिल जाती है। प्रेम-प्रधान रोमानी नाटकों में श्रीनिवास दास-कृत 'रणधीर प्रेममोहनी' (1877), किशोरीलाल गोस्वामी-कृत 'मयंक मंजरी' (1891) और 'प्रणयिनी परिणय' (1890), खड्ग बहादुरमल्ल-कृत 'रति कुसुमायुध' (1885) शालिग्राम शुक्ल-कृत लावण्यवती' सुदर्शन (1892) तथा गोकुलनाथ शर्मा-कृत 'पुष्पवती' (1899)

उल्लेखनीय हैं। यद्यपि इन नाटकों में उपदेशों की भी सर्वत्र भरमार है जिनमें समय का सदुपयोग, वेश्या से घृणा, छोटे-बड़े के भेद की व्यर्थता, भाग्यवाद में विश्वास आदि विषयों पर भी उपदेश दिये गये हैं, फिर भी इन नाटकों की विषय-वस्तु तथा अभिप्राय रोमांटिक हैं।

(च) राष्ट्रीय प्रहसन धारा : राष्ट्रीय और व्यंग्यात्मक नाटकों की परम्परा 'नीलदेवी', 'भारत दुर्दशा' आदि द्वारा चलायी गयी थी। उसका मूल कारण सांस्कृतिक और राष्ट्रीय दृष्टि से उपस्थित सक्रांति-काल ही था। प्राच्य और पाश्चात्य संस्कृति की टकराहट से नवजागरण का आलोक विकीर्ण हो रहा था। भारतेन्दु युगीन नाटककारों ने इस जागरण को अभिव्यक्त करने के लिए प्रहसनों को चुना। इस युग में राष्ट्रीय विचारधारा को उजागर करने वाले, खड्गबहादुर मल्ल-कृत 'भारत आरत' (1885), अम्बिका दास व्यास-कृत 'भारत-सौभाग्य' (1887), गोपाल राम गहमरी-कृत 'देश-दशा' (1892), देवकीनन्दन त्रिपाठी-कृत 'भारत हरण' (1899) आदि नाटक विशेष उल्लेखनीय हैं। इन नाटकों में देश की तत्कालीन दुर्दशा का चित्र खींचा गया है। आलोच्य युग के अनेक सफल प्रहसनों में से बालकृष्ण भट्ट-कृत 'जैसा काम वैसा परिणाम' (1877) और 'प्रचार बिडम्बना' (1899), विजयानन्द त्रिपाठी-कृत 'महा अंधेर नगरी' (1893), राधाचरण गोस्वामी-कृत 'बूढ़े मुंह मुहासे' (1886), राधाकृष्ण दास-कृत 'देशी कुतिया विलायती बोल' आदि प्रहसनों को विशेष प्रसिद्धि प्राप्त हुई। नवीन वैचारिक आलोक के फलस्वरूप इन प्रहसनों में प्राचीन रूढ़ियों, घिसी हुई परम्पराओं और अंध-विश्वासों पर व्यंग्य किया गया है तथा समाज के महंतों और कुटिल जनों पर प्रहार किये गये हैं।

आलोच्य युग के नाटक साहित्य का अवलोकन करने पर यह स्पष्ट होता है कि इस युग के नाटक विषयवैविध्य में पूर्ण हैं। भारतेन्दु युग के नाम से अभिहित इस संक्रांति काल में अनेक युग प्रश्नों यथा-कर, आलस्य, पारस्परिक फूट, मद्यपान, पाश्चात्य-सभ्यता का अन्धानुकरण, धार्मिक अंधविश्वास, पाखंड, छुआ-छूत, आर्थिक शोषण, बाल विवाह, विधवा-विवाह, वेश्या गमन आदि को नाटकों का विषय बनाया गया। ऐसा नहीं है कि किसी एक नाटक में इनमें से एक या दो बातों को लिया गया हो, पर अवसर पाते ही सभी बातें एक ही नाटक में गुम्फित हुई हैं। इससे कथानक में भले ही शिथिलता आ गई हो किंतु जनजीवन की विसंगति अवश्य स्पष्ट हो जाती है। नाटकों में प्रधान रूप से समाज में व्याप्त अशांति और व्यग्रता का चित्रण हुआ है। नाटककार अपने युग के प्रति

बड़े सजग दिखाई पड़ते हैं। उन्होंने भारत का अध:पतन अपनी आंखों से देखा था। चारों ओर रूढ़िग्रस्त, निष्क्रिय और मानसिक दासता में जकड़ी हुई जनता, पाश्चात्य सभ्यता का दूषित प्रभाव, भ्रष्ट राजनीति, हृदयविदारक आर्थिक अवस्था आदि ने उनके हृदय में सुधारवादी और राष्ट्रीय विचारों का उद्रेक किया। फलस्वरूप नाटकों में राष्ट्रीय जीवन को उन्नत बनाने के अनेक उपाय संकेतित हुए हैं। इनकी वाणी में नवोदित भारत की आकांक्षाओं का स्वर प्रतिध्वनित होता है।

शास्त्रीय दृष्टि से भारतेन्दु-कालीन नाटक संस्कृत-नाट्यशास्त्र की मर्यादा की रक्षा करते हुए लिखे गये। साथ ही पाश्चात्य नाट्य शास्त्र का प्रभाव भी इन पर लक्षित होता है। पाश्चात्य ट्रेजडी की पद्धति पर दु:खान्त नाटक लिखने की परम्परा भारतेन्दु के 'नीलदेवी' नाटक से प्रारम्भ हुई। इस युग के नाटक एक ओर पारसी कम्पनियों की अश्लीलता और फूहड़पन की प्रतिक्रिया थे, तो दूसरी ओर पाश्चात्य और पूर्व की सभ्यता की टकराहट के परिणाम। इसलिए उनमें अविचारित पुरानापन या अविचारित नयापन कहीं नहीं है। अभिनेयता की दृष्टि से ये नाटक अत्यधिक सफल हैं। भारतेन्दु और उनके सहयोगी स्वयं नाटकों में भाग लेते थे और हिन्दी रंगमंच को स्थापित करने के लिए उत्सुक थे। नाटकों के माध्यम से जनता को वे जागरण का और आने वाले युग का सन्देश देना चाहते थे। इसी कारण भारतेन्दु-काल में विरचित ये नाटक सुदृढ़ सामाजिक पृष्ठभूमि पर अवस्थित थे।

अनूदित प्रस्तुत संदर्भ में भारतेन्दु युगीन, नाटकों पर विचार कर लेना भी समीचीन होगा। इस युग में संस्कृत, बंगला तथा अंग्रेजी के सुप्रसिद्ध नाटकों के हिन्दी में अनुवाद किए गए। अनुवाद की परम्परा भी भारतेन्दु से ही प्रारम्भ हुई थी जिसकी चर्चा पीछे की जा चुकी है। उनके अतिरिक्त भी अनेक लेखक संस्कृत, बंगला और अंग्रेजी के नाटक अनूदित करने में संलग्न रहे।

संस्कृत

भवभूति:

(1) उत्तर रामचरित-देवदत्त तिवारी (1871), नन्दलाल, विश्वनाथ दूबे (1891), लाला सीताराम (1891)।

(2) मालती माधव : लाला शालिग्राम (1881), लाला सीता राम (1898)।
(3) महावीर चरित : लाला सीताराम (1897)।

कालिदासः

(1) अभिज्ञान शकुन्तला : नन्दलाल विश्वनाथ दूबे (1888)।
(2) मालविकाग्निमित्र : लाला सीताराम (1898)।

कृष्णमित्र

प्रबोध चन्द्रोदय : शीतला प्रसाद (1879), अयोध्याप्रसाद चौधरी (1885)।

शूद्रक

मृच्छकटिक : गदाधर भट्ट (1880), लाला सीताराम (1899)।

हर्ष

रत्नावली : देवदत्त तिवारी (1872), बालमुकुन्द सिंह (1798)।

भट्टनारायण

वेणीसंहार : ज्वालाप्रसाद सिंह (1897)।

बंगला

माइकेल मधुसूदन दत्तः
(1) पद्मावती : बालकृष्ण भट्ट (1878)।
(2) शर्मिष्ठा : रामचरण शुक्ल (1880)।
(3) कृष्णमुरारी : रामकृष्ण वर्मा (1899)।
द्वारिकानाथ गांगुली : वीरनारी-रामकृष्ण वर्मा (1899)।
राजकिशोर दे : पद्मावती : रामकृष्ण वर्मा (1888)।
मनमोहन वसुः सती : उदित नारायण लाल (1880)।

अंग्रेजी

शेक्सपीयर
(1) मरचेंट आफ वेनिस (वेनिस के व्यापारी) : आर्या (1888)।

(2) द कॉमेडी आफ एरर्स (भ्रमजालक) : मुन्शी इमदाद अली, भूल भुलैया : लाल सीताराम (1885)।
(3) एज यू लाइक इट (मनभावन) : पुरोहित गोपीनाथ (1896)।
(4) रोमियो जूलियट (प्रेमलीला) : पुरोहित गोपीनाथ (1897)।
(5) मैकबैथ (साहसेन्द्र साहस) : मथुराप्रसाद उपाध्याय (1893)।
(6) जोजेफ एडीसन: केटो (कृतान्त) : बाबू तोता राम (1879)।

भारतेन्दु-युगीन नाटककारों की अनूदित रचनाएं केवल उनकी अनुवाद वृत्ति का ही दिग्दर्शन नहीं कराती, वरन् सामाजिक जीवन के उन्नयन के लक्ष्य को भी प्रकट करती हैं। अनुवादक उन रचनाओं के माध्यम से वस्तुत: एक नाट्यादर्श प्रस्तुत करना चाहते थे और उन नैतिक तत्त्वों के प्रति भी जागरूक थे जो नव-जागरण में सहायक थे। इस प्रकार भारतेन्दु-युगीन इन नाटकों की विषय वस्तु में वैविध्य मिलता है। रामायण और महाभारत के प्रसंगों को लेकर पौराणिक नाटक बहुतायत से लिखे गये। इसी संदर्भ में ऐसे नाटकों की संख्या भी पर्याप्त कही जा सकती है, जो नारी के सतीत्व और पतिव्रता के आदर्श से सम्बन्धित हैं। सामाजिक नाटकों में भी विषयवस्तु का वैविध्य और विस्तार मिलता है। इस काल में मुख्य रूप से अनमेल विवाह, विधवा विवाह, बहु विवाह, मद्यपान, वेश्या गमन, नारी स्वातंत्रय आदि समस्याओं पर विचार किया है। किन्तु युगीन सन्दर्भ के प्रति इस प्रकार की जागरुकता के बावजूद अनुभूति की तीव्रता और नाट्य शिल्प की विशिष्टता के अभाव में इस युग का नाट्य साहित्य कोई महत्त्वपूर्ण साहित्यिक देन नहीं दे सका। फिर भी नाट्य रचना और रंगमंच के लिए जैसा वातावरण इस युग में बन गया था, वैसा हिन्दी साहित्य के किसी काल में सम्भव नहीं हुआ।

भारतेन्दु की रंगदृष्टि

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र पर विचार करते हुये हमें उनके युग की स्थितियों, जटिलताओं, अन्तर्विरोधों एवं संकटों को जानना-पहचानना आवश्यक है। वे सही मायने में अपने युग के निर्माता थे। डॉ. विश्वम्भर नाथ उपाध्याय के शब्दों में ''भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने हिन्दी भाषा का माध्यम अपनाकर साहित्य सृजन, सम्पादन, नाट्याभिनय और निबन्ध लेखन द्वारा देश में पुनर्जागरण (रिनेसा) शुरू किया। पुनर्जागरणकारी व्यक्तित्त्व अनिवार्यत: अनेकायामी अनेक क्षेत्रीय या बहुविषय स्पर्शक होता है, क्योंकि ऐसा व्यक्ति, जगह-जगह विधाओं और

अन्य-अन्य प्रसुप्त चेतना परिसरों को जगाता है, नव चेतना का बीज वपन करता है और चिनगारियाँ छोड़ता है। ऐसा व्यक्ति मात्र विधा विशेष की दृष्टि से नहीं जांचा जा सकता क्योंकि वह एक पूरे युग चैतन्य का माध्यम या स्रोत बनता है। अतः वह युग प्रवर्तक होता है और अनेक विधाओं में नवीन प्रेरणा, नये विचार सूत्र, नये मूल्य पनपा देता है। भारतेन्दु ऐसे ही युग प्रवर्तक व्यक्ति थे। (आलोचना-79, पृष्ठ-51)

भारतेन्दु का रचनात्मक संघर्ष और कृति व्यक्तित्त्व मनुष्य की दुर्दम जिजीविषा और हमारी सांस्कृतिक विरासत की पहचान का एक अत्यन्त समर्थ साक्ष्य है। उनकी संघर्षशीलता और जीवटता इतने लम्बे अन्तराल के बाद भी हमारे लिये अभी भी जरूरी है और प्रासंगिक भी। उनकी रचनात्मक ऊर्जा, राष्ट्रवादिता, कला साधना और जीवन संघर्ष के कई आयाम हैं, लेकिन उनकी केन्द्रीयता में सब तिरोहित हो गये हैं। डॉ. राम विलास शर्मा ने उनका महत्त्व स्वीकारते हुये बहुत सही कहा है कि ''साहित्य, पत्रकार-कला, देश सेवा-ये भारतेन्दु के लिये तीन अलग-अलग चीजें नहीं थी। उनका आपस में घनिष्ठ सम्बन्ध था। भारतेन्दु शुद्ध कला के उपासक न थे। वह सोद्देश्य साहित्य के हामी थे इसलिये उनका व्यक्तित्त्व भी शुद्ध साहित्यकार का न होकर एक समाज सेवी कार्यकर्ता का था।'' (भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, पृष्ठ-5, 6)।

भारतेन्दु का समय काफी उथल-पुथल और आपाधापी का रहा है। स्वाधीनता आंदोलन की मशाल जल उठी थी। युगीन परिस्थितियों के अनुरूप अपनी सीमाओं के अंदर, कई अन्तर्विरोधों के चलते हुये भी जनजागरण की भावना, निरन्तर विकसित होती जा रही थी। भारतेन्दु की जिज्ञासु दृष्टि एवं सुचिन्तित तथा तार्किक बुद्धि ने न केवल गुलामी की अन्तःप्रकृति की पहचान की बल्कि संकीर्णताओं अंध विश्वासों, रूढ़ियों और पाखण्डों पर व्यंग्य किया। हा! हा! भारत दुर्दशा न देखी जाई। 'सब धन ठोयो जात विलायत उनके व्यंग्य में किसिम-किसिम की गूँजें-अनुगूँजे हैं जिनमें युग की पीड़ा और हाहाकार को अभिव्यक्त किया गया है। नये जमाने की मुकरी में वे लिखते हैं ''भीतर-भीतर सब रस चूसै। हँसि हँसि कै तन-मन-धन जूसे जाहिर बातन में अति तेज। क्यों सखि सज्जन, नहिं अंग रेज 'भारत दुर्दशा' नाटक में भारत दुर्दैव से कहलाया गया है-

भरी बुलाऊँ देश उजाडू महंगा करकै अन्न
सबके ऊपर टिकश लगाऊँ धन है मुझको, धन्न
मुझको तुम सहज न जानो जी/मुझे इक राक्षस मानो जी।

देश की चिन्ता, पीड़ा और उसके खिलाफ उठ खड़े होने की प्रबल आकांक्षा उनके कृतित्त्व का जरूरी उपादान है। उनके लेखे राष्ट्रीय आंदोलन भाषा आंदोलन, साहित्यिक, सांस्कृतिक आंदोलन, सामाजिक आंदोलन मात्र शगल नहीं थे बल्कि जीवन-मरण के सवाल थे। श्री बाल मुकुंद गुप्त ने उनके लेखन को तेज, तीखा और बेधड़क लेखन कहा है। भारतेन्दु पर विचार करते हुये मुझे अक्सर कबीर की याद आती है। उनकी भाषा और व्यंग्य की प्रकृति तथा डंके की चोट बात कहने के सिलसिले में। जैसे-कबीर कहते हैं - सुखिया सब संसार है। खावै अरु सोवे। दुखिया दास कबीर है जागे अरु रोवे। भारतेन्दु भी हमें इसी प्रकार संबोधित करते हैं - ''आबहु सब मिलिकै रोबहु भारत भाई। हा! हा! भारत दुर्दशा न देखी जाई। वैसे हर जागरण के मूल में रुदन की प्रवृत्ति होती है। राम विलास शर्मा ने उन्हें हिन्दी नवजागरण और प्रगतिशील चेतना से जोड़ते हुये एक मार्के की बात की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट किया है। भारतेन्दु ने साहित्यिक हिन्दी को संवारा, साहित्य के साथ हिन्दी के नये आंदोलन को जन्म दिया, हिन्दी में राष्ट्रीय और जनवादी तत्त्वों को प्रतिष्ठित किया। (भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, पृष्ठ 121)

मेरी समझ में भारतेन्दु का महत्त्व इस बात में भी है कि वे कोटे लिक्खाड़ भर नहीं थे। वे जनता के बीच गये। उनके सुख-दुख, उनकी आशाओं, आकांक्षाओं को उनकी समस्याओं को उन्होंने गहराई तक जानने- पहचानने का प्रयत्न किया और उनका निदान खोजने का उपक्रम भी किया। उन्होंने देखा कि समाज में कई प्रकार की विकट समस्यायें हैं, जैसे निरक्षरता, गरीबी, रूढ़िया, अंधविश्वास और अपने-आपको न जान पाने का अहसास। इसलिये उन्होंने साहित्य को केवल मनोरंजन का साधन न मानते हुये जन शिक्षण के रूप में भी इस्तेमाल किया। उनकी खूबी इस बात में भी परखी जा सकती है कि उन्होंने लोक प्रचलित कला माध्यमों, स्थानीय जन बोलियों और लोक प्रचलित विश्वासों का जीवन्त इस्तेमाल जनता की भलाई और बेहतरी के लिये किया।

उनकी रंग दृष्टि की पहचान इस रूप में की जा सकती है कि उन्होंने नाटक और दृश्य काव्य के बारे में गम्भीरतापूर्वक विचार किया है। वे दृश्य काव्य को जीवन के लिए सबसे जीवन्त और उपयोगी माध्यम मानते हैं। उन्होंने स्वयं नाटकों में अभिनय करके उसकी शक्ति सीमा की पहचान और अर्थवत्ता की खोज की थी। उनका ''नाटक अथवा दृश्य काव्य'' नामक दीर्घ निबन्ध उनके अन्तर्जगत की बेचैनी को सूचित करता है। वे लिखते हैं - ''नाटक लिखना आरम्भ करके जो लोग उद्देश्य वस्तु परम्परा से चमत्कारजनक और मधुर अतिवस्तु

निर्वाचन करके भी स्वाभाविक सामग्री परिपोष के प्रति दृष्टिपात नहीं करते उनका नाटक, नाटकादि दृश्य काव्य लिखने का प्रयास व्यर्थ है, क्योंकि नाटक आख्यायिका की भांति श्रव्य काव्य नहीं है।'' वे आगे लिखते हैं - ''नाटक में वाचालता की अपेक्षा मितभाषिता के साथ वाग्मिता का ही सम्यक आदर होता है। नाटक में प्रपंच रूप से किसी भाव को व्यक्त करने का नाम गौण उपाय है और कौशल विशेष द्वारा थोड़ी बात में गुरुतर भाव व्यक्त करने का नाम मुख्योपाय है। थोड़ी-सी बात में अधिक भाव की अवतारणा ही नाटक जीवन का महौषध है।''

'नाटक' नामक इस प्रदीर्घ निबंध में उनका स्पष्ट मंतव्य है कि पुराने पड़ गये नियमों में परिवर्तन होना चाहिये। उनकी एक प्रसिद्ध उक्ति है ''मनुष्य की परिवर्तनशील वृत्तियों को ध्यान में रखकर नाटक लिखें।'' क्रांति और नवजागरण, संस्कार और शोधन की सृष्टि से जनता के लिये वह नाटक को सबमें सशक्त माध्यम मानते थे। उनका नजरिया यह भी था कि दृश्य काव्य और साक्षात्कार का माध्यम होने के कारण नाटक की प्रभावशीलता बढ़ जाती है। भारतेन्दु ने कई प्रकार के नाटक लिखे हैं। मौलिक, रूपांतरित और अनूदित। इन सभी में सामाजिक, ऐतिहासिक, पौराणिक विषयों में उनकी नई दृष्टि का न केवल पता चलता है, वरन् शिल्प और शैली की विविधता के भी दर्शन होते हैं। उनके मौलिक नाटकों में भारत जननी वैदिकी हिंसा-हिसा न भवति, प्रेम जोगिनी, विषस्या विषमौषधम् चन्द्रावली, भारत दुर्दशा, नील देवी, अंधेर नगरी और सती प्रताप प्रमुख हैं।

भारतेन्दु के मौलिक नाटकों में कथ्य की नवीनता विषयों की विविधता और सामाजिक परिवर्तन की आकांक्षा के सूत्र हैं। विषय विषमौषधम में उन्होंने देशी राजाओं की दुर्दशा का चित्रण किया है। वैदिकी हिंसा, हिंसा न भवति में भारतेन्दु की धर्म के नाम पर की जाने वाली पशुबलि का विरोध करते हैं। भारत दुर्दशा में आयेगी। राज में भारत की खराब स्थिति एवं उसका निरन्तर दाम को चित्रित करते हैं। नील देवी में भारतीय नारी के आदर्श का प्रतिपादन करने का प्रयास करते हैं। अनेक नाटकों में सामाजिक सुधार और राष्ट्रीय चेतना की अभिव्यक्ति के साथ युग की समस्याओं को जनता तक पहुँचाने का उद्यम है। उनके नाटक जनकल्याण की भावना से लवरेज हैं। इन नाटकों में अतीत के गौरव का प्रतिपादन एवं राष्ट्रीय जागरण के बहुआयामी स्वर हैं।

हिन्दी में आचार्य भरत मुनि की तरह भारतेन्दु की प्रतिष्ठा है। उसकी मुख्य वजह यह है कि भारतेन्दु ने पहली बार बड़ी तीव्रता से नाटक की माध्यमगत, कलागत विशिष्टताओं की ओर ध्यान दिया और सामूहिक तौर पर योजनाबद्ध ढंग से नाटक और रंग कर्म को सक्रिय आंदोलन के रूप में पेश किया। उन्होंने नाटक और रंगमंच के परस्पर सम्बन्धों की अनिवार्यता पर जोर देते हुये रंग कर्म का शुभारम्भ और विस्तार किया। नाट्य मण्डलियों की स्थापना करके उन्होंने नाटक को लोकप्रियता प्रदान की। नाटक, रंगमंच और रंगकर्म के सामने जो अनेक मुकिश्ल सवाल थे मसलन नाट्य लेखन, अनुवाद, प्रदर्शन, राष्ट्रीय चेतना का विकास, लोक रुचि का परिष्कार, पारसी थियेटर के खिलाफ संघर्ष। ना ही नाट्य परम्परा का विकास, नाट्य शिल्प की नई योजना, नये रंगमंच की स्वतंत्र परम्परा को विकसित करने के लिये वे जीवनपर्यन्त संघर्षशील रहे। वे मानते थे कि 'कला वास्तविक उन्नति का आधार है।' उनकी मुख्य चिन्ता यह थी कि हिन्दी का कोई रंगमंच नहीं है। इस कमी को पूरा करने के लिये उन्होंने अनेक प्रयास किये।

मैं जब पढ़ता था तो हमारे पाठ्यक्रम में भारतेन्दुजी का एक प्रहसननुमा नाटक 'अंधेर नगरी' था। पढ़ने में यह अत्यन्त सहज है। इसकी जो चीज सबसे अधिक आकर्षित करती है वह है इसकी भाषा, इसकी जीवंतता, इसकी रवानगी और हास्य व्यंग्य का बेहद आत्मीय पुट। यह नाटक समय के साथ-साथ निरन्तर अर्थवान होता जा रहा है। एक सौ पच्चीस-तीस साल से ज्यादह इसको लिखे हुये हो गये लेकिन इसका कथ्य और खिलंदड़ापन अभी भी नितान्त उपयोगी है। इसकी मार इसका व्यंग्य इसकी स्पिरिट आज भी नित नूतन है। इसमें जिस लहजे का इस्तेमाल हुआ और इसके विकास में जो खानमी की और ताजगी उसको कोई जवाब नहीं। उसकी अर्थ छवियां बेमिसाल है। 'अंधेर नगरी' पर विचार करते हुये डॉ. राम विलास शर्मा का यह कथन बरबस याद आता है कि ''अंधेर नगरी अंग्रेजी राज का ही दूसरा नाम है, लेकिन यह नाटक ''अंग्रेजी राज्य की अंधेर-गर्दी की आलोचना ही नहीं वह इस अंधेर गर्दी को खत्म करने के लिये भारतीय जनता की प्रबल इच्छा भी प्रकट करता है। इस तरह भारतेन्दु ने नाटकों को जनता का मनोरंजन करने के साथ उसका राजनीतिक शिक्षण करने का साधन भी बनाया। इसके गीत और हास्य भरे वाक्य लोगों की जवान पर चढ़ गये हैं और भारतेन्दु की प्रहसन कला यहां अपने चरमोत्कर्ष पर दिखाई देती हैं।''

भारतेन्दु अकेले ऐसे नाटककार हैं, जो नाटक, नाट्यकला, रंगमंच, नाट्य भाषा, नाट्य समीक्षा, रंगकर्म के प्रति चिन्तित और रंगमंच के प्रति निष्ठावान थे। रंगकर्म, रंगमंच नाटक के विविध कला रूपों और नाट्य समीक्षा-इन सभी आयामों के प्रति उनका ऐतिहासिक योगदान है। भारतेन्दु जी की नाट्य साधना की ही यह देन है कि आज का हमारा रंगमंच, रंगकर्म और रंग कौशल जनता से सीधे जुड़ा है। हालांकि हमने युग की परिस्थितियों के अनुकूल नये-नये प्रयोग किये हैं और इन प्रयोगों का सिलसिला अभी भी जारी है। भारतेन्दु दिन-ब-दिन प्रासंगिक अर्थवान और महत्त्वपूर्ण होते जा रहे हैं। अपने छोटे से जीवन में उन्होंने हिन्दी भाषा और हिन्दी जनता की जो सेवा की है। साहित्य की विभिन्न विधाओं को खुलकर खेलने का अवसर दिया है। उनके इस ऐतिहासिक अवदान को कभी भुलाया नहीं जा सकता।

हिंदी साहित्य का इतिहास में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल लिखते हैं, "जब भारतेंदु अपनी मंजी हुई परिष्कृत भाषा सामने लाए तब हिंदी बोलने वाली जनता को गद्य के लिए खड़ी बोली का प्रकृत साहित्यिक रूप मिल गया।" आ. शुक्ल की मान्यता है कि "साहित्य, शिक्षित जनता की प्रवृत्तियों का प्रतिफलन है।" यहां पर शिक्षित जनता से उनका मतलब उन पढ़े-लिखे चिंतक विद्वानों से है, जो अपने समाज की सांस्कृतिक, सामाजिक, वैयक्तिक और राजनीतिक-आर्थिक दशाओं के बारे में सोचने-विचारने की क्षमता रखते हैं। ऐसे लोग ही नये-नये जीवन मूल्यों को सुझा सकते हैं।

भारतेन्दु जी सही अर्थों में पूर्ण नाटककार थे। उन्होंने जब नाटक लिखना शुरू किया तब हिंदी नाट्य विधा संबंधी किसी तरह की सोच उपलब्ध नहीं थी। न ही हिंदी का अपना रंगमंच था। पारसी थियेटर की शुरूआत हो चुकी थी, लेकिन उन्हें हिंदी रंगमंच नहीं कहा जा सकता। डॉ. नगेन्द्र लिखते हैं,

"पारसी रंगमंच पर अभिनीत हिंदी के सस्ते नाटक सिनेमा आगमन के पूर्व हमारी अभिनय-दर्शन की भूख मिटाते रहे थे। ये नाटक सस्ती नीति (Cheap ethics) के बल पर समाज-सुधार, धर्म, राष्ट्रीयता आदि का उपदेश देते थे, परंतु इनका उद्देश्य व्यवसाय ही था। अतः अधिक से अधिक ये जनता की रुचि का प्रसादन कर सकते थे, उसका परिष्कार नहीं। ... फिर भी श्री नारायणप्रसाद बेताब और पं. राधेश्याम कथावाचक के नाटकों को हिंदी भूल नहीं सकती।"

शुद्ध साहित्य के रूप में हिन्दी नाटक साहित्य का विकास भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने ही किया। डॉ. दशरथ ओझा बताते हैं,

"पारसी थियेट्रिकल कम्पनी की अर्थ लिप्सा ने नाट्य-कला को अपनी दासी बनाया और अर्थपिशाच के हाथों इस ललित कला की हत्या होने लगी। भारतेन्दु जी का सुसंस्कृत हृदय इस अत्याचार को सहन न कर सका। कालिदास की शकुन्तला को पारसी रंगमंच पर निकृष्ट वेश्या की तरह नृत्य करते देखकर उनको अत्यन्त क्लेश हुआ और अभिनय के योग्य उत्तम नाटक लिखने की प्रेरणा उनके हृदय का मन्थन करने लगी।"

भारतेन्दु और भारतेन्दु मंडल के नाटककारों का लक्ष्य समाज-सुधार और सांस्कृतिक पुनरुत्थान था। इसी भावना से प्रेरित होकर उन्होंने समाज के यथार्थ का चित्रण नाटकों में किया। उन्होंने तत्कालीन समाज में व्याप्त बुराइयों, कुरीतियों, विकृतियों, अंधविश्वासों को देखा और उसे उसी रूप में प्रस्तुत भी किया। 'कविवचन सुधा' में समय-समय पर लिखे उनके लेख इसी का लेखा-जोखा है। लेकिन वे सिर्फ सैद्धांतिक यथार्थवादी नहीं थे। वे व्यावहारिक थे। उन्होंने बुराइयों की पहचान कर उसका यथार्थ चित्रण किया और उसके द्वारा भारतीय चिंतन के सांस्कृतिक और नैतिक मूल्यों को अपनाकर सुधार करने के लिए प्रेरित करना अपना लक्ष्य बनाया।

भारतेन्दु ने जो राजनीतिक चेतना और सामाजिक पुनरुत्थान का जो अलख जगाया उससे लोग अपने अधिकारों के प्रति सचेत हुए। भारतेन्दु युग में भारत गुलाम था। समाज तरह-तरह की रूढ़ियों में जकड़ा हुआ था। लोगों की आस्था और विश्वास खोखली होती जा रही थी। जातिप्रथा, धार्मिक अंधविश्वास ने समाज को पतनशील बना दिया था। एक रचनाकार का हृदय यह सब देख व्याकुल हो उठा। यथार्थबोध के इस नाटककार ने तत्कालीन परिस्थितियों के चित्रण के माध्यम से सुधार का बीड़ा उठाया। "अंधेर नगरी" हो या "भारत दुर्दशा" या फिर "वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति", इनके माध्यम से उनके सामाजिक उत्तरदायित्व की चेतना प्रकट हुई है। उन्होंने लोगों में देशभाक्ति की चेतना को जगाया। यह चेतना सामाजिक नव जागरण की चेतना में रूपांतरित हुई। 1857 की क्रांति असफल हो चुकी थी। जनमानस में निराशा व्याप्त थी। एक प्रकार की शिथिलता व्याप्त थी। भारतेन्दु के नाटकों ने और उसके अभिनय ने वातावरण में नया उत्साह भरा, नया जोश पैदा किया। नाटकों में अतीत के गौरवपूर्ण अध्यायों को देख कर और आजादी के महत्त्व को समझ कर लोगों में आत्मविश्वास और स्वाभिमान का भाव जगा।

हालकि नाटक के माध्यम से राष्ट्रीय चेतना का उदय करना और सांस्कृतिक जागरण उनके नाटक साहित्य रचने का उद्देश्य था, लेकिन वे मनोरंजन के विरोधी नहीं थे। न ही हास्य को हल्की-फुल्की नगण्य चीज मानते थे। मनोरंजन तो हो ही, साथ ही साथ नाटक के दर्शक को शिक्षा देना भी उनका लक्ष्य था। बड़ी से बड़ी समस्या को हास्य और तीखे व्यंग्य से कहकर वे नाटक की मंचीय प्रकृति को उजागर करते हैं। उन्होंने नाटक-लेखन को नवजागरण से जोड़ा। उनका मानना था कि नाटकों के प्रदर्शन के माध्यम से समाज सुधार का आंदोलन अधिक प्रभावी हो सकता है। समाज को उसके यथार्थ को दिखा कर अधिक झकझोरा जा सकता है। उनकी जो दशा है उसे सुधारने के लिए उनको प्रेरित किया जा सकता है। इन्हीं उद्देश्यों को ध्यान में रखकर उन्होंने धार्मिक,सांस्कृतिक, सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक आदि प्रश्नों को अपने प्रहसन नाटकों के द्वारा न सिर्फ सामने लाने का प्रयास किया बल्कि समाज के पुनरुत्थान का समाधान भी प्रस्तुत किया।

भारतेन्दु जी ने आंदोलन की तरह नाट्यविद्या को लिया। उन्होंने नाटक लिखे, अनूदित किए, लिखवाए, उनकी समीक्षाएं प्रकाशित कीं, नाट्य मंडलियां बनाईं, जगह-जगह नाट्य-प्रदर्शन किये। कवितावर्धिनी सभा का निर्माण किया। पेनी रीडिग क्लब की योजना बनाई। अपने संरक्षण में काशी में "नेशनल थियेटर" की स्थापना की। उनके मंडल के लेखकों ने काशी, प्रयाग, बिहार आदि अनेक नाट्य मंडलियां स्थापित कीं। नाटक संबंधी विस्तृत लेख लिखकर उन्होंने नाटक के बारे में अपने विचार प्रस्तुत किए। इसमें उन्होंने नाट्यशास्त्र, साहित्य दर्पण, काव्य प्रकाश आदि प्राचीन संस्कृत ग्रंथों के आधार पर नाटक के विभिन्न पहलुओं पर विवेचना की।

उन्होंने हिंदी की अपनी नाट्य परंपरा, नाट्य शिल्प और रंगमंच के विकास के लिए संघर्ष किया। उन्होंने अपनी मौलिकता और चिन्तन को "नाटक" निबन्ध और नाट्य लेखन में प्रस्तुत किया। वे हिंदी की अपनी रंग-दृष्टि और नाट्य परंपरा का विकास करना चाहते थे। इसके लिए उन्होंने जहां एक ओर प्राचीन संस्कृत नाट्य परंपरा से सीखा, तो दूसरी ओर लोक नाटकों की परंपरा को भी अंगीकार किया। साथ ही उनका नाट्य चिंतन पश्चिम की नाट्य परंपरा से भी प्रेरित था। इसलिए हम कह सकते हैं कि भारतेन्दु जी की नाट्य-दृष्टि भारतीय और आधुनिक है, रूढ़िबद्ध नहीं।

भारतेन्दु युग हिन्दी साहित्य में पुनर्जागरण काल के रूप में जाना जाता है और भारतेन्दु हरिश्चंद्र एक युगान्तकारी व्यक्तित्त्व के साथ हिन्दी के साहित्यिक क्षितिज पर उदित हुए। उन्होंने अत्यंत साहस और निर्भीकता के साथ न केवल स्वयं साहित्य-सृजन की पहल की, बल्कि समकालीन साहित्यकारों, कवियों और रंगकर्मियों को इसके लिए प्रेरित किया। उन्होंने मात्र 17 वर्ष की अल्पायु में 15 अगस्त, 1867 को काशी से एक काव्य-पत्रिका 'कविवचन-सुधा' का प्रकाशन शुरू किया। इस पत्रिका के प्रकाशन का एकमात्र लक्ष्य भारत को स्वत्व प्राप्त कर पराधीनता से मुक्ति प्राप्त करना था। भारतेन्दु ने 'कविवचन सुधा' के अलावा 'हरिश्चंद्र मैगजीन' (1873), 'हरिश्चंद्र चंद्रिक (1874) तथा 'बालबोधिनी' का भी संपादन किया। भारतेन्दु का 'अंधेर नगरी' हिन्दी के ऐसे पहले दस्तावेजी व्यंग्यप्रहसन नाटक के रूप में सामने आया है जिसकी प्रासंगिकता आज भी जस की तस है। यूं तो यह नाटक 1881 ई. में किसी जमींदार को लक्षित करके नेशनल थियेटर के लिए एक ही बैठक में लिखा गया था। अचरज होता है कि भारतेन्दु ने एक ही रात में एक सामान्य लोकोक्ति 'अन्धेर नगरी चौपट राजा, टके सेर भाजी, टके सेर खाजा' को केंद्र में रखकर प्रखर व्यंग्य का ऐसा अभिनव प्रतिमान रचता सार्वकालिक नाटक कैसे रच दिया जो आज भी हिन्दी व्यंग्य नाटक के शिखर पर खड़ा है। कहने को दुनिया का सबसे बड़ा प्रजातंत्र है भारत लेकिन सत्ता में आमजन की भागीदारी सिर्फ भेड़ों का रेवड़ बनने तक। मूल्यों का अवमूल्यन यहां तक हुआ कि देखते-ही-देखते इस देश में दो देश बन गए—एक चमचमाता इंडिया और दूसरा अपनी बदहाली से हांफता भारत। लगता तो यही है कि स्वाधीनता के साढ़े सात दशक बाद भी 'अन्धेर नगरी चौपट राजा' का निजाम यथावत जारी है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के नाटक 'अन्धेर नगरी' की सार्वकालिकता प्रासंगिकता और कालजयिता का इससे बड़ा साक्ष्य और क्या हो सकता है।दुनिया के किसी भी कोने के देश के बदलते शासन की परंपरा का लंबा इतिहास 'अन्धेर नगरी' के सच से स्वतः जुड़ता चलता है।

अंधेर नगरी प्रसिद्ध हिंदी साहित्यकार भारतेंदु हरिश्चंद्र का सर्वाधिक लोकप्रीय नाटक है। छह अंकों के इस नाटक में विवेकहीन और निरंकुश शासन व्यवस्था पर करारा व्यंग्य करते हुए उसे अपने ही कर्मों द्वारा नष्ट होते दिखाया गया है। भारतेंदु ने इसकी रचना बनारस के हिंदू नेशनल थिएटर के लिए एक हीं दिनकी थी।

यह नाटक छह अंकों में विभक्त है। इसमें अंक के बजाय दृश्य शब्द का प्रयोग किया गया है। पहले दृश्य में महंत अपने दो चेलों के साथ दिखाई पड़ते हैं, जो अपने शिष्यों गोवर्धन दास और नारायण दास को पास के शहर में भिक्षा माँगने भेजते हैं। वे गोवर्धन दास को लोभ के बुरे परिणाम के प्रति सचेत करते हैं। दूसरे दृश्य में शहर के बाजार का दृश्य है जहाँ सबकुछ टके सेर बिक रहा है। गोवर्धन दास बाजार की यह कैफियत देखकर आनन्दित होता है और सात पैसे में ढाई सेर मिठाई लेकर अपने गुरू के पास लौट जाता है। तीसरे दृश्य में महंत के पास दोनों शिष्य लौटते हैं। नारायण दास कुछ नहीं लाता है जबकि गोबर्धन दास ढाई सेर मिठाई लेकर आता है। महंत शहर में गुणी और अवगुणी को एक ही भाव मिलने की खबर सुनकर सचेत हो जाते हैं और अपने शिष्यों को तुरंत ही शहर छोड़ने को कहते हैं। वे कहते हैं– "सेत सेत सब एक से, जहाँ कपूर कपास। ऐसे देश कुदेस में, कबहूँ न कीजै बास।।" नारायण दास उनकी बात मान लेता है जबकि गोवर्धन दास सस्ते स्वादिष्ट भोजन के लालच में वहीं रह जाने का फैसला करता है। चौथे दृश्य में अंधेर नगरी के चौपट राजा के दरबार और न्याय का चित्रण है। शराब में डूबा राजा फरियादी के बकरी दबने की शिकायत पर बनिया से शुरू होकर कारीगर, चूनेवाले, भिश्ती, कसाई और गड़रिया से होते हुए कोतवाल तक जा पहुँचता है और उसे फांसी की सजा सुना देता है। पाँचवें दृश्य में मिठाई खाते और प्रसन्न होते मोटे हो गए गोवर्धन दास को चार सिपाही पकड़कर फांसी देने के लिए ले जाते हैं। वे उसे बताते हैं की बकरी मरी इसलिए न्याय की खातिर किसी को तो फाँसी पर जरूर चढ़ाया जाना चाहिए। जब दुबले कोतवाल के गले से फांसी का फँदा बड़ा निकला तो राजा ने किसी मोटे को फाँसी देने का हुक्म दे दिया। छठे दृश्य में शमशान में गोवर्धन दास को फाँसी देने की तैयारी पूरी हो गयी है। तभी उसके गुरू महंत जी आकर उसके कान में कुछ मंत्र देते हैं। इसके बाद गुरु शिष्य दोनों फाँसी पर चढ़ने की उतावली दिखाते हैं। राजा यह सुनकर कि इस शुभ सइयत में फाँसी चढ़ने वाला सीधा बैकुंठ जाएगा स्वयं को ही फाँसी पर चढ़ाने की आज्ञा देता है। इस तरह अन्यायी और मूर्ख राजा स्वत: ही नष्ट हो जाता है।

1960 तक भारतेन्दु के जिस नाटक 'अन्धेर नगरी' की प्रस्तुति रंग मंडलियों द्वारा एक प्रहसन नाटक के रूप में की जाती रही थी, बाद में देश की बदलती परिस्थितियों में यह नाटक जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में प्रजातंत्र की घोर विफलताओं और व्यवस्था के अध:पतन का धारदार रूपक बनता चला गया और

सत्यव्रत सिन्हा, ब.ब. कारन्त, मुद्राराक्षस, देवेन्द्रराज अंकुर, गिरीश रस्तोगी तथा देश के अन्य अनेक दिग्गज रंगकर्मियों ने अनेक बार विभिन्न स्थानों पर इसका मंचन व्यंग्य-प्रहसन के एक दस्तावेजी नाटक के रूप में किया।

भारतेन्दु ने संगीत और काव्य को प्राय: नाटक का अभिन्न अंग माना है। संगीत का प्रयोग नाटक में कितना अर्थवान, अनिवार्य और सांकेतिक ढंग से किया जा सकता है, यह 'अन्धेर नगरी' में विभिन्न धुनों के प्रयोग से समझा जा सकता है।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र कृत 'अन्धेर नगरी' की सम्पूर्ण कथावस्तु छह दृश्यों में विभाजित है। बाजार-दृश्य और दरबार-दृश्य नाटकीयता की दृष्टि से अनुपम हैं। बाजार का दृश्य पाठक को देश की वर्तमान व्यवस्था के संपूर्ण पाखंड के रूबरू लाकर खड़ा कर देता है। थाझीराम के संवाद सत्ता के सभी अहलकारों को बेनकाब कर देते हैं और पाचकवाले की कटुक्तियां महाजन, एडीटर, नाटकवाले, व्यापारी, साहेब और पुलिस सबका पर्दाफाश कर देती है और सारा सब्जी बाजार व्यंग्यात्मक अर्थ की व्यापकता में भारत की साढ़े दशक से भी अधिक स्वाधीनता की तमामतर विकृतियों का रूपक बन जाता है। देखिए क्या यह आज के तथाकथित सत्ता बगुला भगत अहलकारों का सच नहीं है–

चूरन साहेब लोग जो खाता। सारा हिन्द हजम कर जाता।।
चूरन पुलिस वाले खाते, सब कानून हजम कर जाते।
ले चूरन का ढेर, बेचा टके सेर। (पृ. 45)

गिरीश रस्तोगी की मानें तो 'अंधेर नगरी' अंध व्यवस्था का प्रतीक है। चौपट राजा विवेकहीनता और न्यायदृष्टि के न होने का मूर्त स्वरूप है। उसका न्याय भी अंधता का प्रमाण है, क्योंकि बकरी की मृत्यु का दंड देने के लिए गोवर्धन को पकड़ लिया गया अर्थात् कोई भी दंडित हो सकता है, लेकिन साथ ही भारतेंदु ने गोवर्धन के द्वारा मनुष्य की लोभवृत्ति पर भी व्यंग्य किया है। लोभवृत्ति ही मनुष्य को अंधेर नगरी को अंध व्यवस्था, अमानवीयता में फंसाती है। (वही, पृ. 31-32) ऐसी जीवंत, हरकत भरी और नाटकीय भाषा भी इस नाटक को सार्वकालिक बनाती है। नेमीचंद्र जैन ने 'अंधेर नगरी' की कालजायिता का श्रेय इसके नाटकीय ढांचे को दिया है। प्रसिद्ध निर्देशक ब.ब. कारन्त ने 'अंधेर नगरी' को सदाबहार नाटक और हिन्दी नाटक के इतिहास में संदर्भ नाटक माना है।

भारतेन्दुकाल और नाट्य समीक्षा

हिन्दी समीक्षा के आरम्भ की चर्चा करते हुए डॉ. रामदरश मिश्र ने भारतेन्दुकाल से आलोचना का आरंभ स्वीकार किया है और लिखा है कि अंग्रेजी साहित्य के प्रभाव से गद्य में निबन्धों तथा सम्पादकीय टिप्पणियों के रूप में आलोचना होने लगी थी। उन्होंने माना है कि इस काल की व्याख्या परक आलोचनाओं में गुण और दोष दर्शन प्रवृत्ति का प्राधान्य रहा। यहाँ तक कि स्वयं भारतेन्दु ने 'नाटक' नामक लेख में यह दर्शाया है कि हमारे पुराने सिद्धान्त आज कितने उपयोगी हैं और कितने अनुपयोगी तथा पाश्चात्य सिद्धान्तों में किन-किन का ग्रहण श्रेयस्कर होगा। इस प्रकार 'नाटक' लेख को प्रथम सैद्धान्तिक समीक्षात्मक कृति तथा भारतेन्दु को प्रथम समीक्षक माना गया है, परन्तु यह युग नाट्य प्रस्तुतियों की दृष्टि से और भी महत्त्वपूर्ण है। पारसी रंगकर्मियों ने सभी भाषाओं के रूपान्तरित नाटक प्रस्तुत कर अर्थप्राप्ति को अपना ध्येय बनाया था और उनमें चमत्कार के साथ कुछ निम्न स्तर (भद्देपन) को भी महत्त्व दिया जाने लगा था। इस प्रकार दर्शकवृंद को शिक्षित करने के बजाय भारतीय संस्कृति के आदर्श रूपों को खेमटिये वालों की तरह मंच पर प्रस्तुत किया जाने लगा। पारसियों को आदर्श से कोई मतलब नहीं था। वे तो व्यापारी थे नाटक के व्यापारी। बस इसी विरोधाभास ने भारतेन्दु के हृदय में भारतीय आदर्श को ललकारा और जागृत किया तत्पश्चात् पारसी प्रस्तुतियों का घोर विरोध किया जाने लगा। बस यहीं (19वीं शताब्दी) से सही समीक्षा का उदय हुआ।

नारायण प्रसाद 'बेताब' ने पारसियों की भाषा शैली के लिए अपनी समीक्षात्मक दृष्टि "न खालिस उर्दू न ठेठ हिन्दी" बतलाकर रखी है। हाँ, गिरीश रस्तोगी ने "चुटीले संवाद बोलते-बोलते पद्य में बोल जाना, हल्की किस्म के शेर अपनाए जाना" कहकर साहित्य और शैलीगत अपने विचार रखे हैं। 1903 में भट्ट जी ने एक लेख में लिखा था-"हिन्दू जाति तथा हिन्दुस्तान को जल्द गिरा देने का सुगम से सुगम लटका यह पारसी थियेटर हैं, जो दर्शकों को आशिकी, माशूकी का लुत्फ हासिल करने का बड़ा उम्दा जरिया है, क्या मजाल जो तमाशबीनों को कहीं से किसी बात में पुरानी हिन्दुस्तानी की झलक मन में आने पाये।" श्री जयशंकर प्रसाद ने भी इनकी प्रस्तुतियों को 'एक असम्बन्ध फूहड़ भड़ैती' लिखकर कटु भर्त्सना की है। इस प्रकार इन समीक्षाओं से कुछ पारिसयों की बाह्य प्रस्तुतियों में सुधार भी हुआ जिनमें श्री सूर विजय, व्याकुल भारत,

रासमहल नाटक मंडली आदि के नाम गणनीय हैं। सुधार का दूसरा कारण यह भी था कि भारतेन्दु नाटक मंडली के प्रसिद्ध अभिनेता डॉ. वीरेन्द्रनाथ दास, कृष्ण कौल, केशवदास टंडन आदि भी इसमें सक्रिय भाग लेने लगे थे। माधव शुक्ल ने भी पारसी रंगमंच के फूहड़पन को समाप्त करने में अपना पूर्ण सहयोग दिया था। फलस्वरूप पारसी फूहड़पन के साथ-साथ पारसी कम्पनियों का भी पतन हो गया और 1857 से हिन्दी रंगमंच ने अपनी जडें जमाना आरम्भ कर दिया।

इस प्रकार इस काल में समीक्षा के नाम पर केवल एक ही तत्त्व हमारे सामने उभर कर आता है वह है "हीन प्रदर्शनों का घोर विरोध।" इन सुधारवादी समीक्षकों में श्री विश्वम्भर सहाय व्याकुल और जनेश्वर प्रसाद भायल का इसमें विशेष योगदान रहा। पं. बालकृष्ण भट्ट की भी इसमें महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। इनकी प्रेरणा से पं. माधव शुक्ल, प्रताप नारायण मिश्र, महादेव भट्ट, पं. गोपालदत्त, रास बिहारी शुक्ल, देवेन्द्रनाथ बेनर्जी, मुद्रिका प्रसाद आदि के नाम गणनीय हैं। इन्होंने हिन्दी रंग आन्दोलन से हिन्दी रंगमंच को विकसित करने में अत्यधिक सहयोग दिया। इस काल में नाट्य प्रतिस्पर्द्धा के तो अनेक उद्धरण मिलते हैं, परन्तु किसी भी प्रकार की सीधी समीक्षात्मक अभिव्यक्ति अप्राप्य है। इस युग की सबसे बड़ी विशेषता यही है कि हिन्दी रंगकर्मियों ने दर्शक रुचि को बदल दिया। चमत्कार प्रयोग और शेर ओ शायरी से प्रभावित दर्शक रुचि को परिष्कृत कर शुद्ध साहित्यिक एवं राष्ट्रीय प्रेरणायुक्त परिस्थितियों की ओर खींच लाना कोई सहज कार्य नहीं कहा जा सकता।

केवल 'ब्राह्मण' नामक पत्र में श्री रामनारायण त्रिपाठी और प्रताप नारायण मिश्र द्वारा लिखित कुछ नाट्यालोचनाएँ प्राप्त होती हैं तथा मौखिक समीक्षा का एक उदाहरण भी मिलता है कि एक मजिस्ट्रेट ने भारतेन्दु के नाटकों को देखकर उन्हें कवि शिरोमणि शेक्सपियर से भी उत्तम बताया और भट्ट जी ने 1903 में अपने लेख में पारसियों की प्रस्तुतियों को हीन बतलाया और भारतेन्दु ने नाटक नामक लेख में पारसियों के कुछ कुरुचिपूर्ण प्रदर्शन का चित्रण भी किया। समाज सुधार और जनजागृति की राष्ट्रीय सांस्कृतिक चेतना के उद्देश्य से भारतेन्दु ने व्यावसायिक नाटक मण्डलियों की पद्धति का भी खण्डन किया। भारतेन्दु स्वयं एक अच्छे नाटककार, अभिनेता, निदेशक और व्यवस्थापक भी थे इसलिए रंगमंच के हर अच्छे-बुरे पहलू को अच्छी तरह पहचानते थे। उनकी कलम में जो समीक्षा रूप हमें दिखाई देता है, उसी आधार पर उन्हें ही हिन्दी रंग आन्दोलन का सर्वप्रथम नाट्य-समीक्षक मानना समीचीन प्रतीत होता है।

भारतेन्दुकाल की नाट्यकृतियों से समीक्षात्मक दृष्टि का पता चलता है कि अभिनय में अतिनाटकीयता थी, उच्च स्वर, संगीतपूर्ण वाणी, सुन्दर आकर-प्रकार, अनूदित नाटकों का प्रचलन, मंगलाचरण, सूत्रधार, नेपथ्य और आकाशभाषित आदि का प्रयोग संस्कृत के अनुरूप, गीत मौन झाँकी, रामलीला-सी चित्र सज्जा, पद्यात्मक संवाद, नाट्यधर्मी मंच सज्जा, प्रत्येक नाटक का मौन झाँकियों पर समाप्त होना, लम्बे संवाद, जनोपयोगी कथोपकथन, लोकप्रिय गीत ध्वनियाँ, पात्रानुकूल भाषा, देशभक्ति और देशोद्धार पूर्ण कथानक ब्रज और खड़ी बोली मिश्रित संवाद मेलों, बाजारों आदि में नाटक प्रस्तुत करना आदि-आदि।

स्त्री पात्रों की भूमिका पुरुष ही करते थे परन्तु उनमें इतनी स्वाभाविकता थी कि दर्शक रो पड़ते थे, भारतेन्दु के द्वारा 'हरिश्चन्द्र' और माणक जी के द्वारा शैव्या की भूमिकाएँ ऐसे ही उदाहरण हैं।

उस समय के दर्शकों को गुणग्य एवं रसिक भी बतलाया गया है। डॉ. गोविन्द चातक ने भारतेन्दुकालीन नाट्य रचना की समीक्षा की है। इन समीक्षकों के द्वारा तत्कालीन वेशभूषा, प्रकाश योजना तथा नेपथ्य संगीत की ओर ध्यान दिया गया है। डॉ. गिरीश रस्तोगी आदि ने भी भारतेन्दुकाल के रंगबोध को अपनी समीक्षात्मक दृष्टि से उभारा है।

श्रीकृष्णदास ने भारतेन्दु की नाटक रचना और गठन में कुछ ढीलापन बतलाया है साथ ही उसे सही भी कह दिया गया क्योंकि उसमें समीक्षक को लेखक के द्वारा एक नई दिशा की खोज का संकेत मिला।

डॉ. बच्चनसिंह ने भारतेन्दु के नाटकों को एक 'क्रांतिकारी कदम' बताया। डॉ. सी.पी. सिंह ने सैद्धान्तिक समीक्षा करते हुए लिखा है कि भारतेन्दु जी का प्रधान तथा धीरोदात्त और धीर ललित पर ही विशेष अनुराग लक्षित होता है, उनके पास सभी कवि उच्च कोटि के हैं।

भारतेन्दुयुगीन प्रमुख गद्य रचनाकार

शीतलाप्रसाद त्रिपाठी

शीतलाप्रसाद त्रिपाठी (जनवरी, 1895) भारतेंदु के सहयोगी, साहित्यसेवी विद्वान् तथा हिंदी के प्रथम अभिनीत नाटक 'जानकीमंगल' के रचयिता थे। वे ग्रियर्सन के भी सहयोगी थे।

शीतलाप्रसाद जी काशी के गोवर्धनसराय मुहल्ले के निवासी देवीदयाल त्रिपाठी के पुत्र तथा पटना कालेज के संस्कृत अध्यापक और अनेक हिंदी-संस्कृत-ग्रंथों के प्रणेता छोटूराम त्रिपाठी के अग्रज थे। इन्होंने भारतेंदु द्वारा संस्कृत से अनूदित नाटकों का संशोधन तथा परिष्कार कर उनके अनेक साहित्यिक कार्यों में हाथ बँटाया था। ये स्वयं अच्छे कवि, वैयाकरण, धर्मशास्त्री, ज्योतिषी और नाटककार थे। खड्गविलास प्रेस के स्वामी रामदीन सिंह के अनुरोध पर इन्होंने हिंदी का बृहत् व्याकरण लिखना आरंभ किया था किंतु असामयिक निधन के कारण उसे पूरा न कर सके।

उस समय जब व्यावसायिक नाटक कंपनियों का जोर था, बाबू ऐश्वर्यनारायण सिंह, उर्फ लरवर बबुआ के प्रयत्न से काशी में 'बनारस थियेटर' के मंच पर चैत्र शुक्ल एकादशी, सं. 1925 वि. को, काशीनरेश महाराज ईश्वरीप्रसाद नारायण सिंह के आदेश से त्रिपाठी जी द्वारा रचित 'जानकीमंगल' सबसे पहले खेला गया। भारतेंदु जी ने इस अभिनय में लक्ष्मण की भूमिका प्रस्तुत की थी जिसका विवरण 8 मई, 1868 के 'इंडिया मेल' में प्रकाशित हुआ था। यद्यपि हिंदी की पद्यप्रधान नाट्य परंपरा का निर्वाह करने के कारण इससे अभिनय नाट्य प्रणाली तथा कलात्मक उपलब्धि की आशा करना व्यर्थ है, तथापि खड़ी बोली गद्य की प्रधानता तथा अभिनेयता की दृष्टि से इसका ऐतिहासिक महत्त्व है। कथावस्तु, संवादयोजना आदि पर तुलसी का प्रभाव स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है अनेक प्रसंग या तो रामचरितमानस, विनयपत्रिका और गीतावली के उद्धरणों पर आधारित हैं या वे कुछ घटा बढ़ाकर ज्यों के त्यों स्वीकार कर लिए गए हैं। इसकी नाटकीयता तथा रोचकता का श्रेय वस्तुतः 'मानस' की नाटकीय संवादयोजना को है।

जानकीमंगल के अतिरिक्त त्रिपाठी जी ने 'रामचरितावती' (1885 ई. में प्रकाशित), 'सावित्रोचरित्र' (1895 ई.), 'नलदमयंती', 'विनयपुष्पावली' और 'भारतोन्नति स्वप्न' 'करुणत्रिशतिका' (1894) आदि पुस्तकें रची हैं। संभव है, भारतेंदुकृत 'नाटक' में उल्लिखित 'प्रबोधचंद्रोदय' के हिंदी अनुवादक पं. शीतलाप्रसाद भी यही हों। रामदीन सिंह की डायरी के अनुसार इनकी मृत्यु जनवरी, 1895 में हुई।

प्रतापनारायण मिश्र

प्रतापनारायण मिश्र (सितंबर, 1856 - जुलाई, 1894) भारतेंन्दु मंडल के प्रमुख लेखक, कवि और पत्रकार थे। वह भारतेंदु निर्मित एवं प्रेरित हिंदी लेखकों

की सेना के महारथी, उनके आदर्शों के अनुगामी और आधुनिक हिंदी भाषा तथा साहित्य के निर्माणक्रम में उनके सहयोगी थे। भारतेंदु पर उनकी अनन्य श्रद्धा थी, वह अपने को उनका शिष्य कहते तथा देवता की भाँति उनका स्मरण करते थे। भारतेंदु जैसी रचनाशैली, विषयवस्तु और भाषागत विशेषताओं के कारण मिश्र जी "प्रतिभारतेंदु" अथवा "द्वितीयचंद्र" कहे जाने लगे थे।

मिश्र जी उन्नाव जिले के अंतर्गत बैजे गाँव निवासी, कात्यायन गोत्रीय, कान्यकुब्ज ब्राह्मण पं॰ संकटादीन के पुत्र थे। बड़े होने पर वह पिता के साथ कानपुर में रहने लगे और अक्षरारंभ के पश्चात् उनसे ही ज्योतिष पढ़ने लगे। किंतु उधर रुचि न होने से पिता ने उन्हें अँगरेजी मदरसे में भरती करा दिया। तब से कई स्कूलों का चक्कर लगाने पर भी वह पिता की लालसा के विपरीत पढ़ाई लिखाई से विरत ही रहे और पिता की मृत्यु के पश्चात् 18-19 वर्ष की अवस्था में उन्होंने स्कूली शिक्षा से अपना पिंड छुड़ा लिया।

इस प्रकार मिश्र जी की शिक्षा अधूरी ही रह गई। किंतु उन्होंने प्रतिभा और स्वाध्याय के बल से अपनी योग्यता पर्याप्त बढ़ा ली थी। वह हिंदी, उर्दू और बँगला तो अच्छी जानते ही थे, फारसी, अँगरेजी और संस्कृत में भी उनकी अच्छी गति थी।

मिश्र जी छात्रावस्था से ही "कविवचनसुधा" के गद्य-पद्य-मय लेखों का नियमित पाठ करते थे जिससे हिंदी के प्रति उनका अनुराग उत्पन्न हुआ। लावनौ गायकों की टोली में आशु रचना करने तथा ललित जी की रामलीला में अभिनय करते हुए उनसे काव्यरचना की शिक्षा ग्रहण करने से वह स्वयं मौलिक रचना का अभ्यास करने लगे। इसी बीच वह भारतेंदु के संपर्क में आए। उनका आशीर्वाद तथा प्रोत्साहन पाकर वह हिंदी गद्य तथा पद्य रचना करने लगे। 1882 के आस-पास "प्रेमपुष्पावली" प्रकाशित हुआ और भारतेंदु जी ने उसकी प्रशंसा की तो उनका उत्साह बहुत बढ़ गया।

15 मार्च 1883 को, ठीक होली के दिन, अपने कई मित्रों के सहयोग से मिश्र जी ने "ब्राह्मण" नामक मासिक पत्र निकाला। यह अपने रूप रंग में ही नहीं, विषय और भाषाशैली की दृष्टि से भी भारतेंदु युग का विलक्षण पत्र था। सजीवता, सादगी बाँकपन और फक्कड़पन के कारण भारतेंदुकालीन साहित्यकारों में जो स्थान मिश्र जी का था, वही तत्कालीन हिंदी पत्रकारिता में इस पत्र का था किंतु यह कभी नियत समय पर नहीं निकलता था। दो-तीन बार तो इसके बंद होने तक की नौबत आ गई थी। इसका कारण मिश्र जी का व्याधिमंदिर शरीर

ओर अर्थाभाव था। किंतु रामदीन सिंह आदि की सहायता से यह येन-केन प्रकारेण संपादक के जीवनकाल तक निकलता रहा। उनकी मृत्यु के बाद भी रामदीन सिंह के संपादकत्व में कई वर्षो तक निकला, परंतु पहले जैसा आकर्षण वे उसमें न ला सके।

1889 में मिश्र जी 25 रू. मासिक पर "हिंदोस्थान" के सहायक संपादक होकर कालाकाँकर आए। उन दिनों पं॰ मदनमोहन मालवीय उसके संपादक थे। यहाँ बालमुकुंद गुप्त ने मिर जी से हिंदी सीखी। मालवीय जी के हटने पर मिश्र जी अपनी स्वच्छंद प्रवृत्ति के कारण वहाँ न टिक सके। कालाकाँकर से लौटने के बाद वह प्राय: रुग्ण रहने लगे। फिर भी समाजिक, राजनीतिक, धार्मिक कार्यो में पूर्ववत् रुचि लेते और "ब्राह्मण" के लिये लेख आदि प्रस्तुत करते रहे। 1891 में उन्होंने कानपुर में "रसिक समाज" की स्थापना की। कांग्रेस के कार्यक्रमों के अतिरिक्त भारतधर्ममंडल, धर्मसभा, गोरक्षिणी सभा और अन्य सभा समितियों के सक्रिय कार्यकर्ता और सहायक बने रहे। कानपुर की कई नाट्य सभाओं और गोरक्षिणी समितियों की स्थापना उन्हीं के प्रयत्नों से हुई थी।

मिश्र जी जितने परिहासप्रिय और जिंदादिल व्यक्ति थे उतने ही अनियमित, अनियंत्रित, लापरवाह और काहिल थे। रोग के कारण उनका शरीर युवावस्था में ही जर्जर हो गया था। तो भी स्वास्थ्यरक्षा के नियमों का वह सदा उल्लंघन करते रहे। इससे उनका स्वास्थ्य दिनों दिन गिरता गया। 1892 के अंत में वह गंभीर रूप से बीमार पड़े और लगातार डेढ़ वर्षो तक बीमार ही रहे। अंत में 38 वर्ष की अवस्था में 6 जुलाई 1894 को दस बजे रात में भारतेंदुमंडल के इस नक्षत्र का अवसान हो गया।

रचनाएँ

प्रतापनारायण मिश्र भारतेंदु के विचारों और आदर्शों के महान प्रचारक और व्याख्याता थे। वह प्रेम को परमधर्म मानते थे। हिंदी, हिंदू, हिंदुस्तान उनका प्रसिद्ध नारा था। समाजसुधार को दृष्टि में रखकर उन्होंने सैकड़ों लेख लिखे हैं। बालकृष्ण भट्ट की तरह वह आधुनिक हिंदी निबंधों को परंपरा को पुष्ट कर हिंदी साहित्य के सभी अंगों की पूर्णता के लिये रचनारत रहे। एक सफल व्यंग्यकार और हास्यपूर्ण गद्य-पद्य-रचनाकार के रूप में हिंदी साहित्य में उनका विशिष्ट स्थान है। मिश्र जी की मुख्य कृतियाँ निम्नांकित हैं :

(क) नाटक: भारतदुर्दशा, गोसकट, कलिकौतुक, कलिप्रभाव, हठी हम्मीर, जुआरी खुआरी। सांगीत शाकुंतल (अनुवाद)।

(ख) मौलिक गद्य कृतियाँ : चरिताष्टक, पंचामृत, सुचाल शिक्षा, बोधोदय, शैव सर्वस्व।

(ग) अनूदित गद्य कृतियाँ: नीतिरत्नावली, कथामाला, सेनवंश का इतिहास, सूबे बंगाल का भूगोल, वर्णपरिचय, शिशुविज्ञान, राजसिंह, इदिरा, राधारानी, युगलांगुलीय।

(घ) कविता : प्रेमपुष्पावली, मन की लहर, ब्रैडला स्वागत, दंगल खंड, कानपुर महात्म्य,शृंगारविलास, लोकोक्तिशतक, दीवो बरहमन (उर्दू)।

प्रताप पीयूष, निबन्ध नवनीत, कलि कौतुक, हठी हमीर, भारत दुर्दशा, गौ संकट, जुआरी खुआरी, मन की लहर, प्रताप लहरी, काव्य कानन। भारत दुर्दशा, गो संकट, कलि-प्रवाह, हठी हमीर आदि मिश्र जी के नाटक हैं। कलि, कौतुक, जुआरी, बुआरी उनके रूपक हैं। संगीत शकुंतला लावनी के ढंग पर गाने योग्य खड़ी बोली में पद्य-बद्ध नाटक है। निबंध नवीनतम में उनके निबंधों का संग्रह है और काव्य-कानन में आलोचनाएँ हैं।

वर्ण्य-विषय

मिश्र जी के निबंधों में विषय की पर्याप्त विविधता है। देव-प्रेम, समाज-सुधार एवं साधारण मनोरंजन आदि मिश्र जी के निबंधों के मुख्य विषय थे। उन्होंने 'ब्राह्मण' मासिक पत्र में हर प्रकार के विषय पर निबंध लिखे। जैसे - घूरे का लता विनै, कनातन का डौल बाँधे, समझदार की मौत है, बात मनोयोग, बृद्ध, भौं आदि।

मिश्र जी हिंदी हिंदू, हिंदुस्तान के कट्टर समर्थक थे, अत: उनकी रचनाओं में इनके प्रति विशेष मोह प्रकट हुआ।

भाषा

खड़ी बोली के रूप में प्रचलित जनभाषा का प्रयोग मिश्र जी ने अपने साहित्य में किया। प्रचलित मुहावरों, कहावतों तथा विदेशी शब्दों का प्रयोग इनकी रचनाओं में हुआ है। भाषा की दृष्टि से मिश्र जी ने भारतेंदु का अनुसरण किया और जन साधारण की भाषा को अपनाया। भारतेंदु जी के समान ही मिश्र जी भाषा की कृत्रिमता से दूर हैं। वह स्वाभाविक हैं। पंडिताऊपन और पूर्वीपन अधिक है।

उसमें ग्रामीण शब्दों का प्रयोग स्वच्छंदता पूर्वक हुआ। संस्कृत, अरबी, फारसी, उर्दू, अंग्रेजी, आदि के प्रचलित शब्दों को भी ग्रहण किया गया है। भाषा विषय के अनुकूल है। गंभीर विषयों पर लिखते समय और गंभीर हो गई है। कहावतों और मुहावरों के प्रयोग में मिश्र जी बड़े कुशल थे। मुहावरों का जितना सुंदर प्रयोग उन्होंने किया है वैसा बहुत कम लेखकों ने किया है। कहीं-कहीं तो उन्होंने मुहावरों की झड़ी-सी लगा दी है।

शैली

मिश्र जी की शैली में वर्णनात्मक, विचारात्मक तथा हास्य विनोद शैलियों का सफल प्रयोग किया गया है। इनकी शैली को दो प्रमुख प्रकारों में बाँटा जा सकता है।

विचारात्मक शैली- साहित्यिक और विचारात्मक निबंधों में मिश्र जी ने इस शैली को अपनाया है। कहीं-कहीं इस शैली में हास्य और व्यंग्य का पुट मिलता है।

इस शैली की भाषा संयत और गंभीर है। 'मनोयोग' शीर्षक निबंध का एक अंश देखिए- इसी से लोगों ने कहा है कि मन शरीर रूपी नगर का राजा है। और स्वभाव उसका चंचल है। यदि स्वच्छ रहे तो बहुधा कुत्सित ही मार्ग में धावमान रहता है।

व्यंग्यात्मक शैली - इस शैली में मिश्र जी ने अपने हास्य और व्यंग्य पूर्ण निबंध लिखे हैं। यह शैली मिश्र जी की प्रतिनिधि शैली है। जो सर्वथा उनके अनुकूल है। वे हास्य और विनोद प्रिय व्यक्ति थे। अतः प्रत्येक विषय का प्रतिपादन हास्य और विनोद पूर्ण ढंग से करते थे। हास्य और विनोद के साथ-साथ इस शैली में व्यंग्य के दर्शन होते हैं। विषय के अनुसार व्यंग्य कहीं-कहीं बड़ा तीखा और मार्मिक हो गया है। इस शैली में भाषा सरल, सरस और प्रवाहमयी है। उसमें उर्दू, फारसी, अंग्रेजी और ग्रामीण शब्दों का प्रयोग हुआ है। लोकोक्तियाँ और मुहावरों के कारण यह शैली अधिक प्रभावपूर्ण हो गई है। एक उदाहरण देखिए-

दो एक बार धोखा खा के धोखेबाजों की हिकमत सीख लो और कुछ अपनी ओर से झपकी-फुंदनी जोड़ कर उसी की जूती उसी का सर कर दिखाओ तो बड़े भारी अनुभव शाली वरचं 'गुरु' गुड़ ही रहा और चेला शक्कर हो गया। 'का जीवित उदाहरण कहलाओगे।'

समालोचना

मिश्र जी भारतेंदु मंडल के प्रमुख लेखकों में से थे। उन्होंने हिंदी साहित्य की विविध रूपों में सेवा की। वे कवि होने के व्यतिरिक्त उच्चकोटि के मौलिक निबंध लेखक और नाटककार थे। हिंदी गद्य के विकास में मिश्र जी का बड़ा योगदान रहा है। आचार्य शुक्ल जी ने पं॰ बालकृष्ण भट्ट के साथ मिश्र जी को भी महत्त्व देते हुए अपने हिंदी-साहित्य के इतिहास में लिखा है- 'पं. प्रताप नारायण मिश्र और पं॰ बालकृष्ण भट्ट ने हिंदी गद्य साहित्य में वही काम किया जो अंग्रेजी गद्य साहित्य में एडीसन और स्टील ने किया।

भारतेन्दु युग की आधुनिक हिन्दी गद्य - साहित्य का मूल्यांकन

भारतेन्दु पूर्व साहित्यिक काव्यधारा

भारतेन्दु के पूर्ववर्ती कवियों की ब्रजभाषा - रचनाओं को निम्नलिखित तीन वर्गों में विभक्त किया जा सकता है: -

1. भक्ति काव्य,
2. श्रृंगार रस का काव्य,
3. रीति - निरूपण काव्य।

भक्तिकाव्य के रचियताओं में रीवा - नरेश रघुराजसिंह (1823 से 1879) का प्रमुख स्थान है उन्होंने प्रबन्ध और मुक्तक दोनों शैलियों में लगभग अठ्ठाइस कृतियों की रचना की थी। जिनमें कुछ 'भारतेन्दु - युग' की परिधि में आती हैं।

उदाहरणार्थ, 'सुंदर शतक', 'पत्रिका', 'रूक्मिणी - परिणय', 'आनन्दाम्बुनिधि', और 'श्रीमद्भागवत महात्म्य', भारतेन्दु - पूर्व काल की कृतियाँ हैं। जबकि 'रामस्वयं वर', 'भक्तिविलास', 'रामरसिकावली', आदि की रचना सन् 1869 अथवा इसके बाद की हैं। वे मुख्यत: 'रामभक्त' थे, किन्तु कृष्ण लीलाओं का गान भी उन्होंने पूर्ण मनोयोगपूर्वक किया है। भक्ति के साथश्रृंगारिकता भी उनके काव्य में विद्यमान है। सूर और तुलसी जैसी भक्ति भावना, केशव जैसा प्रबन्ध -कौशल, और ब्रजभाषा की रमणीयता उनके कृतित्त्व की उल्लेखनीय विशेषताएँ हैं। कृष्णभक्त कवियों में लखनऊ के वैश्य बंधुओं 'साह कुंदनलाल' तथा 'साह फुंदनलाल' का उल्लेख अपेक्षित है जिन्हों ने वृंदावन में निवास कर क्रमश:

'ललित किशोरी' तथा 'ललित माधुरी' नामों से माधुर्य भक्तिपरक पदों की रचना की। इनमें ललित किशोरी (रचनाकाल - 1856 से 1873) का स्थान प्रमुख है। उनकी काव्यशैली भी अपेक्षाकृत अधिक प्रौढ़, मधुर व मार्मिक है।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के पिता गोपालचन्द्र 'गिरिधरदास' (1833 से 1860) द्वारा लिखित 'राधाश्रोत्' , 'गोपालश्रोत, 'जरासन्धवध महाकाव्य' और 'बलराम - कथामृत' भी 'कृष्ण - कथा' पर आधारित रचनाएँ हैं। यूँ तो उन्होंने 'रामकथामृत' की भी रचना की है। भाषा - परिष्कार और अलंकार - नियोजन पर उनका विशेष ध्यान रहा है।

भारतेन्दु - युग का नवीन-परिवेश

आलोच्य - युग में जनचेतना पुर्नजागरण की भावना से अनुप्राणित थी फलस्वरूप सामाजिक, सांस्कृतिक और राजनैतिक क्षेत्रों में न केवल अतिरिक्त सक्रियता थी, अपितु इन सब में गहन अन्तः सम्बन्ध विद्यमान था। भारतेन्दु - युगीन कवि - कर्तव्य पर इसका प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था। इसकी परणति विषय - चयन में व्यापकता और विविधता के रूप में हुई।श्रृंगारिक रसिकता अलंकार - मोह, रीति - निरूपण, प्रकृति उद्दीपनात्मक चित्रण, प्रभृति रीतिकालीन प्रवृत्तियों का महत्त्व क्रमशः कम होता गया।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने जनता को उद्‌बोधन प्रदान करने के उद्देश्य से 'जातीय - संगीत' अर्थात् 'लोक - गीत' की शैली पर सामाजिक कविताओं की रचनाओं पर बल दिया। मातृ-भूमि प्रेम, स्वदेशी वस्तुओं का व्यवहार, गौरक्षा, बालविवाह - निषेध, शिक्षा - प्रसार का महत्त्व, मद्य - निषेध, भ्रूण हत्या की निंदा, आदि विषयों को कविगण शोधार्थी के अनुसार इस युग में अधिकाधिक अपनाने लगे थे। 'राष्ट्रीय - भावना' का उदय भी हिन्दी साहित्य के इस काल की अनन्य विशेषता है" ।

भारतेन्दु - युगीन रचनाओं में देशभक्ति

भारतीय वीरों में प्रताप, छत्रसाल, शिवाजी आदि ने क्षेत्र विशेष (चित्तौड़, बुन्देलखण्ड, और महाराष्ट्र) की रक्षा के लिए जिस तत्परता और दृढ़ता का परिचय दिया था, उसका स्तवन करने वाले भूषण प्रभृति कवि क्षेत्रीय भावना अर्थात संकीर्ण राष्ट्रीयता से ऊपर नहीं उठ सके थे। 'भारतेन्दु-युगीन' कवियों ने भारतीय इतिहास के गौरवशाली पृष्ठों की स्मृति तो अनेक बार दिलायी, पर

उनकी 'राष्ट्रीय-भावना' केवल यहीं तक सीमित नहीं रही। अंग्रेजों की विचारधारा और उनकी देशभक्तिपूर्ण कविताओं से भी उन्होंने यथेष्ट प्रेरणा ली, जिसका फल यह हुआ कि क्षेत्रीयता से ऊपर उठकर वे सम्पूर्ण राष्ट्र की नब्ज को टटोलने लगे। 'हमारो उत्तम भारत देश' (राधाचरण गोस्वामी) और 'धन्य भूमि भारत सब उतननि की उपजाबनि' (प्रेमघन) आदि काव्य पंक्तियाँ शोधार्थीनुसार इसी तथ्य को प्रकट करती हैं।

' देशभक्ति' की भावना बाद में मैथलीशरणगुप्त कृत 'भारत - भारती', में देखने को मिलती है। उसकी प्रेरणा - भूमि भारतेन्दु, प्रेमघन, प्रतापनारायण मिश्र, राधाकृष्णदास आदि की कविताएँ ही हैं। भारतेन्दु की 'विजयिनी विजय वैजयन्ती', प्रेमघन की 'आनन्द अरूणो हृदय', प्रतापनारायण मिश्र की 'महापर्व' और 'नया सम्वत्' तथा राधाकृष्णदास की 'भारत बारहमासा 'और 'विनय' शीर्षक कविताएँ 'देशभक्ति' की प्रेरणा से युक्त हैं। इस संदर्भ में उन्होंने अपने प्रतिपाद्य को कही व्यंग्योक्तियों के माध्यम से भी प्रकट किया तो कहीं, अतीत के प्रेरणदायी प्रसंगों की चर्चा द्वारा नवयुवकों को पुर्नजागरण का मन्त्र दिया है। अंग्रेजों की 'शोषण - नीति' का भारतेन्दु जी द्वारा प्रत्यक्ष उल्लेख शोधार्थीनुसार, प्रस्तुत निम्न पंक्ति में इस भावना की चरम परिणति है -

भीतर - भीतर सब रस चूसै, हँसि - हँसि के तन - मन - धन मूसै।
जहिर बातन में अति तेज, क्यों सखि सज्जन ! नहीं अंगरेज।।
(भारतेन्दु हरिश्चन्द्र)

भारतेन्दु-युगीन रचनाओं में सामाजिक - चेतना

आधुनिक हिन्दी गद्य - साहित्य में 'भारतेन्दु - युग' की मुख्य विशेषता यह रही है कि कवियों ने सामाजिक जीवन की उपेक्षा न कर जनता की समस्याओं के निरूपण की ओर पहली बार व्यापक रूप में ध्यान दिया। इससे पूर्व रीतिकाल में राजाओं और सामन्तों के आश्रय में लिखित दरबारी काव्य में सामाजिक परिवेष के चित्रण की ओर नगण्य रूप में ध्यान दिया। इसलिए भारतेन्दु- युग में नारी- शिक्षा, विधवाओं की दुर्दशा, अस्पृश्यता - छुआछूत आदि को लेकर जो सहानु-भूतिपूर्ण कविताएँ लिखी गयीं। उनके प्रतिपाद्य की नवीनता ने स:हृदय सामाजिक - समुदाय को विशेष आकृष्ट किया। उपरोक्त संदर्भित इन समस्याओं को रूपायित करने के लिए कवियों ने एक - दूसरे के साथ और मध्यमवर्गीय सामाजिक परिस्थतियों का चित्रण किया, तो दूसरी ओर रूढ़िवादिता

का विरोध कर सामाजिक –विकास – चेतना की आंकाक्षाओं की भी अपनी रचनाओं में अभिव्यक्ति की। किन्तु फिर भी आर्यसमाज, ब्राह्मसमाज आदि के प्रभाव से इस युग में जो नवीन सामाजिक – चेतना उभरने लगी थी और भारतेन्दु, प्रेमघन, प्रतापनारायण मिश्र, आदि की रचनाओं में जिस सुधारवादी मनोवृत्ति की प्रमुखता रही, उसके प्रति सभी कवियों का दृष्टिकोण उदारता–समन्वित नहीं था।

' भारत – धर्म' कविता में अम्बिकादत्त व्यास द्वारा वर्णाश्रम – धर्म का दृढ़तापूर्वक अनुमोदन और रामचरण गोस्वामी द्वारा विभिन्न कविताओं में प्राचीन शास्त्र – नीतियों का समर्थन एवं विधवा – विवाह का विरोध ऐसे ही उदाहरण हैं जिनमें भारतेन्दु – युगीन समस्याओं की जानकारी ऐसे कवियों को भी पूरी तरह थी, किन्तु उनके सामाधान के लिए वे परम्परागत धर्म शास्त्र को ही आधार बनाना चाहते थे। इसके विपरीत भारतेन्दु जी ने 'भारत – दुर्दशा' नाटक में वर्णाश्रम धर्म की संकीर्णता का विरोध प्रस्तुत निम्नार्थ शब्दों में किया –

" बहुत हमने फैलाये धर्म, बढ़ाया छुआछूत का कर्म "

(भारतेन्दु हरिश्चन्द्र)

' मन की लहर' में प्रताप नारायण मिश्र की दृष्टि बाल – विधवाओं की करूण दशा की ओर गयी जिसका उदाहरण निम्नवत है –

" कौ न करेजो नहि कसकत सुनि बिपति बालबिधवन की "

(प्रतापनारायण मिश्र)

भारतीय अर्थव्यवस्था को सुदृढ़ करने की कामना से संदर्भित इस युग के कवियों ने स्वदेशी उद्योगों का प्रोत्साहन देने के लिए और स्वदेशी वस्तुओं का प्रयोग करने पर भी बल दिया। जिसका उदाहण भारतेन्दु जी ने 'प्रबोधिनी' नामक कविता में विदेशी वस्तुओं के बहिष्कार करने का प्रत्यक्ष प्रमाण कवि की निम्न रचना में मिलता है –

"जीवन बिदेस की वस्तु लै तो बिन कछु नहि करि सकत"

(भारतेन्दु हरिश्चन्द्र)

प्रेमघन की 'आर्याभिनन्दन', प्रतापनारायण मिश्र की 'होली है' तथा अम्बिकादत्त व्यास की 'भारतधर्म' शीर्षक नामक रचनाओं में भी विदेशी वस्त्रों और अन्य वस्तुओं के आयात को भारत की आर्थिक दुर्गति का मूल कारण माना गया है। यद्यपि प्रेमघन ने 'स्वागत' शीर्षक कविता में, अम्बिकादत्त व्यास के 'जटिल वणिक्' में और राधाकृष्णदास ने 'जुबिली' में बिजली, यातायात के सुगम साधनों, सिंचाई की सुविधाओं में, शिक्षा – प्रसार आदि का अलभ्य लाभ

प्रदान करने के लिए ब्रिटिश शासन की भी प्रशंसा की है, परन्तु इसके साथ भी वह यह नहीं भूले कि सामान्य जनता और किसानों की दरिद्रता घटने के स्थान पर बढ़ती ही गयी, अर्थात् इसीलिए पाश्चात्य सभ्यता के सम्पर्क में देश के सांस्कृतिक पुनरुत्थान की आवश्यकता का अनुभव करते हुए भी उन्होंने शासक वर्ग द्वारा देश के आर्थिक शोषण का घोर विरोध अपनी रचनाओं, कृतियों के माध्यम से किया। प्रतापनारायण मिश्र की 'एक गजल' रचना में 'भारत – दुर्दशा' पर गहरी चिंता शोधार्थी के अनुसार निम्नवत प्रकट की गयी है –

"अभी देखिए क्या दशा देश की हो, बदलता है रंग आसमां कैसे कैसे!"

(प्रतापनारायण मिश्र)

कहाँ तो प्राचीन भारत की भौतिक और सांस्कृतिक समृद्धि और कहाँ अकाल, महँगाई, महामारी तथा करों के बोझ से त्रस्त जन – जीवन ! परिवार, समाज और देश की क्रमशः बढ़ती हुई हीन भावना के चित्रण में भी रचनाकारों की वाणी अनायास करुणा से भीग उठी। अतः भारतेन्दु जी ने और प्रतापनारायण मिश्र जी ने समाज की सम्पूर्ण पीड़ा का सहतार्थ वर्णन निम्नवत् किया –

"रोवहू सब मिलि, आवहु भारत भाई।
हा ! हा ! भारत – दुर्दशा न देखी जाई।।"

(भारतेन्दु हरिश्चन्द्र)

"तबहि लख्यो जहं रह्यो एक दिन कंचन बसरत।
तहं चौथाई जन रूखी रोटिहु को तरसत।।
जहं आमन की गुठली अरू बिरछन की छालैं।
ज्वार चून महं मेलि लोग परिवारहिं पालैं।।
नौन तेल लकरी घासहु पर टिकस लगे जहं।
चना चिरौंजी मोल मिलैं जहं दीन प्रजा कहं।।"

(प्रतापनारायण मिश्र)

अभिप्राय यह है कि 'सामाजिक – परिवेश' के चित्रण में कुछ कवियों की दृष्टि सुधारवादी थी, तो कुछ कवियों की दृष्टि यथास्थितिवादी भी थी। जिनका उदाहरण प्रस्तुत उपरोक्त वर्णन में निहित है।

भारतेन्दु – युगीन लेखन में भक्ति-भावना

आधुनिक हिन्दी गद्य – साहित्य में भारतेन्दु – युग में परम्परागत धार्मिक और भक्ति – भावना का अपेक्षाकृत गौण स्थान प्राप्त हुआ है। फिर भी इस काल के भक्तिकाव्य को तीन वर्गों में विभाबजित किया जा सकता है –

1. निर्गुण भक्ति काव्य,
2. वैष्णव भक्ति काव्य,
3. स्वदेशानुराग - समन्वित ईश्वर - भक्ति।

उक्त प्रथम दो में किसी उल्लेखनीय नवीनता का परिचय न हुआ बल्कि मध्ययुगीन परिपाटी का अनुसरण मात्र ही किया गया, किन्तु भक्ति और देश - प्रेम को एक ही समकोण पर प्रतिष्ठित करना, किसी सीमा तक संवेदन की 'मौलिकता' का परिचायक है। निर्गुण - भक्ति इस काल में मुख्य साधना - दिशा नहीं थी। फिर भी कुछ कवियों ने परम्परा के प्रभावस्वरूप संसार की नश्वरता, माया - मोह, की व्यर्थता, विषयाशक्ति की निंदा, आदि विषयों पर तो उपदेशात्मक ढंग से विचार व्यक्त किये हैं।

किन्तु ब्रह्म - चिंतन और हठयोग जैसे विषयों पर काव्य-रचना उन्हें अभीष्ट नहीं करती। इसके विपरीत वैष्णव - भक्ति के अंतर्गत भगवान श्री राम, भगवान श्री-कृष्ण और अन्य देवी-देवताओं का वर्णन अनेकों कवियों द्वारा किया गया।

उदाहरणार्थ– बिहार के अल्पज्ञात कवि हरिनाथ पाठक (1843-1904) की कृति" ललित रामायण ह्न(1893), वहीं बिहार के ही दूसरे कवि अक्षय कुमार द्वारा प्रणीत "रसिकविलास रामायण"(1886) और बाबू तो "ताराम"(1848-1902) की "राम - रामायण" भगवान श्री राम - भक्ति के संदर्भ में उल्लेखनीय रचनाएँ हैं। हरिनाथ पाठक की रचना से राम - काव्य की सुपरिचित श्रृंगार - पद्धति के अनुसरण में शोध फलस्पवरूप निम्नलिखित पद्य द्रष्टव्य है -

मुरूगवा बोले बिपिन में भोरे।
सुखद सेज सोवत रघुनन्दन, जनक लली संग कोरे ।
प्रीतम अंक लगी महाराणी शापति सुनि खग सो रे॥
बन में अवरन जागे खग सब, शब्द करत झकझोरे ।
जन हरिनाथ समय सुखदायक, नहि भावत मन मोरे॥

(हरिनाथ पाठक)

राम - काव्य की तुलना में कृष्णभक्ति - काव्य की रचनाओं का अधिक परिमाण इसी युग में हुआ। इस दिशा में सबसे अधिक योगदान भारतेन्दु जी का है। भारतेन्दु जी राधा - कृष्ण के भी अनन्य भक्त थे। जिसका जीवन्त उदाहरण निम्नलिखित पंक्ति में दिया जा रहा है -

"सखा प्यारे कृष्ण के गुलाम राधारानी के"

उक्त पंक्ति की भावना के अनुकूल संख्या और विनय भाव की भक्ति का दर्शन मिलता है। वात्सल्य भक्ति के भी कुछ पद उन्होंने लिखे हैं। अन्य धर्मों के प्रति उनका दृष्टिकोण उदारतापूर्ण था। इसीलिए उन्होंने निम्न पंक्ति में धार्मिक मतभेदियों की भर्त्सना की है –

" अपुनो मत लै लै सब झगरत ज्यों भठिहारे"

(भारतेन्दु हरिश्चन्द्र)

इसी प्रकार उन्होने अपनी भक्ति – भावना को उर्दू – पद – शैली में भी निम्नवत व्यक्त किया –

ढूँढ फिरा मैं इस दुनिया में पश्चिम से ले पूरब तक।
कहीं न पायी मेरे दिलदार प्रेम की तेरे झलक।
मसजिद मन्दिर गिरजों में देखा मतवालों का जो दौर।
अपने अपने रंग में रंगा दिखाया सब का तौर।
सिवा झूठी बातों व बनावट के न नजर आया कुछ और।

(भारतेन्दु हरिश्चन्द्र)

भारतेन्दु-युगीन रचनाओं में शृंगारिकता की अभिव्यक्ति

आधुनिक हिन्दी गद्य साहित्य में भारतेन्दु और उनके समकालीन कवियों ने रस को काव्य की आत्मा मान कर अपनी रचनाओं में विविध रसानुभूतियों का भावन किया हैं, जिनमेंशृंगार रस सर्वप्रमुख है। प्रतापनारायण मिश्र के अतिरिक्त प्रायः सभी मुख्य कृति 'शृंगार – वर्णन' की ओर उन्मुख रही हैं। रीतिकालीन कवियों का अनुसरण करते हुए सामान्यतः उन्होंने कृष्णकथा के संदर्भ में प्रेम और सौंदर्य का वर्णन किया है, किन्तु राधाकृष्णदास की 'राम – जानकी' कविता में मर्यादित –शृंगार और हरिनाथ पाठक की 'श्री ललित रामायण' आदि में 'रामकथा' की रसिकतायुक्त अवधारणा भी मिलती है।शृंगार – वर्णन के लिए इनके सामने चार विकल्प थे –

भक्तिकालीन कृष्णकाव्य की परम्परा में माधुर्यभक्तिपरकशृंगार – चित्रण, रीतिकालीन पद्धति पर नखशिख, शड्ऋतु और नायिकाभेद का वर्णन, उर्दू – कविता से सम्पर्क के फलस्वरूप प्रेम की वेदनात्मक व्यंजना, और अंग्रेजी की प्रेम – कविताओं से प्रभाव – ग्रहण। इनमें से अन्तिम को छोड़ कर शेष तीनों की परिव्याप्ति इस युग में मिलती है, विशेष रूप से भारतेन्दु और प्रेमघन की रचनाओं में प्रायः ये तीनों विद्यमान हैं। भारतेन्दु ने 'प्रेम – सरोवर', 'प्रेम –

माधुरी', 'प्रेम - तरंग', 'प्रेम - फुलवारी', आदि में "भक्ति -शृंगार" और "विशुद्ध-शृंगार" दोनों का समावेश किया है। प्रेमघन की 'युगलमंगल - स्तोत्र' तथा 'वर्षा - विन्दु' भी इसी प्रकार की रचनाएँ हैं। सौंदर्य प्रेम और विरह की व्यंजना में कहीं-कहीं ये दोनों ही कवि उर्दू-काव्य-शैली से भी प्रभावित हुए हैं, किन्तु नखशिख और नायिकाभेद पर पारम्परिक शैली में काव्यरचना इन्होंने नहीं की वैसे, भारतेन्दु के प्रेमदशा-वर्णन सम्बन्धी अनेक सवैयों में घनानन्द जैसी सरसता विद्यमान है। जिसका उदाहरण निम्नवत है–

टाजु लौं न मिले तो कहा हम तो तु मरे सब भाँति कहावैं।
मेरौ उराहनौ है कछु नाहिं सबै फल आपुने भाग को पावैं॥
जो हरचन्द भई सो भई अब प्रान चले चहैं तासों सुनावैं।
प्यारे जू है जग की यह रीति बिदा की समैं सब कंठ लगावैं॥

भारतेन्दु-युगीन रचनाओं में प्रकृति-चित्रण

प्राकृतिक सौंदर्य का स्वच्छंद वर्णन आधुनिक हिन्दी - साहित्य में 'भारतेन्दु - युगीन' कविता की अंगभूत विशेषता है, किन्तु अधिकतर कवियों ने परम्परा - निर्वाह ही किया है। भारतेन्दु - कृत 'बसंत होली' अम्बिकादत्त व्यास की 'पावस - पचासा', गोविन्द गिल्लाभाई की 'षड्ऋतु' और 'पावस - पयोनिधि' आदि कृतियों में 'वसंत ऋतु' और 'वर्षा काल' का आलम्बनात्मक चित्रण मिलता है। ऋतु सौंदर्य के स्थान पर कवियों ने ऋतु विशेष में नायक - नायिका की मनोदशाओं के वर्णन में अधिक रूचि ली है। सौंदर्यबोध में सहायक स्वतन्त्र प्रकृति - चित्रण का श्रेय किसी स्तर तक ठाकुर जगमोहन सिंह का दिया जा सकता है। भारतेन्दु ने 'सत्य हरिश्चन्द्र' नाटक में गंगा - वर्णन और 'चन्द्रावली' नाटिका में यमुना-वर्णन किया है। किन्तु अलंकार - भार के कारण इनमें उनकी स्वतन्त्र अनुभूति की क्षमता बहुत - कुछ दब सी गयी है। उनकी रचना 'प्रात समीरन', प्रेमघन की 'मयंक - महिमा' और प्रतापनारायण मिश्र की 'प्रेम - पुष्पांजलि' शीर्षक नामक कविताओं में विषय के स्वतन्त्र उपस्थान का यत्किंचित् प्रयास भी हुआ है, तो उसमें कवियों को उतनी सफलता नहीं मिली, क्योंकि प्रकृति को शृंगारिक मनोदशाओं, सामाजिक उद्बोधन, नीति - कथन आदि से सम्बद्ध करने की अनीवार्यता अभी उनके मन में बनी हुई थी। जगमोहन सिंह की कविताओं में इस प्रवृत्ति का अभाव नहीं था पर इनके साथ ही प्रकृति के शूक्ष्म नैसर्गिक सौंदर्य से प्रेरणा ली है। विंध्य - प्रदेश की प्राकृतिक सुषमा

का सजीव और वैविध्यपूर्ण चित्रण उनके काव्य की अनन्य विशेषता है जिसका उदाहरण निम्नवत शोधार्थी द्वारा दिया जा रहा–

पहार अपार कैलास से काटिन ऊँची शिखा लगि अम्बर चूम।
निहारत दीठि भ्रमै पगिया गिरि जात उतं गता ऊपर झूम॥
प्रकाश पतंग सों चोटिन के बिकसै अरबिन्द मलिन्द सुझूम।
लसै कटि मेखला के जगमोहन कारी घटा घन घोरत धूम॥

भारतेन्दु - युगीन रचनाओं में हास्य - व्यंग्य

भारतेन्दु युग में हास्य - व्यंग्यात्मक रचनाओं की भी प्रचुर परिमाण में रचना हुई। पश्चिमी सभ्यता, विदेशी शासन, सामाजिक अंधविश्वासों, रूढ़ियों आदि पर व्यंग्य करने के लिए कवियों ने विषय और शैली की दृष्टि से अनेक नये प्रयोग किये। इस दिशा में भारतेन्दु जी का योगदान सर्वाधिक है। अपने नाटकों के प्रगीतो में कहीं - कहीं शिष्ट हास्य को स्थान देने के अतिरिक्त उन्होंने व्यंग्यगीतियों और मुकरियों की भी रचना की है। उनकी व्यंग्यगीतियों को तीन वर्गों में विभाजित किया जा सकता है -

1- पैराडी, 2- स्यापा, 3- गाली।

' बन्दसभा' के गीतों की रचना उन्होंने उर्दू - नाटक, 'इंदरसभा' के गीतों की पैरोडी के रूप में की है। 'उर्दू का स्यापा' उर्दू - फारसी के 'स्यापा' नामक काव्यरूप की शैली में लिखित है, उदाहरण निम्नवत है -

" है है उर्दू हाय हाय, कहाँ सिधारी हाय हाय"

(भारतेन्दु हरिश्चन्द्र)

उपरोक्त पंक्ति में भारतेन्दु जी ने 'बनारस - अखबार' के समाचार - शीर्षक में 'उर्दू मारी गयी' पर व्यंग्य किया है। इसके साथ ही 'समधिन मधुमास' की रचना "गाली" नामक व्यंग्यगीत की शैली में की गयी है। तथा इसी प्रकार 'नये जमाने की मुकरी' नामक शीर्षक से उन्होंने समकालीन सामाजिक और राजनीतिक विसंगतियों को ले कर कुछ मनोहारिणी मुकरियों की भी रचना की है। जिन पर अमीर खुसरो की शैली की स्पष्ट छाप दिखाई देती है। जिसमें मद्यपान के संदर्भ में उन्होंने शोधार्थी के अनुसार निम्नलिखित व्यंग्योक्ति रचना लिखी है -

मुँह जब लागै तब नहिं छूटे, जाति मान धन सब कुछ लूटे।
पागल करि मोहिं करे खराब, क्यों सखि सज्जन ? नहीं शराब॥

(भारतेन्दु हरिश्चन्द्र)

उपरोक्त संदर्भित काल में भारतेन्दु जी के अतिरिक्त भी अन्य हास्य – व्यंग्यकार रचनाकार हुए हैं जिनमें प्रेमघन एवं प्रतापनारायण मिश्र प्रमुख हैं। 'प्रेमरमघन – सर्वस्व' का 'हास्य – बिंदु' शीर्षक प्रकरण में समसामयिक स्थितियों के विनोदपूर्ण वर्णन और तज्जनित उद्‌बोधन की दृष्टि से सभी का हास्य – व्यंग्यकार रचनाकार के रूप में ध्यान आकृश्ट करता है। तथा प्रतापनारायण मिश्र जी की 'तृप्यन्ताम्', 'हरगंगा', 'बुढ़ापा' और 'ककराष्टक' शीर्षक नामक रचनाएँ भी अपनी नयी तर्ज एवं हास्य – व्यंग्यकार रचना के लिए प्रसिद्ध हैं।

इसी प्रकार अंग्रेजी शिक्षा – प्राप्त युवकों द्वारा भारतीय रीति – नीति को त्याग कर पाश्चात्य सभ्यता का अनुकरण करने पर प्रतापनारायण मिश्र जी ने शोधार्थीनुसार अत्यन्त मार्मिक व्यंग्य किया है –

जग जानैं इंगलिश हमैं, वाणी वस्त्रहिं जोय।
मिटै बदन कर श्याम रंग – जन्म सुफल तब होय॥

(प्रतापनारायण मिश्र)

भारतेन्दु – युगीन रचनाओं में समस्या – पूर्ति

हिन्दी – साहित्य के आधुनिक इतिहास में भारतेन्दु – युग में गृहीत रीतिकालीन, काव्यशैलियों में "समस्यापूर्ति" पर्याप्त लोकप्रिय काव्यपद्धति प्रचलित हुई। कवियों, लेखकों की प्रतिभा और लेखनी कौशल का परखने के लिए कवि – गोष्ठियों और कवि – समाजों में कठिन – से – कठिन विषयों पर समस्यापूर्ति करायी जाती थी। इसमें भारतेन्दु जी द्वारा काशी में स्थापित "कविता – वद्धिनी – सभा ", कानपुर का "रसिक – समाज ", बाबा सुमरसिंह द्वारा निजामाबाद (वर्तमान आजमगढ़) में स्थापित "कवि – समाज" आदि ऐसे ही मंच थे। जहाँ नियमित रूप से कवि गोष्ठियाँ होती थीं और किसी भी संदर्भित विषय में "समस्यापूरण" (समस्यापूर्ति) की प्रतियोगिता के रूप में प्रोत्साहित किया जाता था तथा प्रतिष्ठित कवि इनमें प्रतिभाग करने में संकोच नहीं करते थे तथा नये नौजवान कवियों – लेखकों का इससे उत्साहवर्द्‌धन होता था। कानपुर के प्रतापनारायण मिश्र द्वारा 'पपीहा जब पूछिहै पीव कहाँ' शीर्षक नामक रचना की अधोलिखित पंक्तियाँ कितनी हृदयस्पर्शी बन पड़ी हैं, उदाहरणार्थ –

बन बैठि है मान की मूरति - सी, मुख खोलत बालै न 'नाहीं' न 'हाँ'।
तुम ही मनुहारि कै जारि परे, सखियान की कौन चलाई तहाँ।
बरषा है 'प्रतापजू' धीर धरौ, अब लौं मन को समझायो जहाँ।
यह ब्यारि तबै बदलेगी कछु, पपीहा जब पूछिहै 'पीव' कहाँ ?

(प्रतापनारायण मिश्र)

समस्यापूर्ति के लिए उस समय परम्परागतश्रृंगारिक विषयों का ही अधिक प्रचलन था। लेकिन यह दूसरी बात है कि नवीन सामाजिक परिवेश में हिन्दी साहित्य के इस काल में जिन नये - नये विषयों को स्थान प्राप्त हाने लगा था, कभी - कभी उनकी झलक उपर्युक्त समस्यापूर्तियों में भी दिखाई दे जाती थी। श्रृंगार रस की ललित समस्यापूर्ति के लिए प्रेमघन, लछिराम, विजयानन्द त्रिपाठी, गोविन्द गिल्लाभाई, रामकृष्ण वर्मा 'बलवीर', बेनी द्विज, ब्रजचन्द वल्लभीय आदि रचनाकारों को पर्याप्त लोकप्रियता प्राप्त हुई थी। 'चरचा चलिये की चलाइए ना' की में शोधार्थी के अनुसार प्रेमघन द्वारा अधोलिखित पंक्तियाँ प्रासंगिक हैं -

बगियान बसन्त बसेरो कियो, बसिए तेहि त्यागि तपाइए ना।
दिन काम कुतूहल के जो बने, तिन बीच बियोग बुलाइए ना।।
' घन प्रेम' बढ़ाय कै प्रेम अहो ! बिथा बारि बृथा बरसाइए ना।
चित चौत की चाँदनी चाह भरी, चरचा चलिबै की चलाइए ना।

(प्रेमघन)

समस्यापूरण का वैशिष्ट्य कवियों की सूझ - बूझ, उक्ति - वैचित्र्य और और आशु कवित्व में होता है। तत्कालीन कवि समाज में समस्यापूर्ति के लिए वाहवाही प्राप्त करना गौरव की बात समझा जाता था। अंबिकादत्त व्यास ने अपने कवि-जीवन का आरम्भ कविता -वद्धिनी-सभा में 'पूरी अमी की कटोरिया सी', 'चिरजीवी रहौ विक्टोरिया रानी' समस्या-की-पूर्ति करके किया था और इस पर उन्हें "सुकवि" की 'उपाधि' भी प्राप्त हुई थी। इनके पिता दुर्गा दत्त व्यास भी ब्रजभाषा के रसिक कवि थे, इनके द्वारा संकलित 'समस्यापूर्ति - प्रकाश' उस समय संदर्भित काल की प्रसिद्ध रचना है। इस प्रकार के अन्य संग्रहों में अम्बिकादत्त व्यास जी का 'समस्यापूर्ति-सर्वस्व', गोविन्द गिल्लाभाई का 'समस्यापूति - प्रदीप' और सीतापुर-निवासी गंगाधर 'द्विजगंग' का 'समस्या-प्रकाश' उल्लेखनीय है। नर्मदेवेश्वर प्रसाद सिंह जी के कविता-संग्रह 'पंचरत्न' में उनकी समस्यापूर्तियाँ भी संगृहीत हैं।

इसी प्रकार से "भारतेन्दु - ग्रन्थावली" में भारतेन्दु जी की समस्यापूर्तियों का भी संग्रह किया गया है। संदर्भित - शोध के फलस्वरूप उदाहरणस्वरूप 'पिय प्यारे तिहारे निहारे बिना अंखियाँ दुखियाँ नहिं मानती हैं' में भारतेन्दुकृत प्रतिपूर्ति निम्नवत है -

यह संग में लागिये डोलैं सदा बिन देखे न धीरज आनती हैं।
छिनहू जो वियोग परै 'हरिश्चन्द' तो प्रलै की सु ठानती हैं॥
बसनी में थिरैं न झपैं उझपैं, पल में न समाइबौ जानती हैं।
पिय प्यारे तिहारे निहारे बिना अँखियाँ दुखियाँ नहिं मानती हैं॥

5

द्विवेदी युग में हिन्दी गद्य का विकास

द्विवेदी युग का समय सन 1900 से 1920 तक माना जाता है। बीसवीं शताब्दी के पहले दो दशक के पथ-प्रदर्शक, विचारक और साहित्य नेता आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी के नाम पर ही इस काल का नाम 'द्विवेदी युग' पड़ा। इसे 'जागरण सुधारकाल' भी कहा जाता है। महावीर प्रसाद द्विवेदी हिन्दी के ऐसे पहले लेखक थे, जिन्होंने अपनी जातीय परंपरा का गहन अध्ययन ही नहीं किया था, अपितु उसे आलोचकीय दृष्टि से भी देखा। उन्होंने वेदों से लेकर पंडितराज जगन्नाथ तक के संस्कृत साहित्य की निरंतर प्रवाहमान धारा का अवगाहन किया एवं उपयोगिता तथा कलात्मक योगदान के प्रति एक वैज्ञानिक नजरिया अपनाया। कविता की दृष्टि से द्विवेदी युग 'इतिवृत्तात्मक युग' था।

इस समय आदर्शवाद का बोलबाला रहा। भारत का उज्ज्वल अतीत, देश-भक्ति, सामाजिक सुधार, स्वभाषा-प्रेम आदि कविता के मुख्य विषय थे। नीतिवादी विचारधारा के कारणशृंगार का वर्णन मर्यादित हो गया। कथा-काव्य का विकास इस युग की विशेषता है। मैथिलीशरण गुप्त, अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध', श्रीधर पाठक, रामनरेश त्रिपाठी आदि इस युग के यशस्वी कवि थे। जगन्नाथदास 'रत्नाकर' ने इसी युग में ब्रजभाषा में सरस रचनाएँ प्रस्तुत कीं।

आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी के नाम पर ही यह काल 'द्विवेदी युग' के नाम से जाना जाता है। इसे 'जागरण-सुधारकाल' भी कहा जाता है। इस समय ब्रिटिश दमन-चक्र बहुत बढ़ गया था। जनता में असंतोष और क्षोभ की भावना प्रबल थी। ब्रिटिश शासकों द्वारा लोगों का अर्थिक-शोषण भी चरम पर था। देश के स्वाधीनता संग्राम के नेताओं द्वारा पूर्ण-स्वराज्य की मांग की जा रही थी। गोपालकृष्ण गोखले और लोकमान्य गंगाधर तिलक जैसे नेता देश के स्वतंत्रता संग्राम का नेतृत्व कर रहे थे। इस काल के साहित्यकारों ने न सिर्फ देश की दुर्दशा का चित्रण किया, बल्कि देशवासियों को आजादी की प्राप्ति की प्रेरणा भी दी। राजनीतिक चेतना के साथ-साथ इस काल में भारत की आर्थिक चेतना भी विकसित हुई।

सन 1903 में महावीर प्रसाद द्विवेदी ने 'सरस्वती' पत्रिका के संपादन का भार संभाला। उन्होंने खड़ी बोली गद्य के स्वरूप को स्थिर किया और पत्रिका के माध्यम से रचनाकारों के एक बड़े समुदाय को खड़ी बोली में लिखने को प्रेरित किया। इस काल में निबंध, उपन्यास, कहानी, नाटक एवं समालोचना का अच्छा विकास हुआ। इस युग के निबंधकारों में महावीर प्रसाद द्विवेदी, माधव प्रसाद मिश्र, श्यामसुंदर दास, चंद्रधर शर्मा गुलेरी, बालमुकंद गुप्त और अध्यापक पूर्णसिंह आदि उल्लेखनीय हैं। इनके निबंध गंभीर, ललित एवं विचारात्मक हैं, किशोरीलाल गोस्वामी और बाबू गोपाल राम गहमरी के उपन्यासों में मनोरंजन और घटनाओं की रोचकता है। हिन्दी कहानी का वास्तविक विकास 'द्विवेदी युग' से ही शुरू हुआ। किशोरी लाल गोस्वामी की 'इंदुमती' कहानी को कुछ विद्वान् हिन्दी की पहली कहानी मानते हैं। अन्य कहानियों में बंग महिला की 'दुलाई वाली', रामचन्द्र शुक्ल की 'ग्यारह वर्ष का समय', जयशंकर प्रसाद की 'ग्राम' और चंद्रधर शर्मा गुलेरी की 'उसने कहा था' आदि महत्त्वपूर्ण हैं। समालोचना के क्षेत्र में पद्मसिंह शर्मा उल्लेखनीय हैं। अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध', शिवनंदन सहाय तथा राय देवीप्रसाद पूर्ण द्वारा भी कुछ नाटक लिखे गए।

नाट्य साहित्य

'द्विवेदी युग' नाट्य साहित्य की दृष्टि से सबसे कम समृद्ध है। इस काल में मौलिक नाटकों के सृजन में कमी आई। ऐसा लगता है कि नाटकीय गतिविधि धीरे-धीरे काफी कम हो गई थीं। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के समय में जो नाटक मंडलियाँ थीं, वे व्यावसायिक तो थीं नहीं, इसलिए समय के साथ वे काल के

गाल में समा गई। इस युग के प्रसिद्ध रंगकर्मी एवं उच्च कोटि के अभिनेता माधव शुक्ल ने अव्यावसायिक रंगमंच को फिर से जिन्दा करने की कोशिश की। बात 1908 की है, जब उन्होंने इलाहाबाद की रामलीला नाटक मंडली को झाड़-पोछ कर सुरुचि सम्पन्न लोगों की पसंद लायक बनाया। यहाँ से कई नवजागरण का संदेश देने वाले नाटकों का मंचन हुआ। राष्ट्रीय संस्कृति और सामाजिक चेतना का संस्कार करने वाले नाटकों का रंगमंच पर अभिनय प्रस्तुत किया गया।

रचनाएँ

राधाकृष्णदास द्वारा लिखित 'राणाप्रताप' और माधव शुक्ल द्वारा स्वयं लिखित 'महाभारत' नाटकों के मंचन ने तो धूम ही मचा दी। इससे रंगमंच की दुनिया में एक नई हलचल मची। इससे प्रोत्साहित होकर कई रंगनाटक लिखे गए। माखनलाल चतुर्वेदी कृत 'कृष्णार्जुन युद्ध' (1918), बदरीनाथ भट्ट कृत 'दुर्गावती', 'कुरुवनदहन' और 'वेनचरित', बलदेव प्रसाद मिश्र कृत 'प्रभास मिलन' इस समय के लिखे हुए बहुत ही प्रभावशाली नाटक थे।

नाट्य लेखन

इस युग के पौराणिक नाटकों में प्रमुख थे-

भगवान श्रीकृष्ण के चरित से संबंधित नाटक -

राधाचरण गोस्वामी कृत 'श्रीदामा' (1904), शिवनंदन सहाय कृत 'सुदामा' (1907), बनवारीलाल कृत 'कृष्णकथा' और 'कंसवध' (1909)।

रामचरित संबंधी नाटक-

रामनारायण मिश्र कृत 'जनक बाड़ा' (1906), गंगाप्रसाद कृत 'रामाभिषेक' (1910), गिरधरलाल कृत 'राम वनयात्रा' (1910), नारायण सहाय कृत 'रामलीला' (1911), रामगुलामलाल कृत 'धनुषयज्ञ लीला' (1912)।

पौराणिक पात्रों को लेकर लिखे गए नाटक-

महावीर सिंह कृत 'नल-दमयंती' (1905), गौरचरण गोस्वामी कृत 'अभिमन्यु वध' (1906), सुदर्शनाचार्य कृत 'अनर्घ नलचरित' (1906), बांकेबिहारी लाल कृत 'सावित्री नाटिका' (1908), बालकृष्ण भट्ट कृत 'वेणु

संहार' (1909), लक्ष्मी प्रसाद कृत 'उर्वशी' (1910), हनुमंत सिंह कृत 'सती-चरित्र' (1910), शिवनंदन मिश्र कृत 'शकुंतला' (1911), जयशंकर प्रसाद कृत 'करुणालय' (1912), बदरीनाथ भट्ट कृत 'कुरुवन-दहन' (1915), माधव शुक्ल कृत 'महाभारत पूर्वार्द्ध' (1916), हरिदास माणिक कृत 'पाण्डव-प्रताप' (1917), और माखनलाल चतुर्वेदी कृत 'कृष्णार्जुन युद्ध' (1918)।

इन नाटकों में चरित्रों के माध्यम से जनता को उपदेश देने का प्रयास किया गया है। नाटक कला का उपयुक्त विकास इनसे नहीं हुआ। अभिनय तत्त्व भी गौण ही है।

ऐतिहासिक नाटक

ऐतिहासिक नाटक में गंगाप्रसाद गुप्त कृत 'वीर जयमाल' (1903), वृंदावनलाल वर्मा कृत 'सेनापति उदल' (1909), बदरीनाथ भट्ट कृत 'चंद्रगुप्त' (1915), कृष्णप्रकाश सिंह कृत 'पन्ना' (1915), हरिदास माणिक कृत 'संयोगिताहरण' (1915), जयशंकर प्रसाद कृत 'राज्य श्री' (1915) और परमेष्ठीदास जैन कृत 'वीर चूड़ावत सरदार' (1918)।

जयशंकर प्रसाद जी के नाटक को छोड़कर किसी में इतिहास का निर्माण नहीं हो सका।

सामाजिक नाटक

सामाजिक नाटक में प्रतापनारायण मिश्र कृत 'भारत दुर्दशा' (1902), भगवती प्रसाद कृत 'वृद्ध-विवाह' (1905), जीवानंद शर्मा कृत 'भारत विजय' (1906), कृष्णानंद जोशी कृत 'उन्नति कहां से होगी' (1915), मिश्र बंधु कृत 'नेत्रोन्मीलन' (1915)।

इन नाटकों में सामाजिक विकृतियों को उभारने की कोशिश की गई है। इनका लक्ष्य समाज सुधार है। किन्तु नाट्यकला की दृष्टि से इनका महत्त्व अधिक नहीं है।

रोमांचकारी नाटक

इस युग में रोमांचकारी नाटक भी लिखे गए। अलौकिक घटनाओं को केन्द्र में रखकर ये नाटक पारसी रंगमंच की शैली में लिखे गए। इसकी विषयवस्तु फारसी प्रेम कथाओं पर आधारित होती थी। कुछ रोमांचकारी नाटक पौराणिक कथाओं पर

भी आधारित थे। इन नाटकों की शुरूआत 'कोरस' से होती थी। मुख्य कथा के समानान्तर एक प्रहसन भी चलता रहता था। यह दर्शकों को हंसाने के लिए होता था। इन नाटकों की भाषा उर्दू मिश्रित हुआ करती थी। बाद के दिनों में साधारण बोलचाल की भाषा का भी प्रयोग शुरू हो गया। इस श्रेणी के नाटकों की रचना में मुहम्मद मियां 'रौनक', सैयद मेंहदी हसन 'अहसान', नारायण प्रसाद 'बेताब', आगा मोहम्मद 'हश्र' और राधेश्याम कथावचक ने प्रमुख भूमिका निभाई।

प्रहसन नाटक

इस युग में पौराणिक, ऐतिहासिक, सामाजिक, रोमांचकारी, आदि विषयों के अलावा प्रहसन नाटक भी लिखे गए। बद्रीनाथ भाट्ट कृत 'चुंगी की उम्मीदवारी' (1912), गंगाप्रसाद श्रीवास्तव कृत 'उलटफेर' (1918) और 'नोंक झोंक' (1918)।

अनूदित नाटक

अनूदित नाटक की श्रीणी में संस्कृत से सदानंद अवस्थी ने 'नागानंद' (1906), लाला सीताराम ने 'मृच्छकटिक' (1913), कविरत्न सत्यनारायण ने 'उत्तर रामचरित' किया। अंग्रेजी से शेक्सपियर के नाटकों का अनुवाद लाला सीताराम और चतुर्भुज औदीच्य ने किया। बंगला से ब्रजनंदन सहाय ने किया।

रामचन्द्र शुक्ल की विवेचना

'द्विवेदी युग' के नाटकों की विवेचना करते हुए आचार्य रामचन्द्र शुक्ल कहते हैं- 'इन मौलिक रूपकों की सूची देखने से यह लक्षित हो जाता है कि नाटक की कथावस्तु के लिये लोगों का ध्यान अधिकतर ऐतिहासिक और पौराणिक प्रसंगों की ओर ही गया है। वर्तमान सामाजिक और पारिवारिक जीवन के विविध उलझे हुए पक्षों का सूक्ष्मता के साथ निरीक्षण करके उनके मार्मिक या अनूठे चित्र खड़ा करने वाली उद्‌भावना उनमें नहीं पाई जाती।' चूंकि इस युग में भारतेन्दु से आगे बढ़कर शिल्प और संवेदना के स्तर पर कोई नया प्रयोग तो नहीं ही हुआ, इसलिए भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने हिन्दी रंगमंच की स्थापना का जो काम शुरू किया था, वह आगे न बढ़ सका। बल्कि यो कहें कि इस युग में सृजन की दृष्टि से ह्रास ही हुआ। इसका परिणाम यह हुआ कि जनता की रुचि व्यावसायिक रंगमंचीय नाटकों की तरफ मुड़ गई।

द्विवेदी युग की विशेषता

महावीर प्रसाद द्विवेदी का साहित्य आधुनिक हिन्दी साहित्येतिहास का आदिकाल है। इसका पहला चरण भारतेन्दु-युग है एवं दूसरा चरण द्विवेदी-युग। महावीर प्रसाद द्विवेदी एक ऐसे साहित्यकार थे, जो बहुभाषाविद् होने के साथ ही साहित्य के इतर विषयों में भी समान रुचि रखते थे। उन्होंने सरस्वती का अठारह वर्षों तक संपादन कर हिन्दी पत्रकारिता में एक महान कीर्तिमान स्थापित किया था। वे हिन्दी के पहले व्यवस्थित समालोचक थे, जिन्होंने समालोचना की कई पुस्तकें लिखी थीं। वे खड़ी बोली हिन्दी की कविता के प्रारंभिक और महत्त्वपूर्ण कवि थे। आधुनिक हिन्दी कहानी उन्हीं के प्रयत्नों से एक साहित्यिक विधा के रूप में मान्यता प्राप्त कर सकी थी। वे भाषाशास्त्री थे, अनुवादक थे, इतिहासज्ञ थे, अर्थशास्त्री थे तथा विज्ञान में भी गहरी रुचि रखने वाले थे। अंततः वे युगांतर लाने वाले साहित्यकार थे या दूसरे शब्दों में कहें, युग निर्माता थे। वे अपने चिन्तन और लेखन के द्वारा हिन्दी प्रवेश में नव-जागरण पैदा करने वाले साहित्यकार थे।

महावीर प्रसाद द्विवेदी हिन्दी के पहले साहित्यकार थे, जिनको 'आचार्य' की उपाधि मिली थी। इसके पूर्व संस्कृत में आचार्यों की एक परंपरा थी। मई, 1933 ई. में नागरी प्रचारिणी सभा ने उनकी सत्तरवीं वर्षगाँठ पर बनारस में एक बड़ा साहित्यिक आयोजन कर द्विवेदी का अभिनंदन किया था उनके सम्मान में द्विवेदी अभिनंदन ग्रंथ का प्रकाशन कर, उन्हें समर्पित किया था। इस अवसर पर द्विवेदी जी ने जो अपना वक्तव्य दिया था, वह 'आत्म-निवेदन' नाम से प्रकाशित हुआ था। इस 'आत्म-निवेदन' में वे कहते हैं, ''मुझे आचार्य की पदवी मिली है। क्यों मिली है, मालूम नहीं। कब, किसने दी है, यह भी मुझे मालूम नहीं। मालूम सिर्फ इतना ही है कि मैं बहुधा-इस पदवी से विभूषित किया जाता हूँ। ...शंकराचार्य, मध्वाचार्य, सांख्याचार्य आदि के सदृश किसी आचार्य के चरणरजः कण की बराबरी मैं नहीं कर सकता। बनारस के संस्कृत कॉलेज या किसी विश्वविद्यालय में भी मैंने कदम नहीं रखा। फिर इस पदवी का मुस्तहक मैं कैसे हो गया ?'' महावीर प्रसाद द्विवेदी ने मैट्रिक तक की पढ़ाई की थी। तत्पश्चात् वे रेलवे में नौकरी करने लगे थे।

उसी समय इन्होंने अपने लिए सिद्धान्त निश्चित किए-वक्त की पाबंदी करना, रिश्वत न लेना, अपना काम ईमानदारी से करना और ज्ञान-वृद्धि के लिए सतत प्रयत्न करते रहना। द्विवेदी जी ने लिखा है, ''पहले तीन सिद्धान्तों के अनुकूल आचरण करना तो सहज था, पर चौथे के अनुकूल सचेत रहना कठिन

था। तथापि सतत् अभ्यास से उसमें भी सफलता होती गई। तारबाबू होकर भी, टिकट बाबू, मालबाबू, स्टेशन मास्टर, यहाँ तक कि रेल पटरियाँ बिछाने और उसकी सड़क की निगरानी करनेवाले प्लेट-लेयर (Permanent way Inspec. tor) तक का भी काम मैंने सीख लिया। फल अच्छा ही हुआ। अफसरों की नजर मुझ पर पड़ी। मेरी तरक्की होती गई। वह इस तरह कि एक दफे मुझे छोड़कर तरक्की के लिए दरख्वास्त नहीं देनी पड़ी।'' द्विवेदी जी 15 रुपये मासिक पर रेलवे में बहाल हुए थे और जब उन्होंने 1904 ई. में नौकरी छोड़ी, उस वक्त 150 रुपये मूल वेतन एवं 50 रुपये भत्ता मिलता था, यानी कुल 200 रुपये।

उस जमाने में यह एक बहुत बड़ी राशि थी। वे 18 वर्ष की उम्र में रेलवे में बहाल हुए थे। उनका जन्म 1864 ई. में हुआ था और 1882 ई, से उन्होंने नौकरी प्रारंभ की थी। नौकरी करते हुए वे अजमेर, बंबई, नागपुर, होशंगाबाद, इटारसी, जबलपुर एवं झाँसी शहरों में रहे। इसी दौरान उन्होंने संस्कृत एवं ब्रजभाषा पर अधिकार प्राप्त करते हुए पिंगल अर्थात् छंदशास्त्र का अभ्यास किया। उन्होंने अपनी पहली पुस्तक 1895 ई. में श्रीमहिम्नस्तोत्र की रचना की, जो पुष्पदंत के संस्कृत काव्य का ब्रजभाषा में काव्य रूपांतर है। द्विवेदी जी ने सभी पद्यरचनाओं का भावार्थ खड़ी बोली गद्य में ही किया है। उन्होंने इसकी भूमिका में लिखा है, ''इस कार्य में हुशंगाबादस्थ बाबू हरिश्चन्द्र कुलश्रेष्ठ का जो सांप्रत मध्यप्रदेश राजधानी नागपुर में विराजमान हैं, मैं परम कृतज्ञ हूँ।'' अपने 'आत्म-निवेदन' में उन्होंने लिखा है, ''बचपन से मेरा अनुराग तुलसीदास की रामायण और ब्रजवासीदास के ब्रजविलास पर हो गया था। फुटकर कविता भी मैंने सैकड़ों कंठ कर लिए थे। हुशंगाबाद में रहते समय भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के कविवचन सुधा और गोस्वामी राधाचरण के एक मासिक पत्र ने मेरे उस अनुराग की वृद्धि कर दी। वहीं मैंने बाबू हरिश्चंद्र कुलश्रेष्ठ नाम के एक सज्जन से, जो वहीं कचहरी में मुलाजिम थे, पिंगल का पाठ पढ़ा। फिर क्या था, मैं अपने को कवि ही नहीं, महाकवि समझने लगा।

मेरा यह रोग बहुत दिनों तक ज्यों का त्यों बना रहा।'' 1889 से 1892 ई. तक द्विवेदी जी की इस प्रकार की कई पुस्तकें प्रकाशित हुईं-विनय-विनोद, विहार-वाटिका, स्नेहमाला, ऋतु तरंगिनी, देवी स्तुति शतक, श्री गंगालहरी आदि। 1896 ई. में इन्होंने लॉर्ड बेकन के निबंधों का हिन्दी में भावार्थ मूलक रूपांतर किया, जो बेकन-विचार-रत्नावली पुस्तक में संकलित हैं। 1898 ई. में इन्होंने

हिन्दी कालिदास की आलोचना लिखी, जो हिन्दी की पहली आलोचनात्मक पुस्तक है। 1988 ई. में श्रीहर्ष के नैषधीयचरितम पर इन्होंने नैषध-चरित-चर्चा नामक आलोचनात्मक एवं गवेषणात्मक पुस्तक लिखी। यह सिलसिला जो शुरू हुआ, वह 1930-31 ई. तक चला और द्विवेदी जी की कुल पच्चासी पुस्तकें प्रकाशित हुईं।

जनवरी, 1903 ई. से दिसंबर, 1920 ई. तक इन्होंने सरस्वती नामक मासिक पत्रिका का संपादन कर एक कीर्तिमान स्थापित किया था, इसीलिए इस काल को हिन्दी साहित्येतिहास में 'द्विवेदी-युग' के नाम से जाना जाता है। अपने प्रकांड पांडित्य के कारण इन्हें 'आचार्य' कहा जाने लगा। उनके व्यक्तित्त्व के बारे में आचार्य किशोरी दास वाजपेयी ने लिखा है, ''उनके सुदृढ़ विशाल और भव्य कलेवर को देखकर दर्शक पर सहसा आतंक छा जाता था और यह प्रतीत होने लगता था कि मैं एक महान ज्ञानराशि के नीचे आ गया हूँ।'' द्विवेदी जी का मानना था कि 'ज्ञान-राशि' के संचित कोष का ही नाम साहित्य है।' द्विवेदी जी स्वयं तो एक 'महान ज्ञान-राशि' थे ही उनका संपूर्ण वाङ्मय भी संचित ज्ञानराशि है, जिससे होकर गुजरना अपनी जातीय परंपरा को आत्मसात करते हुए विश्वचिन्तन के समक्ष भी होना है। डॉ॰ रामविलास शर्मा ने द्विवेदी जी के महत्त्व को प्रतिपादित करते हुए लिखा है, ''द्विवेदी जी ने अपने साहित्य जीवन के आरंभ में पहला काम यह किया कि उन्होंने अर्थशास्त्र का अध्ययन किया। उन्होंने जो पुस्तक बड़ी मेहनत से लिखी और जो आकार में उनकी और पुस्तकों से बड़ी है, वह संपत्तिशास्त्र है।.....अर्थशास्त्र का अध्ययन करने के कारण द्विवेदी जी बहुत-से विषयों पर ऐसी टिप्पणियाँ लिख सके जो विशुद्ध साहित्य की सीमाएँ लाँघ जाती हैं।

इसके साथ उन्होंने राजनीति विषयों का अध्ययन किया और संसार में जो महत्त्वपूर्ण राजनीति घटनाएँ हो रही थीं, उन पर उन्होंने लेख लिखे। राजनीति और अर्थशास्त्र के साथ उन्होंने आधुनिक विज्ञान से परिचय प्राप्त किया और इतिहास तथा समाजशास्त्र का अध्ययन गहराई से किया। इसके साथ भारत के प्राचीन दर्शन और विज्ञान की ओर इन्होंने ध्यान दिया और यह जानने का प्रयत्न किया कि हम अपने चिन्तन में कहाँ आगे बढ़े हुए हैं और कहाँ पिछड़े हैं। इस तरह की तैयारी उनसे पहले किसी संपादक ने न की थी। परिणाम यह हुआ कि हिन्दी प्रवेश में नवीन सामाजिक चेतना के प्रसार के लिए वह सबसे उपयुक्त व्यक्ति सिद्ध हुए।''

ऐसे महान ज्ञान-राशि के पुंज थे आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी। किन्तु रामविलास शर्मा के पूर्व जितने भी आलोचक हुए, उन्होंने द्विवेदी जी का उचित मूल्यांकन तो नहीं ही किया, अपितु उनका अवमूल्यन ही किया। इन महान आलोचकों में रामचन्द्र शुक्ल, नंददुलारे वाजपेयी एवं हजारी प्रसाद द्विवेदी प्रमुख हैं। रामचन्द्र शुक्ल ने हिन्दी साहित्य का इतिहास में द्विवेदी जी पर जो टिप्पणी की है, उस पर एक नजर डालें, ''द्विवेदी जी ने सन् 1903 ई. में सरस्वती के संपादन का भार लिया। तब से अपना सारा समय लिखने में ही लगाया। लिखने की सफलता वे इस बात में मानते थे कि पाठक भी उससे बहुत-कुछ समझ जाएँ। कई उपयोगी पुस्तकों के अतिरिक्त उन्होंने फुटकर लेख भी बहुत लिखे। पर इन लेखों में अधिकतर लेख 'बातों के संग्रह' के रूप में ही है। भाषा के नूतन शक्ति चमत्कार के साथ नए-नए विचारों की उद्‌भावना वाले निबंध बहुत ही कम मिलते हैं।

स्थायी निबंधों की श्रेणी में चार ही लेख, जैसे 'कवि और कविता', 'प्रतिभा' आदि आ सकते हैं। पर ये लेखनकाल या सूक्ष्म विचार की दृष्टि से लिखे नहीं जान पड़ते। 'कवि और कविता' कैसा गंभीर विषय है, कहने की आवश्यकता नहीं। पर इस विषय की बहुत मोटी-मोटी बातें बहुत मोटे तौर पर कही गई हैं।'' इसी प्रसंग में रामचन्द्र शुक्ल आगे लिखते हैं, ''कहने की आवश्यकता नहीं कि द्विवेजी जी के लेख या निबंध विचारात्मक श्रेणी में आएँगे। पर विचार की वह गूढ़ गुंफित परंपरा उनमें नहीं मिलती जिससे पाठक की बुद्धि उत्तेजित होकर किसी नई विचार-पद्धति पर दौड़ पड़े। शुद्ध विचारात्मक निबंधों का चरम उत्कर्ष वही कहा जा सकता है जहाँ एक पैराग्राफ में विचार दबा-दबाकर कसे गए हों और एक-एक वाक्य किसी संबद्ध विचारखंड के लिए हों। द्विवेदी जी के लेखों को पढ़ने में ऐसा जान पड़ता है कि लेखक बहुत मोटी अक्ल के पाठकों के लिए लिख रहा है।''

अब आप देखें कि महावीर प्रसाद द्विवेदी के लेखन के प्रति रामचंद्र शुक्ल की ये टिप्पणी पढ़कर हिन्दी का कोई भी पाठक उससे विरक्त होगा या आसक्त। रामचन्द्र शुक्ल के इतिहास को हिन्दी के विद्यार्थी साठ-पैंसठ वर्षों से आप्त वचनों की तरह याद करते आ रहे हैं। ऐसे में मूल पाठ से उनके आप्त वाक्यों का यदि मिलान कर परीक्षण न किया जाए, तो अनर्थ होगा ही। रामचन्द्र शुक्ल हिन्दी के सबसे बड़े समालोचक, सबसे बड़े साहित्येतिहास-लेखक हैं। इसी इतिहास में वे महावीर प्रसाद द्विवेदी के ऐतिहासिक योगदानों को सिर्फ भाषा-परिष्कारकर्त्ता के

रूप में स्वीकार करते हैं। उनके शब्द हैं, ''यद्यपि द्विवेदी जी ने हिन्दी के बड़े-बड़े कवियों को लेकर गंभीर साहित्य समीक्षा का स्थायी साहित्य नहीं प्रस्तुत किया, पर नई निकली पुस्तकों की भाषा की खरी आलोचना करके हिन्दी साहित्य का बड़ा भारी उपकार किया है।

यदि द्विवेदी जी न उठ खड़े होते तो जैसा अव्यवस्थित, व्याकरणविरुद्ध और ऊटपटाँग भाषा चारों ओर दिखाई पड़ती थी, उसकी परंपरा जल्दी न रुकती। उसके प्रभाव से लेखक सावधान हो गए और जिनमें भाषा की समझ और योग्यता थी उन्होंने अपना सुधार किया।'' दरअसल शुक्ल जी जिस आलोचना-पद्धति का सहारा लेकर उक्त बातें लिख रहे थे, उसे अंग्रेजी में Judicial Criticism और हिन्दी में निर्णयात्मक आलोचना कहते हैं और इसका सबसे बड़ा दोष यह है कि इसके आलोचना के क्षेत्र में आलोचकों का ध्यान ऐतिहासिक युग, वातावरण एवं जीवन से हटाकर अधिकांशतः कलापक्ष तक ही सीमित कर दिया है। कलापक्ष की ओर ध्यान देने वाले आलोचकों का कहना हैं कि युगीन परिस्थितियाँ, युगीन चेतना और युग सत्य निरंतर परिवर्तनशील हैं अतएव इन्हें आधार नहीं बनाया जा सकता। उनकी परिवर्तनशीलता के कारण इन्हें साहित्य का स्थायी मानदंड स्वीकार किया जा सकता। लेकिन इसी के साथ यह भी सत्य है कि ऐसी दशा में निर्णयात्मक आलोचना का कोई मूल्य नहीं रहेगा।

इसका मुख्य कारण है ऐसे आलोचक का रचनाकार और रचना पर फतवे जारी करना। यही कारण है कि रामचंद्र शुक्ल ने द्विवेदी जी के विचारों को, उनके संचित ज्ञान-राशि पर ध्यान नहीं दिया और उनकी भाषा पर विचार किया। 'मोटी-मोटी बातें बहुत मोटे तौर पर'-यह अभिव्यक्ति की प्रणाली पर बात की जा रही है, जो निस्संदेह भाषा है।

जब द्विवेदी जी मूर्ख या मोटे दिमाग वालों के लिए लिखते थे और मोटी तरह से लिखते थे तो उन्होंने भाषा परिष्कार कैसे किया ? जिस लेखक को भाषा की सतही समझ होगी, वह दूसरे लेखकों की भाषा को दुरुस्त कैसे करेगा ? पुनः रामचन्द्र शुक्ल की बातों पर विचार करें-महावीर प्रसाद द्विवेदी ने शाश्वत साहित्य या स्थायी साहित्य नहीं लिखा। उनका महत्त्व भाषा-सुधार में है और उनकी भाषा कैसी है-मोटी अक्लवालों के लिए है। इस तरह की बातों से आचार्य शुक्ल का इतिहास भरा हुआ है। महावीर प्रसाद द्विवेदी ने हिन्दी-नवरत्न की समीक्षा लिखते हुए लिखा है, ''इस तरह की बातें किसी इतिहास कार के ग्रंथ में यदि पाई जाएँ तो उसके इतिहास का महत्त्व कम हुए बिना नहीं रह सकता। इतिहास-लेखक

की भाषा तुली हुई होनी चाहिए। उसे बेतुकी बातें न हाँकनी चाहिए। अतिशयोक्तियाँ लिखना इतिहासकार का काम नहीं। उसे चाहिए कि वह प्रत्येक शब्द और वाक्यांश के अर्थ को अच्छी तरह समझकर उसका प्रयोग करे।''

सन् 1933 ई. में आचार्य द्विवेदी को नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा अभिनंदन ग्रंथ भेंट किया गया। इसकी प्रस्तावना श्यामसुंदर दास एवं रायकृष्णदास के नाम से प्रकाशित हुई, किन्तु यह लिखी गई नंददुलारे वाजपेयी द्वारा। इसलिए यह 1940 ई. में प्रकाशित वाजपेयी जी की पुस्तक हिन्दी साहित्य: बीसवीं शताब्दी में संकलित है। इसमें यह विचार किया गया है कि स्थायी या शाश्वत साहित्य में द्विवेदी जी का साहित्य परिगणित हो सकता है या नहीं। इस दृष्टिकोण से महावीर प्रसाद द्विवेदी द्वारा लिखित संपूर्ण साहित्य को अयोग्य ठहरा दिया गया। सिर्फ उनके द्वारा संपादित सरस्वती के अंकों को ही महत्त्व दिया गया।

पौराणिक नाटक

हृदय की वृत्तियों की सत्त्व की ओर उन्मुख करने का प्रयास भारतेन्दु-युग के नाटकों में बहुत पहले से होता आ रहा था। द्विवेदी-युग से इन वृत्तियों के उत्कर्ष के लिए पौराणिक आख्यानों का नि:संकोच ग्रहण किया गया। आलोच्य युग में पौराणिक नाटकों के तीन वर्ग देखने को मिलते हैं : कृष्णचरित-सम्बन्धी, रामचरित सम्बन्धी तथा अन्य पौराणिक पात्रों एवं घटनाओं से सम्बन्धित। कृष्ण चरित सम्बन्धी नाटकों में राधाचरण गोस्वामी कृत 'श्रीदामा' (1904), ब्रज नन्दन सहाय-कृत 'उद्धव' (1909), नारायण मिश्र-कृत 'कंसवध' (1910), शिव नन्दन सहाय-कृत 'सुदामा।' (1907) और बनवारी लाल-कृत 'कृष्ण तथा कंसवध' (1910) को विशेष ख्याति प्राप्त है।

रामचरित-सम्बन्धी नाटकों में रामनारायण मिश्र-कृत 'जनक बाड़ा' (1906) गिरधर लाल-कृत 'रामवन यात्रा' (1910) और गंगाप्रसाद-कृत 'रामाभिषेक' (1910), नारायण सहाय-कृत 'रामलीला' (1911), और राम गुलाम लाल-कृत 'धनुषयज्ञ लीला (1912), उल्लेखनीय हैं। अन्य पौराणिक घटनाओं से सम्बन्धित नाटकों में महावीर सिंह का 'नल दमयन्ती' (1905), सुदर्शनाचार्य का 'अनार्थ नल चरित' (1906), बांके बिहारी लाल का 'सावित्री नाटिका' (1908), बालकृष्ण भट्ट का 'बेणुसंहार' (1909), लक्ष्मी प्रसाद का 'उर्वशी' (1907) और हनुमंतसिंह का 'सती चरित' (1910), शिवनन्दन मिश्र का 'शकुन्तला' (1911), जयशंकर प्रसाद का 'करुणालय (1912) बद्रीनाथ भट्ट का 'कुरुवन

दहन' (1915), माधव शुक्ल का 'महाभारत-पूर्वार्द्ध' (1916), हरिदास माणिक का 'पाण्डव-प्रताप' (1917) तथा माखन लाल चतुर्वेदी का 'कृष्णार्जुन-युद्ध (1918) महत्त्वपूर्ण हैं।

इन नाटकों का विषय पौराणिक होते हुए भी पारसी रंगमंच के अनुरूप मनोरंजन करने के लिए हास-परिहास, शोखी और छेड़छाड़ के वातावरण का ही आधार ग्रहण किया गया है।

ऐतिहासिक नाटक

पौराणिक नाटकों के साथ ही इस काल में कुछ ऐतिहासिक नाटक भी लिखे गए जिनमें : गंगाप्रसाद गुप्त का 'वीर जय माल' (1903), शालिग्राम कृत 'पुरु विक्रम' (1905), वृन्दावन लाल वर्मा का 'सेनापति ऊदल' (1909), कृष्ण प्रकाश सिंह कृत 'पन्ना' (1915), बद्रीनाथ भट्ट कृत 'चन्द्रगुप्त' (1915), हरिदास माणिक-कृत 'संयोगिता हरण' (1915), जयशंकर प्रसाद का 'राज्यश्री' (1915) और परमेश्वरदास जैन का 'वीर चूड़ावत सरदार' (1918) महत्त्वपूर्ण हैं। इन नाटकों में प्रसाद के 'राज्यश्री' नाटक को छोड़कर और किसी भी नाटक में इतिहास-तत्त्व की रक्षा नहीं हो सकी।

सामाजिक-राजनीतिक समस्यापरक नाटक

द्विवेदी-युग में भारतेन्दु-युग की सामाजिक-राजनीतिक और समस्यापरक नाटकों की प्रवृत्ति का अनुसरण भी होता रहा है। इस धारा के नाटकों में प्रताप नारायण मिश्र-कृत 'भारत दुर्दशा' (1903) भगवती प्रसाद-कृत 'वृद्ध विवाह' (1905), जीवानन्द शर्मा-कृत 'भारत विजय' (1906), रुद्रदत शर्मा-कृत 'कंठी जनेऊ का विवाह' (1906), कृष्णानन्द जोशी-कृत 'उन्नति कहां से होगी' (1915), मिश्र बन्धुओं का 'नेत्रोन्मीलन' (1915) आदि कई नाटक गिनाए जा सकते हैं। नाट्यकला की दृष्टि से विशेष महत्त्व न रखते हुए भी ये नाटक, समाज सुधार और नैतिकवादी जीवन दृष्टि से युक्त हैं।

व्यावसायिक दृष्टि से लिखे नाटक

इस युग में पारसी रंगमंच सक्रिय रहा जिसके लिए निरन्तर रोमांचकारी, रोमानी और धार्मिक नाटक लिखे जाते रहे। पारसी नाटक कम्पनियों के रूप में व्यवसायी रंगमंच का प्रसार भारतेन्दु-युग में ही हो चुका था। इस काल में

'ओरिजिनल थियेट्रिकल कम्पनी', 'विक्टोरिया थियेट्रिकल कम्पनी', 'एल्फ्रेड थियेट्रिकल कम्पनी', 'शेक्सपीयर थिटेट्रिकल कम्पनी', 'जुबिली कम्पनी' आदि कई कम्पनियां 'गुलबकावली', 'कनकतारा', 'इन्दर सभा', 'दिलफरोश', 'गुल फरोश', 'यहूदी की लड़की', जैसे रोमांचकारी नाटक खेलती थीं। रोमांचकारी रंगमंचीय नाटककारों में मोहम्मद मियाँ रादक', हुसैन मियाँ 'जर्राफ', मुन्शी विनायक प्रसाद 'तालिब', सैयद मेंहदी हसन 'अहसान', नारायण प्रसाद बेताब', आगा मोहम्मद 'हश्र' और राधेश्याम 'कथावाचक' उल्लेखनीय हैं। इनमें राधेश्याम कथावाचक और 'बेताब' ने सुरुचिपूर्ण धार्मिक-सामाजिक नाटक भी लिखे, किन्तु पारसी रंगमंच का सारा वातावरण दूषित ही रहा, जिसने द्विवेदी-युग में नाट्य लेखन की धारा को कुंठित कर दिया।

प्रहसन

इस काल में अनेकानेक स्वतंत्र प्रहसन भी लिखे गये। अधिकांश प्रहसन लेखकों पर पारसी रंगमंच का प्रभाव है, इसलिए वे अमर्यादित एवं उद्वंखल हैं। प्रहसनकारों में बदरीनाथ भट्ट एवं जी. पी. श्रीवास्तव के नाम सर्वाधिक उल्लेखनीय हैं। भट्ट जी के 'मिस अमेरिका', 'चुंगी की उम्मीदवारी', 'विवाह विज्ञापन', 'लबड़ध ोंधों' आदि शिष्ट-हास्यपूर्ण प्रहसन हैं। जी.पी. श्रीवास्तव ने छोटे-बड़े अनेक प्रहसन लिखे हैं। इन प्रहसनों में सौष्ठव और मर्यादा का अभाव है।

अनूदित नाटक

मौलिक नाटकों की कमी द्विवेदी-युग में अनूदित नाटकों द्वारा पूरी की गई। सामाजिक तथा राजनीतिक अशान्ति के इस वातावरण में लेखकों को हिन्दी नाटक-साहित्य की हीनता स्पष्ट दिखाई देती थी। अतः कुछ थोड़े उदात्तवादी परम्परा के लोगों का ध्यान संस्कृत नाटकों की ओर गया, परन्तु अधिकांश का अध्ययन बंगला तथा पाश्चात्य नाटकों की ओर ही अधिक था।

संस्कृत से लाला सीताराम ने 'नागानन्द', 'मृच्छकटिक', 'महावीरचरित', 'उत्तररामचरित', मालती माधव' और 'मालविकाग्निमित्र' और सत्यनारायण कविरत्न ने 'उत्तररामचरित' का अनुवाद किया। अंग्रेजी से शेक्सपीयर के नाटकों 'हेमलेट', 'रिचर्ड' द्वितीय', 'मैकवेथ' आदि का हिन्दी में अनुवाद भी लाला सीताराम ने किया। फ्रांस के प्रसिद्ध नाटककार 'ओलिवर' के नाटकों को

लल्लीप्रसाद पांडेय और गंगाप्रसाद श्रीवास्तव ने अंग्रेजी के माध्यम से अनूदित किया।

बंगला नाटकों का अनुवाद प्रस्तुत करने वालों में गोपालराम गहमरी स्मरणीय हैं। उन्होंने 'बनवीर' 'बभ्रुवाहन', 'देश दशा', 'विद्याविनोद', 'चित्रगंदा' आदि बंगला नाटकों के अनुवाद किये। बंगला नाटकों के अन्य समर्थ अनुवादक रामचन्द्र वर्मा तथा रूप नारायण पांडेय हैं। उन्होंने गिरीशचन्द्र घोष, द्विजेन्द्र लाल राय, रवीन्द्रनाथ ठाकुर, मनमोहन गोस्वामी, ज्योतीन्द्रनाथ ठाकुर तथा क्षीरोद प्रसाद के नाटकों का अनुवाद किया। पांडेय जी के अनुवाद बड़े सफल हैं, उनमें मूल नाटकों की आत्मा को अधिक सुरक्षित रखने का प्रयत्न किया गया है।

इसी प्रकार भारतेन्दु-युग तथा प्रसाद-युग को जोड़ने वाले बीच के लगभग 25-30 वर्षों में कोई उल्लेखनीय नाटक नहीं मिलता। भले ही प्रसाद-युगीन नाटककारों की आरम्भिक नाट्य कृतियाँ द्विवेदी-युग की सीमा में आती हैं, परन्तु आगे चलकर उनकी नाट्य कृतियों में जो वैशिष्ट्य आता है, वह उन्हें द्विवेदी-युग के लेखकों से पृथक्क् कर देता है। द्विवेदी-युग में हिन्दी रंगमंच विशेष सक्रिय नहीं रहा। इस युग में बद्रीनाथ भट्ट ही अपवादस्वरूप एक ऐसे नाटककार थे, जिन्होंने नाटकीय क्षमता का परिचय दिया है किन्तु इनके नाटक भी पारसी कम्पनियों के प्रभाव से अछूते नहीं हैं। उनमें उत्कृष्ट साहित्यिक तत्त्व का अभाव है।

द्विवेदी युगीन प्रतिनिधि रचनाकार

प्रतिनिधि रचनाकारों में प्रमुख कवि आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी, मैथिली शरण गुप्त, पं. रामचरित उपाध्याय, पं. लोचन प्रसाद पांडेय, राय देवी प्रसाद 'पूर्ण', पं. नाथू राम शर्मा, पं. गया प्रसाद शुक्ल 'सनेही', पं. राम नरेश त्रिपाठी, लाला भगवानदीन 'दीन' पं. रूप नारायण पांडेय, पं. सत्य नारायण 'कविरत्न', वियोगी हरि, अयोध्या सिंह उपाध्याय, गिरिधर शर्मा 'नवरत्न', सैयद अमीर अली 'मीर', कामता प्रसाद गुरू, बाल मुकुंद गुप्त, श्रीधर पाठक, मुकुटधर पांडेय तथा ठाकुर गोपालशरण सिंह आदि हैं।

आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी

आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी (1864–1938) हिन्दी के महान साहित्यकार, पत्रकार एवं युगप्रवर्तक थे। उन्होने हिंदी साहित्य की अविस्मरणीय सेवा की और

अपने युग की साहित्यिक और सांस्कृतिक चेतना को दिशा और दृष्टि प्रदान की। उनके इस अतुलनीय योगदान के कारण आधुनिक हिंदी साहित्य का दूसरा युग 'द्विवेदी युग' (1893–1918) के नाम से जाना जाता है। (1) उन्होंने सत्रह वर्ष तक हिन्दी की प्रसिद्ध पत्रिका सरस्वती का सम्पादन किया। हिन्दी नवजागरण में उनकी महान भूमिका रही। भारतीय स्वतन्त्रता आन्दोलन को गति व दिशा देने में भी उनका उल्लेखनीय योगदान रहा।

महावीर प्रसाद द्विवेदी का जन्म उत्तर प्रदेश के रायबरेली जिले के दौलतपुर गाँव में सन् 1864 में हुआ था। इनके पिता का नाम पं॰ रामसहाय दुबे था। ये कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे। धनाभाव के कारण इनकी शिक्षा का क्रम अधिक समय तक न चल सका। इन्हें जी आई पी रेलवे में नौकरी मिल गई। 18 वर्ष की आयु में रेल विभाग अजमेर में 1 वर्ष का प्रवास। नौकरी छोड़कर मुंबई प्रस्थान एवं टेलीग्राफ का काम सीखकर इंडियन मिडलैंड रेलवे में तार बाबू के रूप में नियुक्ति। अपने उच्चाधिकारी से न पटने और स्वाभिमानी स्वभाव के कारण 1904 में झाँसी में रेल विभाग की 200 रुपये मासिक वेतन की नौकरी से त्यागपत्र दे दिया।

नौकरी के साथ-साथ द्विवेदी अध्ययन में भी जुटे रहे और हिंदी के अतिरिक्त मराठी, गुजराती, संस्कृत आदि का अच्छा ज्ञान प्राप्त कर लिया।

सन् 1903 में द्विवेदी जी ने सरस्वती मासिक पत्रिका के संपादन का कार्यभार सँभाला और उसे सत्रह वर्ष तक कुशलतापूर्वक निभाया। जैसे ही उन्हें 'सरस्वती' से आमन्त्रण प्राप्त हुआ, उन्होने रेलवे की नौकरी से त्यागपत्र दे दिया। 200 रूपये मासिक की नौकरी को त्यागकर मात्र 20 रूपये प्रतिमास पर सरस्वती के सम्पादक के रूप में कार्य करना उनके त्याग का परिचायक है। (2) संपादन-कार्य से अवकाश प्राप्त कर द्विवेदी जी अपने गाँव चले आए और वहीं सं 1938 में इनका स्वर्गवास हो गया।

महावीरप्रसाद द्विवेदी हिन्दी के पहले लेखक थे, जिन्होंने केवल अपनी जातीय परंपरा का गहन अध्ययन ही नहीं किया था, बल्कि उसे आलोचकीय दृष्टि से भी देखा था। उन्होने अनेक विधाओं में रचना की। कविता, कहानी, आलोचना, पुस्तक समीक्षा, अनुवाद, जीवनी आदि विधाओं के साथ उन्होंने अर्थशास्त्र, विज्ञान, इतिहास आदि अन्य अनुशासनों में न सिर्फ विपुल मात्रा में लिखा, बल्कि अन्य लेखकों को भी इस दिशा में लेखन के लिए प्रेरित किया। द्विवेदी जी केवल कविता, कहानी, आलोचना आदि को ही साहित्य मानने के

विरुद्ध थे। वे अर्थशास्त्र, इतिहास, पुरातत्त्व, समाजशास्त्र आदि विषयों को भी साहित्य के ही दायरे में रखते थे। वस्तुतः स्वाधीनता, स्वदेशी और स्वावलंबन को गति देने वाले ज्ञान-विज्ञान के तमाम आधारों को वे आंदोलित करना चाहते थे। इस कार्य के लिये उन्होंने सिर्फ उपदेश नहीं दिया, बल्कि मनसा, वाचा, कर्मणा स्वयं लिखकर दिखाया।

उन्होंने वेदों से लेकर पंडितराज जगन्नाथ तक के संस्कृत-साहित्य की निरंतर प्रवहमान धारा का अवगाहन किया था एवं उपयोगिता तथा कलात्मक योगदान के प्रति एक वैज्ञानिक दृष्टि अपनायी थी। उन्होंने श्रीहर्ष के संस्कृत महाकाव्य नैषधीयचरितम् पर अपनी पहली आलोचना पुस्तक 'नैषधचरित चर्चा' नाम से लिखी (1899), जो संस्कृत-साहित्य पर हिन्दी में पहली आलोचना-पुस्तक भी है। फिर उन्होंने लगातार संस्कृत-साहित्य का अन्वेषण, विवेचन और मूल्यांकन किया। उन्होंने संस्कृत के कुछ महाकाव्यों के हिन्दी में औपन्यासिक रूपांतर भी किया, जिनमें कालिदास कृत रघुवंश, कुमारसंभव, मेघदूत, किरातार्जुनीय प्रमुख हैं।

संस्कृत, ब्रजभाषा और खड़ी बोली में स्फुट काव्य-रचना से साहित्य-साधना का आरंभ करने वाले महावीर प्रसाद द्विवेदी ने संस्कृत और अंग्रेजी से क्रमशः ब्रजभाषा और हिन्दी में अनुवाद-कार्य के अलावा प्रभूत समालोचनात्मक लेखन किया। उनकी मौलिक पुस्तकों में नाट्यशास्त्र (1904 ई.), विक्रमांकदेव चरितचर्या (1907 ई.), हिन्दी भाषा की उत्पत्ति (1907 ई.) और संपत्तिशास्त्र (1907 ई.) प्रमुख हैं तथा अनूदित पुस्तकों में शिक्षा (हर्बर्ट स्पेंसर के 'एजुकेशन' का अनुवाद, 1906 ई.) और स्वाधीनता (जान, स्टुअर्ट मिल के 'ऑन लिबर्टी' का अनुवाद, 1907 ई.)।

द्विवेदी जी ने विस्तृत रूप में साहित्य रचना की। इनके छोटे-बड़े ग्रंथों की संख्या कुल मिलाकर 81 है। पद्य के मौलिक-ग्रंथों में काव्य-मंजूषा, कविता कलाप, देवी-स्तुति, शतक आदि प्रमुख हैं। गंगा लहरी, ऋतु तरंगिणी, कुमार संभव सार आदि इनके अनूदित पद्य-ग्रंथ हैं।

गद्य के मौलिक ग्रंथों में तरुणोपदेश, नैषध चरित्र चर्चा, हिंदी कालिदास की समालोचना, नाटय शास्त्र, हिंदी भाषा की उत्पत्ति, कालीदास की निरंकुशता आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। अनुवादों में वेकन विचार, रत्नावली, हिंदी महाभारत, वेणी संसार आदि प्रमुख हैं।

हिंदी भाषा के प्रसार, पाठकों के रुचि परिष्कार और ज्ञानवर्धन के लिए द्विवेदी जी ने विविध विषयों पर अनेक निबंध लिखे। विषय की दृष्टि से द्विवेदी जी के निबंध आठ भागों में विभाजित किए जा सकते हैं - साहित्य, जीवन चरित्र, विज्ञान, इतिहास, भूगोल, उद्योग, शिल्प भाषा, अध्यात्म। द्विवेदी जी ने आलोचनात्मक निबंधों की भी रचना की। उन्होंने आलोचना के क्षेत्र में संस्कृत टीकाकारों की भांति कृतियों का गुण-दोष विवेचन किया और खंडन-मंडन की शास्त्रार्थ पद्धति को अपनाया है।

द्विवेदी जी सरल और सुबोध भाषा लिखने के पक्षपाती थे। उन्होंने स्वयं सरल और प्रचलित भाषा को अपनाया। उनकी भाषा में न तो संस्कृत के तत्सम शब्दों की अधिकता है और न उर्दू-फारसी के अप्रचलित शब्दों की भरमार है वे गृह के स्थान पर घर और उच्च के स्थान पर ऊँचा लिखना अधिक पसंद करते थे। द्विवेदी जी ने अपनी भाषा में उर्दू और फारसी के शब्दों का निस्संकोच प्रयोग किया, किंतु इस प्रयोग में उन्होंने केवल प्रचलित शब्दों को ही अपनाया। द्विवेदी जी की भाषा का रूप पूर्णतः स्थित है। वह शुद्ध परिष्कृत और व्याकरण के नियमों से बंधी हुई है। उनका वाक्य-विन्यास हिंदी को प्रकृति के अनुरूप है कहीं भी वह अंग्रेजी या उर्दू के ढंग का नहीं।

शैली

द्विवेदी जी की शैली के मुख्यतः तीन रूप दृष्टिगत होते हैं-

परिचयात्मक शैली

द्विवेदी जी ने नये-नये विषयों पर लेखनी चलाई। विषय नये और प्रारंभिक होने के कारण द्विवेदी जी ने उनका परिचय सरल और सुबोध शैली में कराया। ऐसे विषयों पर लेख लिखते समय द्विवेदी जी ने एक शिक्षक की भांति एक बात को कई बार दुहराया है ताकि पाठकों की समझ में वह भली प्रकार आ जाए। इस प्रकार लेखों की शैली परिचयात्मक शैली है।

आलोचनात्मक शैली

हिंदी भाषा के प्रचलित दोषों को दूर करने के लिए द्विवेदी जी इस शैली में लिखते थे। इस शैली में लिखकर उन्होंने विरोधियों को मुंह-तोड़ उत्तर दिया। यह शैली ओजपूर्ण है। इसमें प्रवाह है और इसकी भाषा गंभीर है। कहीं-कहीं यह

शैली ओजपूर्ण न होकर व्यंग्यात्मक हो जाती है। ऐसे स्थलों पर शब्दों में चुलबुलाहट और वाक्यों में सरलता रहती है। 'इस म्यूनिसिपाल्टी के चेयरमैन (जिसे अब कुछ लोग कुर्सी मैन भी कहने लगे हैं) श्रीमान बूचा शाह हैं। बाप दादे की कमाई का लाखों रुपया आपके घर भरा है। पढ़े-लिखे आप राम का नाम हैं। चेयरमैन आप सिर्फ इसलिए हुए हैं कि अपनी कार गुजारी गवर्नमेंट को दिखाकर आप राय बहादुर बन जाएं और खुशामदियों से आठ पहर चौंसठ घर-घिरे रहें।'

विचारात्मक अथवा गवेषणात्मक शैली

गंभीर साहित्यिक विषयों के विवेचन में द्विवेदी जी ने इस शैली को अपनाया है। इस शैली के भी दो रूप मिलते हैं। पहला रूप उन लेखों में मिलता है, जो किसी विवादग्रस्त विषय को लेकर जनसाधारण को समझाने के लिए लिखे गए हैं। इसमें वाक्य छोटे-छोटे हैं। भाषा सरल है। दूसरा रूप उन लेखों में पाया जाता है, जो विद्वानों को संबोधित कर लिखे गए हैं। इसमें वाक्य अपेक्षाकृत लंबे हैं। भाषा कुछ क्लिष्ट है। उदाहरण के लिए -

अप्समार और विक्षप्तता मानसिक विकार या रोग है। उसका संबंध केवल मन और मस्तिष्क से है। प्रतिभा भी एक प्रकार का मनोविकार ही है। इन विकारों की परस्पर इतनी संलग्नता है कि प्रतिभा को अप्समार और विक्षिप्तता से अलग करना और प्रत्येक परिणाम समझ लेना बहुत ही कठिन है।

महत्त्वपूर्ण कार्य

हिन्दी के महान लेखक व पत्रकार महावीर प्रसाद द्विवेदी

हिंदी साहित्य की सेवा करने वालों में द्विवेदी जी का विशेष स्थान है। द्विवेदी जी की अनुपम साहित्य-सेवाओं के कारण ही उनके समय को द्विवेदी युग के नाम से पुकारा जाता है।

भारतेंदु युग में लेखकों की दृष्टि की शुद्धता की ओर नहीं रही। भाषा में व्याकरण के नियमों तथा विराम-चिह्नों आदि की कोई परवाह नहीं की जाती थी। भाषा में आशा किया, इच्छा किया जैसे प्रयोग दिखाई पड़ते थे। द्विवेदी जी ने भाषा के इस स्वरूप को देखा और शुद्ध करने का संकल्प किया। उन्होंने इन अशुद्धियों

की ओर आकर्षित किया और लेखकों को शुद्ध तथा परिमार्जित भाषा लिखने की प्रेरणा दी।

द्विवेदी जी ने खड़ी बोली को कविता के लिए विकास का कार्य किया। उन्होंने स्वयं भी खड़ी बोली में कविताएं लिखीं और अन्य कवियों को भी उत्साहित किया। श्री मैथिली शरण गुप्त, अयोध्या सिंह उपाध्याय जैसे खड़ी बोली के श्रेष्ठ कवि उन्हीं के प्रयत्नों के परिणाम हैं।

द्विवेदी जी ने नये-नये विषयों से हिंदी साहित्य को संपन्न बनाया। उन्हीं के प्रयासों से हिंदी में अन्य भाषाओं के ग्रंथों के अनुवाद हुए तथा हिंदी-संस्कृत के कवियों पर आलोचनात्मक निबंध लिखे गए।

इनके प्रोत्साहन तथा मार्गदर्शन में कवि एवं लेखकों की सेना खड़ी हो गई। खड़ी बोली को स्थायित्व देने तथा उसका परिष्कार करने का श्रेय इन्हीं को है। ये कवि, लेखक, आलोचक, निबंधकार, अनुवादक एवं संपादक सर्वतोमुखी प्रतिभा के धनी साहित्यकार थे।

कृतित्त्व

काव्य–'काव्य मंजूषा', 'सुमन', 'कान्यकुब्ज अबला विलाप', 'अयोध्या का विलाप'।

अनूदित - 'कवि कर्त्तव्य', 'ऋतु तरंगिनी', 'कुमारसंभव सार'।

संपादन–सरस्वती साहित्यिक पत्रा।

साहित्यिक विशेषताएं–कविता में सहजता, सरलता तथा उपदेशात्मकता के गुण विद्यमान थे। इनके काव्य में दो प्रकार की भाषा प्रयुक्त हुई है -' तत्सम प्रधान समस्त भाषा तथा प्रचलित शब्दावलीयुक्त सरल भाषा। पहले ब्रजभाषा में काव्य सृजन किया। बाद में ब्रजभाषा एकदम ही छोड़कर खड़ी बोली में काव्य सृजन करने लगे। कविताओं के बीच-बीच में सानुप्रास कोमल पदावली का व्यवहार द्विवेदी ने किया है। इस तथ्य पर सदैव बल दिया कि कविता की भाषा बोल चाल की भाषा होनी चाहिए। बोलचाल से उनका अभिप्राय ठेठ या हिंदूस्तानी भाषा नहीं था अपितु गद्य की व्यावहारिक भाषा को बोल-चाल की भाषा मानते थे।

संस्कृत वृत्तों का प्रयोग अधिक किया है। हिंदी के कुछ चलते छंदों में भी उन्होंने बहुत सी कविताएं लिखी हैं जिनमें संस्कृत के तत्सम शब्दों का प्रयोग कम किया गया है। अनुवाद में इनको पूर्ण सफलता मिली है।

बालकृष्ण भट्ट

पंडित बाल कृष्ण भट्ट (3 जून 1844- 20 जुलाई 1914) हिन्दी के सफल पत्रकार, नाटककार और निबंधकार थे। उन्हें आज की गद्य प्रधान कविता का जनक माना जा सकता है। हिन्दी गद्य साहित्य के निर्माताओं में भी उनका प्रमुख स्थान है।

पंडित बाल कृष्ण भट्ट के पिता का नाम पं॰ वेणी प्रसाद था। स्कूल में दसवीं कक्षा तक शिक्षा प्राप्त करने के बाद भट्ट जी ने घर पर ही संस्कृत का अध्ययन किया। संस्कृत के अतिरिक्त उन्हें हिंदी, अंग्रेजी, उर्दू, फारसी भाषाओं का भी अच्छा ज्ञान हो गया। भट्ट जी स्वतंत्र प्रकृति के व्यक्ति थे। उन्होंने व्यापार का कार्य किया तथा वे कुछ समय तक कायस्थ पाठशाला प्रयाग में संस्कृत के अध्यापक भी रहे किंतु उनका मन किसी में नहीं रमा। भारतेंदु जी से प्रभावित होकर उन्होंने हिंदी-साहित्य सेवा का व्रत ले लिया। भट्ट जी ने हिन्दी प्रदीप नामक मासिक पत्र निकाला। इस पत्र के वे स्वयं संपादक थे। उन्होंने इस रस पत्र के द्वारा निरंतर 32 वर्ष तक हिंदी की सेवा की। काशी नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा आयोजित हिंदी शब्दसागर के संपादन में भी उन्होंने बाबू श्याम सुंदर दास तथा शुक्ल जी के साथ कार्य किया।

उनका जन्म प्रयाग के एक प्रतिष्ठित परिवार में हुआ था। भट्ट जी की माता अपने पति की अपेक्षा अधिक पढ़ी-लिखी और विदुषी थीं। उनका प्रभाव बालकृष्ण भट्ट जी पर अधिक पड़ा। भट्ट जी मिशन स्कूल में पढ़ते थे। वहाँ के प्रधानाचार्य एक ईसाई पादरी थे। उनसे वाद-विवाद हो जाने के कारण इन्होंने मिशन स्कूल जाना बंद कर दिया। इस प्रकार वह घर पर रह कर ही संस्कृत का अध्ययन करने लगे। वे अपने सिद्धान्तों एवं जीवन-मूल्यों के इतने दृढ़ प्रतिपादक थे कि कालान्तर में इन्हें अपनी धार्मिक मान्यताओं के कारण मिशन स्कूल तथा कायस्थ पाठशाला के संस्कृत अध्यापक के पद से त्याग-पत्र देना पड़ा था। जीविकोपार्जन के लिए उन्होंने कुछ समय तक व्यापार भी किया परन्तु उसमें इनकी अधिक रुचि न होने के कारण सफलता नहीं मिल सकी। आपकी अभिरुचि आरंभ से ही साहित्य सेवा में थी। अत: सेवा-वृत्ति को तिलांजलि देकर वे यावज्जीवन हिन्दी साहित्य की सेवा ही करते रहे।

भट्ट जी एक अच्छे और सफल पत्रकार भी थे। हिन्दी प्रचार के लिए उन्होंने संवत 1933 में प्रयाग में हिन्दी वर्द्धिनी नामक सभा की स्थापना की।

उसकी ओर से एक हिन्दी मासिक पत्र का प्रकाशन भी किया, जिसका नाम था "हिन्दी प्रदीप"। वह बत्तीस वर्ष तक इसके संपादक रहे और इसे नियमित रूप से भली - भाँति चलाते रहे। हिन्दी प्रदीप के अतिरिक्त बालकृष्ण भट्ट जी ने दो-तीन अन्य पत्रिकाओं का संपादन भी किया। भट्ट जी भारतेन्दु युग के प्रतिष्ठित निबंधकार थे। अपने निबंधों द्वारा हिन्दी की सेवा करने के लिए उनका नाम सदैव अग्रगण्य रहेगा। उनके निबंध अधिकतर हिन्दी प्रदीप में प्रकाशित होते थे। उनके निबंध सदा मौलिक और भावना पूर्ण होते थे। वह इतने व्यस्त रहते थे कि उन्हें पुस्तकें लिखने के लिए अवकाश ही नहीं मिलता था। अत्यन्त व्यस्त समय होते हुए भी उन्होंने "सौ अजान एक सुजान", "रेल का विकट खेल", "नूतन ब्रह्मचारी", "बाल विवाह" तथा "भाग्य की परख" आदि छोटी-मोटी दस-बारह पुस्तकें लिखीं। वैसे आपने निबंधों के अतिरिक्त कुछ नाटक, कहानियाँ और उपन्यास भी लिखे हैं।

भट्ट जी ने हिंदी साहित्य के विभिन्न क्षेत्रों में लिखा। उन्हें मूलरूप से निबंध लेखक के रूप में जाना जाता है, लेकिन उन्होंने दो उपन्यास उपन्यास नूतन ब्रह्मचारी तथा सौ अजान एक सुजान लिखे।

मौलिक नाटक दमयंती, स्वयंवर, बाल-विवाह, चंद्रसेन, रेल का विकट खेल, आदि इनकी रचनाएं है।

अनुवाद भट्ट जी ने बंगला तथा संस्कृत के नाटकों के अनुवाद भी किए जिनमें वेणीसंहार, मृच्छकटिक, पद्मावती आदि प्रमुख हैं।

भाषा की दृष्टि से अपने समय के लेखकों में भट्ट जी का स्थान बहुत ऊँचा है। उन्होंने अपनी रचनाओं में यथाशक्ति शुद्ध हिंदी का प्रयोग किया। भावों के अनुकूल शब्दों का चुनाव करने में भट्ट जी बड़े कुशल थे। कहावतों और मुहावरों का प्रयोग भी उन्होंने सुंदर ढंग से किया है। भट्ट जी की भाषा में जहाँ तहाँ पूर्वीपन की झलक मिलती है। जैसे- समझा-बुझा के स्थान पर समझाय-बुझाय लिखा गया है। बालकृष्ण भट्ट की भाषा को दो कोटियों में रखा जा सकता है। प्रथम कोटि की भाषा तत्सम शब्दों से युक्त है। द्वितीय कोटि में आने वाली भाषा में संस्कृत के तत्सम शब्दों के साथ-साथ तत्कालीन उर्दू, अरबी, फारसी तथा ऑग्ल भाषीय शब्दों का भी प्रयोग किया गया है। वह हिन्दी की परिधि का विस्तार करना चाहते थे, इसलिए उन्होंने भाषा को विषय एवं प्रसंग के अनुसार प्रचलित हिन्दीतर शब्दों से भी समन्वित किया है। आपकी भाषा जीवंत तथा चित्ताकर्षक है। इसमें यत्र-तत्र पूर्वी बोली के प्रयोगों

के साथ-साथ मुहावरों का प्रयोग भी किया गया है, जिससे भाषा अत्यन्त रोचक और प्रवाहमयी बन गई है।

भट्ट जी ने जहाँ आँख, कान, नाक, बातचीत जैसे साधारण विषयों पर लेख लिखे हैं, वहाँ आत्मनिर्भरता, चारु चरित्र जैसे गंभीर विषयों पर भी लेखनी चलाई है। साहित्यिक और सामाजिक विषय भी भट्ट जी से अछूते नहीं बचे। 'चंद्रोदय' उनके साहित्यिक निबंधों में से है। समाज की कुरीतियों को दूर करने के लिए उन्होंने सामाजिक निबंधों की रचना की। भट्ट जी के निबंधों में सुरुचि-संपन्नता, कल्पना, बहुवर्णन शीलता के साथ-साथ हास्य व्यंग्य के भी दर्शन होते हैं।

भट्ट जी की लेखन - शैली को भी दो कोटियों में रखा जा सकता है। प्रथम कोटि की शैली को परिचयात्मक शैली कहा जा सकता है। इस शैली में उन्होंने कहानियाँ और उपन्यास लिखे हैं। द्वितीय कोटि में आने वाली शैली गूढ़ और गंभीर है। इस शैली में भट्ट जी को अधिक नैपुण्य प्राप्त है। आपने "आत्म-निर्भरता" तथा "कल्पना" जैसे गम्भीर विषयों के अतिरिक्त, "आँख", "नाक", तथा "कान", आदि अति सामान्य विषयों पर भी सुन्दर निबंध लिखे हैं। आपके निबंधों में विचारों की गहनता, विषय की विस्तृत विवेचना, गम्भीर चिन्तन के साथ एक अनूठापन भी है। यत्र-तत्र व्यंग्य एवं विनोद उनकी शैली को मनोरंजक बना देता है। उन्होंने हास्य आधारित लेख भी लिखे हैं, जो अत्यन्त शिक्षादायक हैं। भट्ट जी का गद्य गद्य न होकर गद्यकाव्य सा प्रतीत होता है। वस्तुतः आधुनिक कविता में पद्यात्मक शैली में गद्य लिखने की परंपरा का सूत्रपात श्री बालकृष्ण भट्ट जी ने ही किया था।

1. वर्णनात्मक शैली- वर्णनात्मक शैली में भट्ट जी ने व्यावहारिक तथा सामाजिक विषयों पर निबंध लिखे हैं। जन साधारण के लिए भट्ट जी ने इसी शैली को अपनाया। उनके उपन्यास की शैली भी यही है, किंतु इसे उनकी प्रतिनिधि शैली नहीं कहा जा सकता।

इस शैली की भाषा सरल और मुहावरेदार है। वाक्य कहीं छोटे और कहीं बड़े हैं।

2. विचारात्मक शैली- भट्ट जी द्वारा गंभीर विषयों पर लिखे गए निबंध इसी शैली के अंतर्गत आते हैं। तर्क और विश्वास, ज्ञान और भक्ति, संभाषण आदि निबंध विचारात्मक शैली के उदाहरण हैं।

इस शैली की भाषा में संस्कृत के शब्दों की अधिकता है।

3. भावात्मक शैली- इस शैली का प्रयोग भट्ट जी ने साहित्यिक निबंधों में किया है। इसे भट्ट जी की प्रतिनिधि शैली कहा जा सकता है।

इस शैली में शुद्ध हिंदी का प्रयोग हुआ है। भाषा प्रवाहमयी, संयत और भावानुकूल है। इस शैली में उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा आदि अलंकारों का प्रयोग भी हुआ है। अलंकारों के प्रयोग से भाषा में विशेष सौंदर्य आ गया है। भावों और विचार के साथ कल्पना का भी सुंदर समन्वय हुआ। इसमें गद्य काव्य जैसा आनंद होता है। चंद्रोदय निबंध का एक अंश देखिए- यह गोल-गोल प्रकाश का पिड देख भाँति-भाँति की कल्पनाएँ मन में उदय होती है कि क्या यह निशा अभिसारिका के मुख देखने की आरसी है या उसके कान का कुंडल अथवा फूल है यह रजनी रमणी के ललाट पर दुक्के का सफेद तिलक है।

4. व्यंग्यात्मक शैली- इस शैली में हास्य और व्यंग्य की प्रधानता है। विषय के अनुसार कहीं व्यंग्य अत्यंत मार्मिक और तीखा हो गया है।

इस शैली की भाषा में उर्दू शब्दों की अधिकता है और वाक्य छोटे-छोटे हैं।

साहित्य सेवा और स्थान- भारतेंदु काल के निबंध-लेखकों में भट्ट जी का सर्वोच्च स्थान है। उन्होंने पत्र, नाटक, काव्य, निबंध, लेखक, उपन्यासकार अनुवादक विभिन्न रूपों में हिंदी की सेवा की और उसे धनी बनाया।

साहित्य की दृष्टि से भट्ट जी के निबंध अत्यंत उच्चकोटि के हैं। इस दिशा में उनकी तुलना अंग्रेजी के प्रसिद्ध निबंधकार चार्ल्स लैंब से की जा सकती है। गद्य काव्य की रचना भी सर्वप्रथम भट्ट जी ने ही प्रारंभ की। इनसे पूर्व हिंदी में गद्य काव्य का नितांत अभाव था।

बाबू मैथिलीशरण गुप्त

मैथिलीशरण गुप्त का जन्म सन् 1886 में जिला झांसी के चिरगांव में हुआ था। वे द्विवेदी युग के सर्वाधिक लोकप्रिय कवि थे। इनकी आरंभिक रचनाएं कोलकाता से निकलने वाले 'वैश्योपकारक' में प्रकाशित होती थीं। बाद में आचार्य महावीर द्विवेदी से परिचय हो जाने पर 'सरस्वती' में प्रकाशित होने लगीं। मैथिलीशरण गुप्त प्रसिद्ध राम भक्त कवि थे। इन्होंने भारतीय जीवन के समग्रता में समझने तथा प्रस्तुत करने का सफल प्रयास किया है। 'मानस' के पश्चात् हिंदी

में रामकाव्य का द्वितीय स्तंभ मैथिलीशरण गुप्त कृत 'साकेत' ही है। इन्होंने दो महाकाव्यों तथा उन्नीस खंड काव्यों का प्रणयन किया है।

कृतित्त्व

काव्य–'रंग में भंग', 'भारत भारती', 'साकेत', 'जयद्रथ वध', 'पंचवटी', 'झंकार', 'यशोधरा', 'द्वापर', 'जय भारत', 'विष्णु प्रिया'।

अनूदित- 'प्लासी का युद्ध', 'मेघनाथ वध' तथा 'वृत्रा संहार'।

नाटक- 'तिलोत्तमा', 'चन्द्रहास' तथा 'अनाथ'।

साहित्यिक विशेषताएं–इनका चरित्र-चित्रण कौशल भी उत्कृष्ट प्रबंध कला का प्रमाण है। खड़ी बोली के स्वरूप निर्धारण और विकास में इनका अन्यतम योगदान है। खड़ी बोली को काव्योपयुक्त रूप प्रदान करने वालों में गुप्त अग्रगण्य हैं। ये भारतीय संस्कृति के अनन्य प्रस्तोता थे। सांस्कृतिक परंपराओं में पूर्ण आस्था रखने वाले गुप्त ने कभी युग धर्म की उपेक्षा नहीं की है। भारतीय संस्कृति के प्रवक्ता होने के अलावा ये स्वतन्त्र भारत के राष्ट्रीय कवि भी थे। इनका काव्य राष्ट्रीय भावना से भरपूर है।

पंडित रामचरित उपाध्याय

सन् 1872-1938 में जन्मे रामचरित उपाध्याय उत्तर प्रदेश गाजीपुर जिले के रहने वाले थे। इनकी आरंभिक शिक्षा संस्कृत में हुई। बाद में ब्रजभाषा और खड़ी बोली पर भी अच्छा अधिकार प्राप्त कर लिया। पहले ये प्राचीन विषयों पर ही काव्य सृजन करते थे किन्तु आचार्य द्विवेदी के संपर्क में आने पर खड़ी बोली तथा नवीन विषयों को अपनाया।

कृतित्त्व–'रामचरित चिंतामणि' - प्रबंध काव्य सूक्ति 'मुक्तावली' तथा 'राष्ट्रभारती', 'देवदूत', 'देवसभा', 'विचित्र विवाह' आदि काव्य।

साहित्यिक विशेषताएं–विविध छंदों का प्रयोग प्रबंध काव्य में किया है। भाषा की सफाई तथा वाग्वैदग्ध्य है।

पंडित लोचन प्रसाद पांडेय

द्विवेदी युगीन कवियों में लोचन प्रसाद पांडेय (1886-1959 ई.) को विशेष प्रसिद्धि मिली थी। इनका जन्म सन् 1886 में विलासपुर (मध्य प्रदेश) जिले के बालापुर नामक गाँव में हुआ था। हिंदी, उड़िया, संस्कृत तथा अंग्रेजी

आदि भाषाओं के ज्ञाता थे। साहित्य सेवा के लिए 'काव्य विनोद' तथा 'साहित्य वाचस्पति' की उपाधि मिली थी।

कृतित्व- 'प्रवासी', 'मेवाड़ गाथा', 'महानदी' तथा 'पद्य पुष्पांजलि'।

राय देवीप्रसाद 'पूर्ण'

राय देवीप्रसाद 'पूर्ण' का जन्म सन् 1868-1915 में जबलपुर में हुआ था। वहीं पर बी.ए. एल.एल.बी. तक की शिक्षा प्राप्त कर कुछ दिनों तक वकालत की और बाद में कानपुर चले गए। वकालत के साथ-साथ ये सार्वजनिक कार्यों में अति उत्साह के साथ सम्मिलित होते थे। ये संस्कृत के अच्छे ज्ञाता थे। वेदांत में विशेष रूचि थी। व्यावसायिक तथा सामाजिक क्रियाकलापों की व्यस्तता में रहते हुए भी साहित्याध्ययन एवं प्रणयन में सदैव दत्त-चित्त थे।

कृतित्त्व

काव्य-'स्वदेशी कुंडल' - 'मृत्युंजय', 'राम-रावण विरोध', तथा 'वसंत-वियोग' संग्रह।

अनूदित- 'धाराधर धावन' (कालिदास के मेघदूत का अनुवाद)।

साहित्यिक विशेषता- काव्य में उपदेशात्मकता विद्यमान है-

पंडित नाथूराम शर्मा 'शंकर' का जन्म सन् 1859 में अलीगढ़ में हुआ था। ये हिंदी, उर्दू, फारसी तथा संस्कृत भाषाओं के ज्ञाता थे। 13 वर्ष की छोटी सी आयु में ही इन्होंने अपने एक साथी पर एक दोहा लिखा था। कानपुर में भारतेंदुमंडल के प्रसिद्ध कवि प्रतापनारायण मिश्र के संपर्क में आते ही 'ब्राह्मण' नामक पत्रिका में इनकी रचनाएं प्रकाशित होने लगीं। बाद में इनको आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी द्वारा संपादित 'सरस्वती' के मुख्य कवियों में स्थान मिल गया। प्रारंभ में ये ब्रज भाषा के कवि रहे किंतु शीघ्र ही खड़ी बोली की ओर झुक गए। उर्दू में भी काव्य सृजन का अच्छा कार्य कर लेते थे।

कृतित्त्व-'अनुराग रत्न', 'शंकर सरोज', 'गर्भरंडा-रहस्य' (विधवाओं की बुरी स्थिति, तथा देव मंदिरों के अनाचार से संबंधित प्रबंध काव्य) तथा 'शंकर सर्वस्व'।

साहित्यिक विशेषताएं-इनके काव्य में सभी प्रकार के छंदों का प्रयोग हुआ है। छंद शास्त्र के मर्मज्ञ थे। रीतिकालीन पद्धति में इन्होंनें शृंगारमयी रचनाएं भी कीं। भाषा मनोरंजक है।

पंडित गया प्रसाद शुक्ल 'सनेही'

कविवर गया प्रसाद शुक्ल 'सनेही' का जन्म सन् 1883 में ग्राम हड़हा जनपद उन्नाव में हुआ था। उर्दू के अधिकारी विद्वान होने के फलस्वरूप ये हिंदी-उर्दू दोनों भाषाओं में समान रूप से काव्य सृजन करते थे। प्राचीन एवं नवीन दोनों प्रकार की शैलियों में अभिरूचि थी। शृंगार आदि परंपरागत विषयों पर काव्य की रचना 'सनेही' उपनाम से तथा राष्ट्रीय भावनाओं से संबंधित कविता का सृजन 'त्रिशूल' उपनाम से किया है।

कृतित्त्व

काव्य–'कृषक-क्रंदन', 'प्रेम पचीसी', 'राष्ट्रीय वीणा', 'त्रिशूल तरंग', 'करुणा कादंबिनी' आदि।

काव्य पत्रिका- 'सुकवि' नामक काव्य पत्रिका के संपादक थे।

साहित्यिक विशेषताएं–खड़ी बोली में कवित्व और सवैया छंद प्रयोग में इन्हें सिद्ध-हस्तता प्राप्त थी। उर्दू शब्दों के कुशल प्रयोगकर्ता रहे हैं। सामयिक आंदोलनों से संबंधित अनेक प्रयाण एवं बलिदान गीतों की रचना की।

पंडित राम नरेश त्रिपाठी

राम नरेश त्रिपाठी का जन्म सन् 1889 में ग्राम कोईरी पुर, जनपद जौनपुर में हुआ था। सुलतानपुर रेलवे स्टेशन के पश्चिम में ही आवास था। रेलवे के द्वारा भूमि का अधिग्रहण कर लिए जाने पर कोईरी पुर पैत्रिक स्थान पर चले गए। रुद्रपुर, सुलतानपुर में स्थित प्रेस अब भी चल रहा है जिसकी देखभाल इनके सुपुत्र कर रहे हैं। इनकी प्रारंभिक शिक्षा ग्राम की पाठशाला में ही हुई। अंग्रेजी पढ़ने हेतु जौनपुर के स्कूल में प्रवेश ले लिया किंतु अध्ययन क्रम नौंवी कक्षा से आगे नहीं चल सका। कविता के प्रति बचपन से ही रुचि थी। ग्राम के प्रधानाचार्य ब्रजभाषा में कविता लिखते थे।

कृतित्त्व–'ग्राम्यगीत', (संग्रह), 'मिलन', 'पथिक', 'मानसी' तथा 'स्वप्न', 'मिलन', 'पथिक', 'स्वप्न' काल्पनिक कथाश्रित प्रेमाख्यानक खंड काव्य हैं। मानसी मुक्त कविता संग्रह है।

संपादन–'कविता कौमुदी' (आठ भाग)

साहित्यिक विशेषताएं–मुक्त कविताओं में देश भक्ति, प्रकृति चित्रण तथा नीति निरूपण की प्रधानता है। खंड काव्यों में उपदेशात्मकता प्रधान है।

लाला भगवानदीन 'दीन'

लाला भगवान दीन 'दीन' का जन्म सन् 1866 में ग्राम बरबर जनपद फतहपुर में हुआ था। काव्य शास्त्र के पंडित थे। हिंदी उर्दू तथा फारसी के ज्ञाता थे।

कृतित्त्व

काव्य–'वीर क्षत्राणी', 'वीर बालक', 'वीर पंचरत्न' तथा 'नवीन बीन' अन्य कविता संग्रह हैं। 'नदी में दीन' फुटकल काव्य संग्रह है।

संपादन–लक्ष्मी के संपादक।

साहित्यिक विशेषताएं–युवावस्था में पुराने ढंग की कविताएं लिखीं। संपादक बनकर खड़ी बोली की ओर मुंह मोड़ा तथा फड़कती कविताएं लिखने लगे किंतु तर्ज मुंशियाना ही बनाए रखा। उर्दू की में अरबी–फारसी के शब्दों का प्रयोग करते थे। खड़ी बोली की कविताएं वीर रस से संबंधित होने के फलस्वरूप जोशीले भाषण का रूप धारण कर लेती हैं। वीर काव्यों में पौराणिक एवं ऐतिहासिक बहादुरों के चरित्र–चित्रण में ओजस्वी भाषा का प्रयोग किया है। प्राचीन काव्यों की टीकाएं लिखकर हिंदी साहित्य का अत्यधिक उपकार किया है।

पंडित रूपनारायण पांडेय

रूपनारायण पांडेय का जन्म सन् 1884 ई. में उत्तर प्रदेश की राजधानी लखनऊ में हुआ। प्रारंभ में ब्रजभाषा में कविता करते थे किंतु आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी के प्रभावस्वरूप खड़ी बोली में काव्य सृजन करने लगे।

कृतित्त्व

काव्य–'पराग' तथा 'वन–वैभव' मौलिक कविताओं के संकलन हैं।

संपादन–'नागरी–प्रचारक', 'इंदु' तथा 'माधुरी' आदि पत्रिकाओं का सफलतापूर्वक संपादन किया।

साहित्यिक विशेषताएं–इनका काव्य अति सरल एवं भावुकतामय है। इनकी सहानुभूति पशु पक्षियों तक पंहुच जाती है। संस्कृत तथा बंगला – काव्यों का अनुवाद कार्य भी किया।

पंडित सत्यनारायण 'कविरत्न'

पंडित सत्यनारायण 'कविरत्न' का जन्म सन् 1880 में अलीगढ़ में हुआ था। बाल्यावस्था में ही माता-पिता का स्वर्गवास हो गया। ताजगंज, आगरा के बाबा रघुबरदास ने इनको पाला। सन् 1910 में सेंट जौंस कॉलेज आगरा से बी. ए. परीक्षा में अनुत्तीर्ण हो गए। क्रमिक शिक्षा का अंत हो गया। छात्र काल में काव्य सृजन करने लगे थे। आरंभ में विनय के पद तथा समस्यापूर्ति लिखते थे। ये रसिक जीव थे। ब्रज की एकांत भूमि में अकेले बैठे ब्रज की सरस पदावली की रस मग्नता में खोए रहते थे। नंददास आदि कवियों की प्रणाली में पदों की रचना की। वेशभूषा सरल थी। काव्यमय जीवन था।

कृतित्त्व–'प्रेमकली' एवं 'भ्रमर दूत' कविताएं 'हृदय तरंग', (संग्रह)

अनूदित- होरेशस का अनुवाद।

साहित्यिक विशेषताएं– इनकी रचनाओं में देश की नई पुकार भी कहीं-कहीं सुनाई पड़ती है। ब्रज भाषा के सवैया पढ़ने का इनका ढंग ऐसा आकर्षक था कि श्रोता मंत्रा मुग्ध हो जाते थे। इनके कुछ पदों में गहरी खिन्नता दृष्टिगोचर होती है। नारी-शिक्षा के पक्षधर थे।

वियोगी हरि

वियोगी हरि ब्रजभूमि, ब्रजभाषा तथा ब्रजपति के अनन्य उपासक थे। उन्होंने अधिकतर पुराने कृष्णोपासक भक्त कवियों की प्रणाली पर अनेक रसमय पदों की रचना की है। कभी-कभी अनन्य प्रेमधारा से हटकर देश की दशा पर लेखनी चला दी है।

कृतित्त्व–'वीर सतसई'

साहित्यिक विशेषताएं–अधिकांश भक्तिपरक एवं प्रेम प्रधान रचनाएं कीं। देशभक्ति का चित्रण भी किया है। 'वीर सतसई' में प्रसिद्ध बहादुरों की प्रशंसाएं हैं, जो दोहा छंद में लिखी गई हैं। इनके पदों को पढ़कर या सुनकर रसिक भक्त बलिहारी जाते हैं।

अयोध्या सिंह उपाध्याय 'हरिऔध'

अयोध्या सिंह उपाध्याय 'हरिऔध' का जन्म सन् 1865 में ग्राम निजामाबाद जनपद आजमगढ़ में हुआ था। ये द्विवेदी युग की महान विभूति तथा खड़ी बोली को काव्य भाषा पद पर प्रतिष्ठित करने वाले महान कवि थे। ये सर्वप्रथम -

निजामाबाद के मिडिल स्कूल में अध्यापक नियुक्त हुए फिर सरकारी कानूनगों पद पर नियुक्त हो गए। वहां से अवकाश प्राप्त करने के पश्चात हिंदू विश्वविद्यालय वाराणसी में हिंदी के अवैतनिक प्राध्यापक हो गए। वृद्धावस्था के कारण विश्वविद्यालय की सेवा छोड़कर घर पर रहकर ही साहित्य साधना करने लगे।

कृतित्त्व

काव्य–'प्रिय प्रवास', 'पद्य प्रसून', 'चुभते चौपदे', 'चोखे चौपदें', 'वैदेही वनवास', 'पद्-प्रमोद', 'पारिजात', 'बोल-चाल', 'ऋतु मुकुर', 'काव्योपवन', 'प्रेम पुष्पोपहार', 'प्रेम प्रपंच', 'प्रेमांबु प्रस्रवण', 'प्रेमांबु-वारिधि' आदि।

रीतिग्रंथ–'रस कलस'।

गद्य–'ठेठ हिंदी का ठाट', 'अधखिला फूल', 'प्रेमकांता', 'वेनिस का बांका', एवं 'हिंदी भाषा और साहित्य का इतिहास'।

साहित्यिक विशेषताएं

हरिऔध द्विवेदी युग के ख्यातिप्राप्त कवि, उपन्यासकार, आलोचक, इतिहासकार तथा भाषा विज्ञान वेत्ता हैं। साहित्य सेवा के प्रति समर्पित। 'प्रिय प्रवास' खड़ी बोली में लिखा गया हिंदी का प्रथम महाकाव्य है जिसमें राधा कृष्ण को सामान्य नायिका-नायक के स्तर से उठाकर विश्व सेवी तथा विश्व प्रेमी के रूप में चित्रित किया गया है। 'रस कलस' में रस-स्वरूप, प्रकार का सूक्ष्म विवेचन किया गया है।

काव्य में सरलता, प्रांजलता एवं सौंदर्य की प्रधानता है। एक ओर निरलंकार सौंदर्य है तो दूसरी ओर संस्कृत की आलंकारिक समस्त पदावली की छटा विद्यमान है। खड़ी बोली को काव्योपयुक्त भाषा का रूप दिया है। दोहा, कविता, सवैया आदि के साथ-साथ संस्कृत वर्णिक छंदों का समावेश किया है। काव्य शैली अत्यन्त मार्मिक एवं भावपूर्ण है। संस्कृतनिष्ठ भाषा का प्रयोग है। प्रकृति चित्रण अति सजीव तथा परिस्थितियों से प्रभावित है। हरिऔध सर्वतोन्मुखी प्रतिभा के धनी, प्रबुद्ध साहित्यकार हैं।

गिरिधर शर्मा - 'नवरत्न'

गिरिधर शर्मा 'नवरत्न' (सन 1881-1961 ई.) का जन्म सन् 1881 में जयपुर में हुआ था। इनकी अधिकांश शिक्षा काशी में हुई। 'सरस्वती' तथा अन्य पत्रिकाओं में इनकी कविताएं प्रकाशित होती रहती थीं।

कृतित्त्व–'मातृवंदना' - मौलिक काव्य।

साहित्यिक विशेषताएं–इनकी कविताओं का मुख्य विषय स्वदेश-प्रेम था। हिंदी के अतिरिक्त संस्कृत के भी कवि थे। संस्कृत बंगला से हिंदी में पद्यानुवाद भी किए।

सैयद अमीर अली 'मीर'

सैयद अमीर अली 'मीर' का जन्म सन् 1873 में मध्य प्रदेश में हुआ था। बचपन में ही इनके पिता का स्वर्गवास हो गया जिसके परिणामस्वरूप चाचा के पास देवरी ग्राम सागर में रहे।

कृतित्त्व–'उलाहना पंचक' तथा 'अन्योक्ति शतक' मुख्य काव्य कृतियां हैं।

साहित्यिक विशेषताएं–साहित्य के क्षेत्र में प्रवेश समस्यापूर्ति के द्वारा हुआ। इन्होंने देवरी में 'मीर मंडल' कवि समाज की स्थापना की। हिंदी प्रेमी एवं राष्ट्रभाषा समर्थक थे। 'रामचरितमानस' के प्रति विशेष लगाव था। ईश्वर भक्ति और देश प्रेम इनकी कविता का मुख्य विषय था।

कामता प्रसाद गुरु

व्यक्तित्त्व- कामता प्रसाद गुरु का जन्म सागर, मध्य प्रदेश में हुआ।

कृतित्त्व

पद्य ग्रंथ- 'भौमासुर वध' तथा 'विनय पचासा' ब्रजभाषा में लिखे गये पद्य ग्रंथ हैं।

कविता संग्रह- 'पद्य पुष्पावली'।

कविताएं- 'शिवाजी' तथा 'दासी रानी'।

व्याकरण ग्रंथ- 'हिंदी व्याकरण।

साहित्यिक विशेषताएं–इनकी कविताएं सरल एवं भावपूर्ण हैं। ब्रजभाषा एवं खड़ी बोली दोनों में रचनाएं कीं। गुरु की ख्याति का मुख्य श्रेय उनके 'हिंदी व्याकरण' को है जिसे वर्तमान समय में भी हिंदी का आदर्श व्याकरण स्वीकारा जाता है।

बाल मुकुंद गुप्त

बाल मुकुंद गुप्त का जन्म सन् 1865 में ग्राम गुड़ियाना, जनपद रोहतक, हरियाणा प्रदेश में हुआ था। ये भारतेंदु युग एवं द्विवेदी युग को जोड़ने वाली कड़ी हैं।

कृतित्त्व–'स्फुट कविता', इनकी कविताओं का संकलन है।

साहित्यिक विशेषताएं–ये अच्छे कवि, अनुवादक और अपने समय के कुशल संपादक थे। हिंदी प्रेम इनकी कविताओं का विषय रहा है। ये अच्छे जीवट एवं हास्य-व्यंग्य प्रधान व्यक्ति थे।

श्रीधर पाठक

श्रीधर पाठक (सन् 1859-1928 ई.) का जन्म सन् 1859 में ग्राम जोंधारी जनपद आगरा में हुआ था। हिंदी के अलावा अंग्रेजी एवं संस्कृत का अच्छा ज्ञान प्राप्त किया था। आजीविका चलाने हेतु पाठक ने सरकारी सेवा कार्य अपनाया था। सेवा काल में ही इन्हें सरकारी कार्य से कश्मीर एवं नैनीताल भी जाना पड़ा था जहां इन्हें प्राकृतिक छटा देखने का भव्य अवसर मिला था।

कृतित्त्व

काव्य–'वनाष्टक', 'काश्मीर सुषमा', 'देहरादून' तथा 'भारत गीत'।

कविताएं- 'भारतोत्थान', 'भारत-प्रशंसा', 'जार्ज-प्रशंसा' तथा 'बाल-विधवा' आदि।

अनुवाद- कालिदास कृत 'ऋतुसंहार' - गोल्ड स्मिथ कृत 'हरमिट' - 'एकांतवासी योगी', डेजर्टेड 'विलेज'-'उजाड़ गांव', तथा 'द ट्रैवेलर' - 'श्रांत पथिक' नाम से काव्यानुवाद किया।

साहित्यिक विशेषताएं–ब्रजभाषा और खड़ी बोली दोनों में अच्छी कविताएं लिखी। ब्रजभाषा का स्वरूप सहज एवं बाह्याडंबर विहीन है। खड़ी बोली के श्रीधर प्रथम समर्थ कवि हैं। इनकी कविता के मुख्य विषय देश प्रेम, समाज सुधार तथा प्रकृति चित्रण हैं। देश का गौरवगान इन्होंने अति मनोयोग से किया किन्तु भारतेंदु युगीन कवियों की तरह श्रीधर पाठक में भी देशभक्ति के साथ-साथ राजभक्ति भी मिलती है। एक ओर इन्होंने 'भारतोत्थान' तथा 'भारत प्रशंसा' आदि जैसी देशभक्तिपूर्ण कविताएं लिखीं तो दूसरी ओर 'जार्ज वंदना' जैसी कविताओं में राजभक्ति का भी प्रदर्शन किया गया है।

विधवाओं की स्थिति तथा उनकी व्यथा का कारुणिक चित्र उपस्थित किया है।

अंकुर गोपाल शरण सिंह- ठाकुर गोपाल शरण सिंह (सन् 1891-1960 ई.) नई गढ़ी, रीवां में जन्में थे।

कृतित्त्व

काव्य–'माधवी', 'मानवी', 'संचिता' तथा 'ज्योतिष्मती' इनकी प्रमुख काव्यकृतियां हैं।

साहित्यिक विशेषताएं–इन्होंने खड़ी बोली को परिमार्जित करने तथा उसे माधुर्यपूर्ण रूप प्रदान करने में विशेष योगदान किया।

ब्रजभाषा के समान ही खड़ी बोली में सरस-मधुर कवित्त-सवैया आदि का सृजन किया। इनके काव्य में जीवन की विविध दशाओं के चित्र दृष्टिगोचर होते हैं।

मुकुटधर पांडेय

व्यक्तित्त्व- लोचन प्रसाद पांडेय के छोटे भाई मुकुटधर पांडेय का जन्म सन् 1895 ई. में हुआ।

कृतित्त्व–'पूजा-फूल' तथा 'कानन-कुसुम' काव्य संकलन हैं।

साहित्यिक विशेषताएं–ये अच्छे कवि थे। प्रकृति की उपासना करने वाले थे। इनके काव्य में भावात्मकता आंतरिक संवेदना तथा रहस्यात्मक अनुभूति दृष्टिगोचर होती है। इन्हें द्विवेदी युग का सर्वश्रेष्ठ प्रगीतकार माना गया है। इनका काव्य छायावादाभास देता है।

उपर्युक्त कवियों के अतिरिक्त द्विवेदी युग के सहयोगियों में लोकमणि, सत्य शरण रतूड़ी, मन्नन द्विवेदी, पदुम लाल पुन्ना लाल बख्शी, शिव कुमार त्रिपाठी, पार्वती देवी, तोष कुमारी आदि भी उल्लेखनीय हैं जिन्होंने तत्कालीन साहित्य की श्रीवृद्धि की है।

6

प्रसाद युग में हिन्दी गद्य साहित्य का स्वरूप

प्रसाद जी बहुमुखी प्रतिभा के साहित्यकार थे। उन्होंने काव्य, नाटक, कहानी, उपन्यास आदि सभी विधा में अपने कलम चलाए। उनके बाल्यकाल में ही भारतेन्दु-मंडल के सदस्य एक-एक कर अंत हो चुके थे। मौलिक नाटक इक्का-दुक्का दिखाई पड़ते थे। बंगला नाटकों के अनुवाद की भरमार थी। शेक्सपीयर के नाटकों का प्रभाव हिन्दी पर गहरा पड़ रहा था। भावोन्माद और करुणा को प्रमुख स्थान दिया जा रहा था। इस प्रकार एक तरफ नवयुग-प्रवर्तक भारतेन्दु जी और दूसरी तरफ पश्चिमी नाटकों की अभिनय कला के सन्धि-काल में प्रसाद जी ने नाटक-साहित्य-सृजन का काम शुरू किया।

अपने समन्वयात्मक शैली द्वारा प्रसाद जी ने हिंदी नाटकों को कलात्मक विकास तक पहुँचा दिया। उन्होंने हिंदी नाट्य सृजन को एक नई शैली दी और भारतीय और पाश्चात्य नाट्य विधान का समन्वय कर एक नवीन शिल्प का विकास किया। इसके परिणाम स्वरूप उनके नाटकों में पात्रों का चरित्र काफी व्यापक भूमि पर विकसित हुआ है। उनके नाटकों में मानवीय संवेदना के अनेक रूप दर्शाए गए हैं। अपने हरेक पात्र को उन्होंने एक निजी रूप प्रदान किया है। हर पात्र की एक अलग पहचान होती है। चरित्र विकास की यह मौलिकता ही

उनके नाटकों की सबसे बड़ी विशेषता है। पात्रों के अंतर्द्वन्द्व में पात्रों की वैयक्तिकता प्रकट होती है।

उनका भारतीय आदर्शवादी आस्था में पूरा विश्वास था। इसलिए उनके पात्रों का आदर्शवादी चरित्र उसके चरित्र को एक सीमा से आगे नहीं जाने देता। इसलिए उनका नायक न पूरी तरह परंपरासिद्ध है और न ही पूरी तरह वैचित्र्यमूलक ही। उसमें दोनों रूपों का सर्जनात्मक समन्वय है।

जैसा कि हम पहले चर्चा कर आए हैं, एक तरफ अव्यवसायी रंगमंच प्रसाद के आते-आते लगभग समाप्त हो गया था। वहीं दूसरी तरफ सस्ती जनरुचि के पोषक पारसी रंगमंच को हिंदी के शिष्ट समाज ने मान्यता ही नहीं दीया था। प्रसाद के लिए उसे अपनाने का प्रश्न ही नहीं था। उनके सामने चुनौती बहुत बड़ी थी। उस समय हिंदी का अपना कोई रंगमंच ही नहीं था। यही वह सबसे बड़ा कारण हो सकता है कि उन्होंने रंगनाटक न लिखकर काव्योमय औपन्यासिक नाटकों का सृजन किया। उन्होंने अपने नाटकों में अभिनयात्मक सृजन शैली का सहारा कम लिया। उनके नाटकों के संवाद वर्णनात्मक हैं और भावुकता से भरे हुए तथा बिम्बात्मक हैं। वे अपने काल्पनिक रंगमंच को व्यावहारिक रूप न दे सके। इसका परिणाम यह हुआ कि उनके नाटक अन्य सभी दृष्टियों से उत्कृष्ट होने पर भी अभिनय की दृष्टि से सफल न हो पाये।

प्रसाद जी की वाणी और चिंता दोनों ही इतनी मूल्यवान है कि उनके नाट्यलेखन का तकनीकी तौर पर कई जगह सुघड़ होना या न होना कोई मानी नहीं रखता। हमें यह सोचना चाहिए कि प्रासंगिक क्या है?-वह जो रंगमंचीय है और विचारशून्य है, या वह जिसमें रंगमंच की युक्तियां लेखक ने नहीं दीं, किंतु सारी संभावनाओं के दरवाजे खोल दिए।

पारसी रंगमंच का अंधानुकरण करने वालों या उनका विरोध करने वालों हिन्दी नाटककारों ने रंगकर्म से असंवाद की स्थिति बना ली। इसका परिणाम यह हुआ कि उस युग का नाटक सृजनात्मक-कलात्मक मूल्यों से दूर होता चला गया। इस स्थिति से उबरने के लिए प्रसाद जी ने, जीवन और रंगमंच के व्यापक संदर्भों को जोड़कर, नाटक को एक परिवर्तनकारी शक्ति में बदलने का सार्थक प्रयास किया।

प्रसाद जी का मानना था कि विदेशी औपनिवेशिक तंत्र के विरुद्ध लड़ने के पहले अपने भीतर के मानव को झिंझोड़कर उसे नई वैचारिक उष्मा के द्वारा प्रबुद्ध और जागृत करना होगा। इस दृष्टि को मूर्त रूप देने के लिए उन्होंने नई

रंग-शैली का सृजन किया। इसीलिए उनके नाटक विचार और व्यवहार, भावना और यथार्थ, परंपरा और आधुनिक, ऐतिहासिक और युगीन अंतर्विरोधी शक्तियों की टकराहट को दृश्य में रूपांतरित करने की छटपटाहट को व्यंजित करते हैं।

प्रसाद जी की कल्पनाशील रोमांटिक-धर्मी प्रकृति ने उनके नाटकों को बहुत आकर्षक रूप प्रदान किया। उनके नाटक, बीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध की राजनैतिक उथल-पुथल, अंतर्विरोधों और तनावों के बीच, भारतीय संदर्भ में मानव-नियति को समझने की कोशिश का नतीजा है।

प्रसाद के काल में नाटक

प्रसाद का आगमन नाट्य रचना में व्याप्त गतिरोध को समाप्त करने वाले युग-विधायक व्यक्ति के रूप में हुआ। उन्होंने एक प्रवर्त्तक के रूप में कविता, नाटक तथा निबंध आदि सभी क्षेत्रों में युग का प्रतिनिधित्व किया। हिन्दी नाटक-साहित्य में प्रसाद जी का एक विशिष्ट स्थान है। इतिहास, पुराण-कथा और अर्द्धमिथकीय वस्तु के भीतर से प्रसाद ने राष्ट्रीय सुरक्षा के सवाल को पहली बार अपने नाटकों के माध्यम से उठाया। दरअसल उनके नाटक अतीत कथाचित्रों के द्वारा तत्कालीन राष्टीय संकट को पहचानने और सुलझाने का मार्ग प्रशस्त करते हैं। 'चन्द्रगुप्त' 'स्कन्दगुप्त' और 'ध्रुवस्वामिनी' का सत्ता-सघंर्ष राष्ट्रीय सुरक्षा के प्रश्न से जुड़ा हुआ है।

प्रसाद ने अपने नाटकों की रचना द्वारा भारतेन्दुकालीन रंगमंच से बेहतर और संश्लिष्ट रंगमंच की माँग उठायी। उन्होंने नाटकों की अन्तर्वस्तु के महत्त्व को रेखांकित करते हुए रंगमंच को लिखित नाटक का अनुवर्ती बताया। इस तरह नाटक के पाठ्य होने के महत्त्व को उन्होंने नजरअन्दाज नहीं किया। नाट्य रचना और रंगकर्म के परस्पर सम्बन्ध के बारे में उनका यह निजी दृष्टिकोण काफी महत्त्वपूर्ण और मौलिक है।

प्रसाद जी के नाटक निश्चय ही एक नयी नाट्य भाषा के आलोक से चमचमाते हुए दिखते हैं। अभिनय, हरकत और एक गहरी काव्यमयता से परिपूर्ण रोमांसल भाषा प्रसाद की नाट्य-भाषा की विशेषताएँ हैं। इसी नाट्य-भाषा के माध्यम से प्रसाद अपने नाटकों में राष्ट्रीय चिन्ता के संग प्रेम के कोमल संस्पर्श का कारुणिक संस्कार देते हैं।

डॉ. गुलाबराय का कहना है, 'प्रसाद जी स्वयं एक युग थे।' उन्होंने हिन्दी नाटकों में मौलिक क्रांति की। उनके नाटकों को पढ़कर लोग जितेन्द्र लाल के

नाटकों को भूल गये। वर्तमान जगत के संघर्ष और कोलाहलमय जीवन से ऊबा हुआ उनका हृदयस्थ कवि उन्हें स्वर्णिम आभा से दीप्त दूरस्थ अतीत की ओर ले गया। उन्होंने अतीत के इतिवृत्त में भावना का मधु और दार्शनिकता का रसायन घोलकर समाज को एक ऐसा पौष्टिक अवलेह दिया जो ह्रास की मनोवृत्ति को दूर कर उसमें एक नई सांस्कृतिक चेतना का संचार कर सके। उनके नाटकों में द्विजेन्द्रलाल राय की-सी ऐतिहासिकता और रवि बाबू की-सी दार्शनिकतापूर्ण भावुकता के दर्शन होते हैं।

प्रसाद की आरम्भिक नाट्य कृतियां : सज्जन (1910), 'कल्याणी परिणय (1912), प्रायश्चित (1912), करुणालय (1913) और राज्यश्री (1918), द्विवेदी-युग की सीमा के अंतर्गत आती हैं। प्रसाद के इन नाटकों में उनका परम्परागत रूप तथा प्रयोग में भटकती हुई नाट्य दृष्टि ही प्रमुखता से उभर कर सामने आती है। नाटक रचना का प्रारम्भिक काल होने के कारण इन कृतियों में प्रसाद की नाट्य कला का स्वरूप स्थिर नहीं हो पाया है, वह अपनी दिशा खोज रही है। यह दिशा उन्हें विशाख (1921), अजातशत्रु (1922), कामना (1927), जनमेजय का नागयज्ञ (1926) स्कन्दगुप्त (1928), एक घूँट (1930), चन्द्रगुप्त (1931) और ध्रुवस्वामिनी (1933) में प्राप्त हुई। इन नाटकों में प्रसाद जी ने अपनी गवेषणा शक्ति और सूक्ष्म दृष्टि का परिचय दिया।

'सज्जन' का कथानक महाभारत की एक घटना पर आधारित है। इस नाटक में प्रसाद जी ने परम्परागत मान्यताओं को स्वीकार करते हुए भारतेन्दु-कालीन नाट्य-प्रणाली को अपनाया है। 'कल्याणी– परिणय' भी प्रसाद का प्रारम्भिक प्रयास है, जिसका अंतर्भाव उन्होंने बाद में 'चन्द्रगुप्त' के चतुर्थ अंक के रूप में किया है। 'करुणालय' बंगला के 'अमित्राक्षर अरिल्ल छंद' की शैली पर लिखा गया गीति-नाट्य है। 'प्रायश्चित' हिन्दी का प्रथम दुखांत मौलिक रूपक है। शिल्प-विधान की दृष्टि से प्रसाद ने इसमें सर्वप्रथम पाश्चात्य नाट्य-शिल्प को अपनाने का प्रयास किया है। सही अर्थों में 'राज्यश्री' प्रसाद का प्रथम उत्कृष्ट ऐतिहासिक नाटक है। 'विशाख' प्रसाद की पूर्ववर्ती और परवर्ती नाटकों में एक विभेदक रेखा है। इनका कथानक साधारण होते हुए भी देश की तत्कालीन राजनैतिक धार्मिक और सामाजिक समस्याओं की अभिव्यक्ति से ओतप्रोत है यद्यपि प्रसाद के अधिकांश नाटक ऐतिहासिक ही हैं, परन्तु इतिहास की पीठिका में वर्तमान की समस्याओं को वाणी देने का विचार प्रसाद ने सर्वप्रथम इसी नाटक में व्यक्त किया है। भूमिका में वे लिखते हैं मेरी इच्छा भारतीय इतिहास के

अप्रकाशित अंश में से उन प्रकांड घटनाओं का दिग्दर्शन कराने की है जिन्होंने हमारी वर्तमान स्थिति को बनाने में बहुत प्रयास किया है। और वह वर्तमान स्थिति परतंत्र भारत के राजनैतिक सामाजिक परिवेश से जुड़ी हुई थी। अपनी सत्ता को स्थायी बनाये रखने के लिए ब्रिटिश शासन द्वारा भारतीयों में फूट डालने के लिए अपनाये गये साम्प्रदायिकता, प्रांतीयतावाद के हथकण्डे प्रसाद से छिपे नहीं थे। अत: इतिहास की पीठिका पर उन्होंने वर्तमान के इन प्रश्नों को यथार्थ की दृष्टि से उठाते हुए समन्वयवादी आदर्श समाधान प्रस्तुत किये। युगीन साम्प्रदायिक प्रभावों को आत्मसात करते हुए प्रसाद ने अपने नाटकों में ब्राह्मण-बौद्ध धार्मिक संघर्षों को रूपायित किया है। 'जनमेजय का नागयज्ञ' नाटक आर्यों और नागजति तथा आर्य-नाग-संघर्ष की पृष्ठभूमि में रचा गया है। 'अजातशत्रु' में आर्य जनपदों का पारस्परिक संघर्ष परोक्ष रूप में युगीनसाम्प्रदायिक संघर्षों का ही प्रतिरूप है। इस प्रकार अपनी इन प्रौढ़ कृतियों में प्रसाद ने जातीय, क्षेत्रीय तथा वैयक्तिक भेदों को मिटाकर व्यापक राष्ट्रीयता का आह्वान किया है। इस दृष्टि से 'स्कन्दगुप्त' और 'चन्द्रगुप्त' विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। 'कामना' और 'एक घूंट' भिन्न कोटि के नाटक हैं। इनकी कथावस्तु ऐतिहासिक नहीं है। कथ्य की दृष्टि से भी ये भिन्न हैं। इनमें प्रसाद ने भौतिक विलासिता का विरोध किया है। 'कामना' में विभिन्न भावों को पात्र रूप में प्रस्तुत किया गया है, इसलिए उसे प्रतीक नाटक कहा जा सकता है। 'एक घूंट' एकांकी है और उसमें प्रसाद ने यथार्थ और आदर्श की स्थिति, जीवन का लक्ष्य और स्त्री-पुरुष की प्रेम-भावना के सामंजस्य को चित्रित किया है। 'ध्रुवस्वामिनी' प्रसाद की अन्तिम कृति है। अन्य नाटकों में प्रसाद विशेष रूप से राजनैतिक प्रश्नों के यथार्थ से जूझते रहे हैं, परन्तु 'ध्रुवस्वामिनी' में सामाजिक जीवन की वर्तमान युगीन नारी समस्या पर बौद्धक विचार विमर्श कर यथार्थ दृष्टि का परिचय दिया है। नारी-जीवन की इस सामाजिक समस्या के प्रति प्रसाद का आकर्षण वर्तमान नारी-आन्दोलन का ही परिणाम है। आज के समाज में नारी की स्थिति, दासता कीशृंखला से उसकी मुक्ति, विशिष्ट परिस्थितियों में पुर्नविवाह की समस्या को बड़े साहस, संयम, तर्क और विचार एवं धर्म की पीठिका पर स्थित करके इस नाटक में सुलझाया गया है।

स्पष्ट है कि प्रसाद जी ने हिन्दी नाटक की प्रवहमान् धारा को एक नए मोड़ पर लाकर खड़ा किया। वे एक सक्षम साहित्यकार थे। उनके हृदय में भारतीय संस्कृति के प्रति अगाध ममता थी। उन्हें विश्वास था कि भारतीय

संस्कृति ही मानवता का पथ प्रशस्त कर सकती है। इसी कारण अपने नाटकों द्वारा प्रसाद जी ने भारतीय संस्कृति के भव्य रूप की झांकी दिखाकर राष्ट्रीय आन्दोलन के साथ-साथ अपने देश के अधुनातन निर्माण की पीठिका भी प्रस्तुत की है। भारतेन्दु ने अपने नाटकों में जिस प्राचीन भारतीय संस्कृति की स्मृति को भारत की सोई हुई जनता के हृदय में जगाया था, प्रसाद ने नाटकों में उसी संस्कृति के उदात्त और मानवीय रूप पर अपनी भावी संस्कृति के निर्माण की चेतना प्रदान की। पर यह समझना भी भूल होगी कि उन्होंने केवल भारतीय संस्कृति के गौरव-गान के लिए ही नाटकों की रचना की। वस्तुतः उनका नाट्य साहित्य ऐतिहासिक होते हुए भी सम-सामयिक जीवन के प्रति उदासीन नहीं है, वह प्रत्यक्ष को लेकर मुखर है और उनमें लोक-संग्रह का प्रयत्न है, राष्ट्र के उद्‌बोधन की आकांक्षा है।

प्रसाद से पूर्व साहित्यिक नाटकों का अभाव था। जिस समय भारतेन्दु ने नाटक-रचना की शुरूआत की, उनके सामने पहले से निश्चित, प्रतिष्ठित हिन्दी का कोई रंगमंच न था, अतः उन्होंने संस्कृत, लोकनाटक एवं पारसी रंगमंच शैली की विभिन्न रंगपरम्पराओं को सुधारवादी यथार्थ कथ्य के अनुरूप मोड़ देने का स्तुत्य प्रयास किया। प्रसाद के युग तक नाटकों में पारसी रंगशिल्प का स्वरूप निर्धारित हो चुका था, अतः पारसी रंगमंच की अतिरंजना, चमत्कार, फूहड़ता, शोखभाषा, चुलबुले संवाद, शेरोशायरी के घटियापन की प्रतिक्रिया में प्रसाद ने अपने ऐतिहासिक, राष्ट्रीय नाटकों की रचना की। दार्शनिकता, सांस्कृतिक बोध, उदात्त कल्पना, काव्यमय अलंकृति, दुरूह भाषा का विन्यास उनकी उपलब्धि था। फिर भी साहित्यिक और कलात्मक वैशिष्ट्य होते हुए भी प्रसाद में नाट्य शिल्प के अनेक दोष दिखाई देते हैं। एक तथ्य यह है कि प्रकारान्तर से उन्होंने अतिरंजना की रूढ़ि को किंचित परिवर्तन के साथ ग्रहण किया।

यह परिवर्तन प्रमुखतः शेक्सपीयर के जीवन-बोध, एवं रंगविधान के प्रभावस्वरूप ही आया था। शेक्सपीयर का रोमानी बोध एवं नियतिवाद संभवतः भारतीय युगीन परिवेश के कारण भी स्वतः उद्‌भूत होकर प्रसाद की चेतना पर छा गया था। इन्हीं कारणों से प्रसाद मूलतः कवि, दार्शनिक तथा संस्कृति के जागरूक समर्थक थे। जीवन दृष्टि के अनुरूप उन्होंने अपने नाटकों की रचना स्वच्छन्दतावादी नाट्य-प्रणालियों को आधार बनाकर कल्पना, भावुकता, सौन्दर्य-प्रेम, अतीत के प्रति अनुराग, उच्चादर्शों के प्रति मोह तथा शैली शिल्प की स्वच्छन्दता आदि को ग्रहण किया। किन्तु ऐसे साहित्यिक नाटकों के अनुरूप रंगमंच हिन्दी

में नहीं था इसलिए अन्य सभी दृष्टियों से सफल होते हुए भी प्रसाद के नाटक अभिनय की दृष्टि से सफल नहीं हो सके। इधर हिन्दी रंगमंच के क्षेत्र में नए प्रयोग हो रहे हैं जिससे आज के रंगकर्मी, प्रसाद के नाटकों को चुनौती के रूप में स्वीकार करने लगे हैं। उनके नाटकों को इसीलिए सर्वथा अभिनेय नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उनमें से कुछ छुटपुट रूप से उनके जीवन काल में ही खेले गये थे। फिर भी आकार की विपुलता, दृश्यों की भरमार, चरित्र-बाहुल्य और विलक्षण दृश्य-योजना उनके नाटकों को रंगमंच के लिए अति कठिन बना देती है।

आधुनिक हिन्दी नाटक साहित्य के विकास में जयशंकर प्रसाद के बाद हरिकृष्ण प्रेमी को गौरवपूर्ण स्थान दिया जाता है। प्रसाद-युग में 'प्रेमी' ने 'स्वर्ण-विहान' (1930), 'रक्षाबन्धन' (1934), 'पाताल विजय' (1936), 'प्रतिशोध' (1937), 'शिवासाधना' (1937) आदि नाटक लिखे हैं। इनमें 'स्वर्ण विहान', गीतिनाट्य है और शेष गद्य नाटक। प्रसाद ने जहाँ प्राचीन भारत का चित्रण करते हुए सत्य, प्रेम, अहिंसा व त्याग का संदेश दिया, वहाँ प्रेमी जी ने मुस्लिम-युगीन भारत को नाट्य-विषय के रूप में ग्रहण करते हुए हिन्दू-मुस्लिम एकता स्थापित करने का प्रयत्न किया। देश के उत्थान और संगठन के लिए इनके नाटक राष्ट्रीय भावना का प्रचार करने वाले हैं। प्रेमी जी प्रसाद की परम्परा के अनुयायी हैं। परन्तु उन्होंने प्रसाद जी की भांति अपने नाटकों को साहित्यिक और पाठ्य ही न रखकर उनको रंगमंच के योग्य भी बनाया है। साहित्यिकता और रंगमंचीयता का समन्वय है उनके नाटकों की विशेषता है। उन्होंने संस्कृत नाट्य परम्परा का अनुसरण न करके पाश्चात्य नाट्यकला को अपनाया है। इन नाटकों के कथानक संक्षिप्त एवं सुगठित, चरित्र सरल एवं स्पष्ट, संवाद पात्रानुकूल एवं शैली सरल व स्वभाविक है।

उपर्युक्त प्रमुख नाट्य कृतियों के अतिरिक्त आलोच्य युग में धार्मिक-पौराणिक और ऐतिहासिक नाटकों की रचना अत्यधिक हुई। इन नाटकों में कलात्मक विकास विशेष रूप से नहीं हुआ, किन्तु युग की नवीन प्रवृत्तियों से प्रभावित होकर कई नाटककारों ने अपनी रचनाओं में नवीन दृष्टिकोण को अपनाया। धार्मिक नाट्यधारा के अन्तर्गत कृष्ण चरित-राम चरित, पौराणिक तथा अन्य सन्त महात्माओं के चरित्रों को लेकर रचनाएं प्रस्तुत की गईं। इस धारा की उल्लेखनीय रचनाएं हैं– अम्बिकादत्त त्रिपाठी कृत 'सीय-स्वयंवर' (1918), रामचरित उपाध्याय-कृत 'देवी द्रौपदी' (1921),

राम नरेश त्रिपाठी कृत 'सुभद्रा' (1924) तथा 'जयन्त' (1934), गंगाप्रसाद अरोड़ा-कृत 'सावित्री सत्यवान' गौरीशंकर प्रसाद-कृत- 'अजामिल चरित्र नाटक' (1926), पूरिपूर्णानन्द वर्मा-कृत 'वीर अभिमन्यु नाटक' (1927), वियोगी हरि-कृत (1925), 'छद्मयोगिनी' (1929) और 'प्रबुद्ध यामुन' अथवा 'यामुनाचार्य चरित्र' (1929), जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी-कृत 'तुलसीदास' (1934) लक्ष्मीनारायण गर्ग-कृत' श्री कृष्णावतार', किशोरी दास वायपेयी-कृत 'सुदामा' (1934), हरिऔध-कृत 'प्रद्युम्न विजय व्यायोग' (1939), सेठ गोविन्ददास-कृत 'कर्त्तव्य' (1936) आदि। राष्ट्रीय चेतना की प्रधानता होने के कारण धार्मिक नाटकों में भी राष्ट्रीयता का चित्रण हुआ। नाटकों में अति-नाटकीय और अति-मानवता का बहिष्कार किया गया है। प्राचीन रूढ़ियों और मान्यताओं को पूर्ण रूप से हटाने की चेष्टा की गयी है। इस प्रकार की रचनाओं में नाटककारों ने प्रायः कथावस्तु प्राचीन साहित्य से लेकर उसी पुराने ढांचे में नई बुद्धवादी धाराओं तथा विचारधाराओं के अनुसार आधुनिक युग की समस्याओं को उनमें फिट कर दिया है।

प्रसाद युग में इतिहास का आधार लेकर अनेक महत्त्वपूर्ण रचनाएं प्रस्तुत की गईं। इस समय के नाटककारों की दृष्टि इतिहास की ओर विशेष रूप से गई क्योंकि यह युग पुनरुत्थान और नवजागरणवादी प्रवृत्तियों से अनुप्राणित था। फलतः जन साधारण में अपने गौरवपूर्ण इतिहास तथा अपनी महान सांस्कृतिक चेतना का संदेश देना इन नाटककारों ने अपना कर्त्तव्य समझा। इस काल की गौण ऐतिहासिक कृतियों में गणेशदत्त इन्द्र-कृत 'महाराणा संग्रामसिंह' (1911), भंवरलाल सोनी-कृत 'वीर कुमार छत्रसाल' (1923), चन्द्रराज भण्डारी-कृत 'सम्राट' अशोक (1923) ज्ञानचन्द्र शास्त्री-कृत 'जयश्री' (1924) प्रेमचन्द-कृत 'कर्बला' (1928), जिनेश्वर प्रसाद भायल-कृत 'भारत गौरव' अर्थात् 'सम्राट चन्द्रगुप्त' (1928) दशरथ ओझा-कृत 'चित्तौड़ की देवी' (1928) और प्रियदर्शी सम्राट अशोक (1935), जगन्नाथप्रसाद मिलिन्द-कृत 'प्रताप प्रतिज्ञा' (1929), चतुरसेन शास्त्री-कृत 'उपसर्ग' (1929) और 'अमर राठौर' (1933) उदयशंकर भट्ट-कृत 'विक्रमादित्य' (1929) और 'दाहर अथवा सिधपतन' (1943), द्वारिका प्रसाद मौर्य– कृत 'हैदर अली या मैसूर-पतन' (1934), धनीराम प्रेम-कृत 'वीरांगना पन्ना' (1933) जगदीश शास्त्री-कृत 'तक्षशिला' (1937) उमाशंकर शर्मा-कृत 'महाराणा प्रताप' आदि को विशेष ख्याति प्राप्त हुई है।

इन नाटककारों ने आदर्शवादी प्रवृत्ति के बावजूद स्वभाविकता का बराबर ध्यान रखा और कल्पना और मनोविज्ञान की सहायता से प्राचीन काल की घटनाओं और चरित्रों को स्वाभाविकता के साथ चित्रित करने की चेष्टा की। पुरानी मान्यताओं तथा अतिलौकिक वर्णनों के स्थान पर वास्तविक कथा-वस्तु को प्रयोग में लाया गया है। इन चरित्रों में संघर्ष का भी समावेश हुआ। सारांश यह है कि इन नाटकों के कथानक महत् हैं, चरित्र सभी दार्शनिक और आदर्शवादी हैं, शैली कवित्वपूर्ण और अतिरंजित है और नाटकों का वातावरण संगीत और काव्यपूर्ण है। ये नाट्य-कृतियां हिन्दी नाट्य-कला विकास का एक महत्त्वपूर्ण चरण पूरा करती हैं।

इस युग में पौराणिक और ऐतिहासिक नाटकों की परम्परा का महत्त्वपूर्ण स्थान तो रहा ही है, इसके अतिरिक्त सामाजिक नाटकों की रचना भी बहुतायत से हुई है। सामाजिक नाटकों में विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक' कृत 'अत्याचार का परिणाम' (1921) और 'हिन्द विधवा नाटक' (1935), 'प्रेमचन्द-कृत 'संग्राम' (1922) ईश्वरी प्रसाद शर्मा-कृत दुर्दशा (1922), सुदर्शन-कृत 'अंजना' (1923), 'आनरेरी मैजिस्ट्रेट' (1929), और 'भयानक' (1937), गोविन्दवल्लभ पन्त-कृत 'कंजूस की खोपड़ी' (1923) और 'अंगूर की बेटी' (1929), बैजनाथ चावला-कृत 'भारत का आधुनिक समाज' (1929), नर्मदेश्वरी प्रसाद 'राम'-कृत 'अछूतोद्धार' (1926), छविनाथ पांडेय-कृत 'समाज' (1929), केदारनाथ बजाज-कृत 'बिलखती 'विधवा' (1930), जमनादास मेहरा-कृत 'हिन्दू कन्या' (1932), महादेव प्रसाद शर्मा-कृत 'समय का फेर', बलदेव प्रसाद मिश्र-कृत 'विचित्र विवाह' (1932) और 'समाज सेवक' (1933) रघुनाथ चौधरी-कृत 'अछूत की लड़की या समाज की चिनगारी' (1934), महावीर बेनुवंश-कृत 'परदा' (1936), बेचन शर्मा 'उग्र'-कृत 'चुम्बन' (1937) और डिक्टेटर' (1937), रघुवीर स्वरूप भटनागर-कृत 'समाज की पुकार' (1937), अमर विशारद-कृत 'त्यागी युवक' (1937) चन्द्रिका प्रसाद सिंह-कृत 'कन्या विक्रय या लोभी पिता' (1937) आदि उल्लेखनीय हैं। इन नाटकों में सामाजिक विकृतियों–बाल विवाह, विधवा-विवाह का विरोध, नारी स्वतंत्रता आदि का चित्रण करते हुए उनके उन्मूलन का प्रयास दृष्टिगोचर होता है। इन नाटकों में समुन्नत समाज की स्थापना का प्रयास किया गया है, भले ही नाट्यकला की दृष्टि से ये नाटक उच्चकोटि के नहीं हैं।

आलोच्य युग में शृंगार-प्रधान नाटकों का प्रायः ह्रास हो गया था। थोड़ी-बहुत प्रतीकवादी परम्परा चल रही थी, किन्तु उसकी गति बहुत धीमी थी। प्रतीक का महत्त्व वस्तुतः सांकेतिक अर्थ में है। इस अवधि में प्रसाद की 'कामना' के पश्चात् सुमित्रानन्दन पन्त-कृत ज्योत्स्ना' (1934) इस शैली की उल्लेखनीय रचना है। इसमें पंत की रंगीन कल्पनामयी झांकी का मनोरम स्वरूप व्यक्त होता है। इसके अतिरिक्त एक नाट्य-धारा व्यंग्य-विनोद प्रधान नाटकों को लेकर थी। इसको प्रमुख रूप से समाज की त्रुटियों, रूढ़िगत विचारों अथवा किसी व्यक्ति विशेष की विलक्षण प्रवृत्तियों पर चोट करने के लिए प्रस्तुत किया जाता है। इस प्रकार से किसी भी समस्या पर किया हुआ प्रहार ऊपर से तो साधारण सा प्रतीत होता है। किन्तु तनिक भी ध्यान देने पर उसके पीछे छिपा हुआ अर्थ-गाम्भीर्य स्पष्ट हो जाता है। हास्य-व्यंग्य प्रधान नाटकों में जी.पी. श्रीवास्तव का 'दुमदार आदमी' (1919) गड़बड़ झाला (1919), नाक में दम उर्फ जवानी बनाम बुढ़ापा उर्फ मियां का जूता मियां के सर (1926) भूलचूक (1928), चोर के घर छिछोर (1933) चाल बेढव (1934), साहित्य का सपूत (1934), स्वामी चौखटानन्द (1936) आदि प्रसिद्ध हैं। जनता में इन नाटकों का खूब प्रचार हुआ परन्तु रस और कला की दृष्टि से ये निम्नकोटि की रचनाएं हैं। इस युग में कतिपय गीति-नाटकों की भी रचना हुई। इसमें प्रमुख हैं– मैथिलीशरण गुप्त का 'अनघ' (1928) हरिकृष्ण प्रेमी-कृत 'स्वर्ण विहान' (1937) भगवतीचरण वर्मा-कृत 'तारा', उदयशंकर भट्ट का मत्स्यगंधा (1937) और विश्वमित्र (1938) आदि उल्लेखनीय है। 'स्वर्ण विहान' में जीवन की बहिरंग व्यवस्था की ओर अधिक ध्यान दिया गया है और अन्य में आन्तरिक क्रिया-व्यापारों का चित्रण है। भाव प्रधान होने के कारण इन नाटकों में कार्य-व्यापार तथा घटना चक्र की कमी मिलती है। भावातिरेक ही भाव-नाट्यों की प्राणभूत विशेषता है।

इस प्रकार प्रसाद-युग हिन्दी नाटकों के क्षेत्र में नवीन क्रांति लेकर आया। इस युग के नाटकों में राष्ट्रीय जागरण एवं सांस्कृतिक चेतना का सजीव चित्रण हुआ है किन्तु रंगमंच से लोगों की दृष्टि हट गयी थी। जो नाटक इस युग में रचे गये उनमें इतिहास तत्त्व प्रमुख था और रंगमंच से कट जाने के कारण वे मात्र पाठ्य नाटक बनकर रह गए। कथ्य के स्तर पर वे देश की तत्कालीन समस्याओं की ओर अवश्य लिखे गये किन्तु उनमें आदर्श का स्वर ही प्रमुख रहा। फिर भी इतिहास के माध्यम से अपने युग की यथार्थ समस्याओं को अंकित करने में वे पीछे नहीं रहे।

1907 ई. से लेकर 1933 ई की जिस अवधि में जयशंकर प्रसाद के नाटक लिखे गये हैं वह भारतीय इतिहास का सबसे अधिक उधेड़बुन का समय है। उस युग को विवेकानन्द, रामकृष्ण परमहंस, सिस्टर निवेदिता, अरविन्द, दयानन्द सरस्वती, महात्मा गाँधी, रवीन्द्रनाथ टैगोर, तिलक, महात्मा फुले, मदनमोहन मालवीय आदि इस रूप में परिभाषित कर रहे थे कि हर क्रिया, निश्चय, आन्दोलन, सत्याग्रह, सिविल नाफरमनी, स्वदेशी आन्दोलन आदि एक तरफ और स्वाधीनता, स्वतन्त्रता, स्वराज्य, पराधीनता, आत्मगौरव, और स्वदेश प्रेम आदि अवधारणाएँ दूसरी तरफ साथ ही साथ आध्यत्मिक, राजनैतिक नैतिक और काल्पनिक अर्थ देती थीं न केवल अर्थ की दृष्टि से बल्कि स्वरूप की दृष्टि से भी। साही ने लिखा है कि 'छायावाद की हर रचना एक ही साथ नैतिक भी है और कल्पनात्मक भी और राजनैतिक भी।' (छठवाँ दशक-275) साहित्य में भारतेन्दु हरिशचन्द्र और अध्यात्म में विवेकानन्द का एक स्वर से आर्य साम्राज्य की एकता और आर्य संस्कृति को नष्ट होने से बचाने का, उसके विभिन्न गणों समाजों और जातीयताओं को एक सूत्र में पिरोने का विवेकावादी और आनन्दवादी दोनों प्रयत्न चल रहा था। प्रसाद के नाटकों में 'प्रायश्चित' से यह चेतना जिस मुखर रूप में हो आती है उसकी युगभूमि के लिए दो सन्दर्भ पर्याप्त होंगे।

''अब महाघोर काल उपस्थित है। चारों ओर आग लगी हुई है। दरिद्रता के मारे देश जला जाता है। अंगरेजों से जो नौकरी बच जाती है उन पर मुसलमान आदि विधर्मी भरती होते जाते हैं। आमदनी वाणिज्य की थी ही नहीं, केवल नौकरी की थी सो भी धीरे-धीरे खिसकी। तो अब कैसे काम चलेगा। कदाचित ब्राह्मण और गोसाई लोग कहें कि हमको तो मुफ्त का मिलता है, हमको क्या इस पर हम कहते हैं कि विशेष उन्हीं का रोना है। जो कराल काल चला आता है उसको आँख खोलकर देखो। कुछ दिन पीछे आप लोगों के मानने वाले बहुत थोड़े ही रहेंगें। अब-सब लोग एकत्र हों। हिन्दू नाम धारी वेद से लेकर तन्त्र वरंच भाषा ग्रन्थ मानने वाले तक सब एक होकर अब अपना परम धर्म यह रखो कि आर्य जाति में एका हो। इसी में धर्म की रक्षा है। भीतर तुम्हारे चाहे जो भाव और जैसी उपासना हो ऊपर से सब आर्य मात्र एक रहो। धर्म सम्बन्धी उपाधियों को छोड़कर प्रमुख धर्म की उन्नति करो।''

-(भारतेन्दु समग्र 976)। -भारतेन्दु

''भारतवर्ष में हमारे दो बड़े विघ्न हैं-एक है पुरानी धार्मिक कट्टरता और दूसरा है वर्तमान योरोपीय सभ्यता''-विवेकानन्द।

जयशंकर प्रसाद के लिखना शुरू करने के पहले ही गाँधी की हिन्द स्वराज्य की अवधारणा अवतार ले चुकी थी और सिस्टर निवेदिता तथा अरविन्द आदि स्वाधीनता तथा स्वराज्य पर मार्डनरिव्यू नारायण आदि पत्रिकाओं में लेख लिख रहे थे। छायावाद की मनोभूमि की बनावट के तत्त्वों का रेखांकन करते हुए विजय देव नारायण साही ने, इसीलिए दार्शनिक मुद्रा, विराट नाटकीयता तथा नैतिक और कल्पनात्मक स्वप्न लोकों का विशिष्ट अनुपात में सम्मिश्रण और भाषा समस्या जो संस्कृत शब्दावली के माध्यम से मनोभूमि को क्लैसिकल और एब्स्ट्रैक्ट बनाने का कार्य करती रही है का उल्लेख किया है।

इस मनोभूमि के निर्माण में श्रीधर पाठक, माधव शुक्ल, अयोध्या सिंह उपाध्याय हरिऔध, हितैषी, रामनरेश त्रिपाठी, माखन लाल चतुर्वेदी, गयाप्रसाद शुक्ल सनेही, रूप नारायण पाण्डेय और मैथिलीशरण गुप्त की कृतियों की भी मूमिका रही है। इस युग की रचनाओं में 'लोकसेवा', 'लोकधर्म', 'लोकमर्यादा', 'लोक हृदय की पहचान', 'लोकमंगल', 'लोकाग्नि', 'लोकनीति', 'लोककल्याण', 'लोकवाद' शब्द कैनन की तरह प्रयुक्त मिलते हैं। देश की मिट्टी पेड़-पौधे, पशु-पक्षी, कीड़े-मकोड़े वनस्पतियाँ, नदी-नाले, पर्वल-समुद्र, फल-फूल, स्त्री-पुरुष सबको खड़ी बोली पद्य के प्रारम्भिक संघर्षकालीन दौर में सर्जनात्मकता का विषय बनाकर लेखकों और रचनाकारों ने 'देश वत्सलता' और स्वदेशानुराग का आकर्षक व्यवस्थित ढाँचा खड़ा कर दिया था। छायावाद ने इस ढाँचे में मनुष्यता का रंग भर सबको मानव बना दिया-मानवीकृत कर दिया। भक्ति काल में जैसे सब कुछ राधाकृष्णमय हो गया था वैसे ही, प्रसाद के समय में सब कुछ मानवमय, और चिन्मय हो गया। कार्नेलिया का 'कल्याणी' में पेड़-पौधों को याद करना भारतवासियों को धिक्कारना और प्रेरित करना दोनों है।

प्रसाद जी के समय में 'भारतेन्दु द्वारा विकसित हिन्दी रंगमंच की स्वतन्त्र चेतना' क्रमशः क्षीण हो चुकी थी माधवशुक्ल जैसे लोग नाटय समितियों और राम लीला मंडलियों को जीवित किए हुए थे परन्तु वह भी प्रयाग और कलकत्ता में ही। उनके समय में जैसा कि प्रसादजी ने लिखा है कि तीस बरस पहले (संभवत) 1906 ई. में। जब काशी में पारसी रंगमंच की प्रबलता थी तब भी मैंने किसी दक्षिणी नाटक मंडली द्वारा संस्कृत मृच्छकटिक का अभिनय देखा था उसकी भारतीय विशेषता अभी मुझे भूली नहीं है'' (दे. रंगमंच)। रामलीला, रासलीला, यात्रा, भाँड़ की परिहास लीला, नौटंकी, कथकली आदि भाव मुद्राओं वाले नृत्यों आदि ने उत्तर भारत में अभिनयात्मक ह्रास के युग में चलते-फिरते

रंगमंचों और विमानों की रक्षा की यह भी उनका मानना है, जो पारसी थियेटर से भिन्न परम्परा की लोक स्वीकृति का भी प्रमाण है। प्रसाद जी ने यह भी लिखा है कि पारसी व्यवसायियों ने पहले-पहल नये रंगमंच की आयोजना की। भाषा मिश्रित थी। इन्द्र सभा, चित्र बकावली, चन्द्रवली हरिशचन्द्र आदि के अभिनय होते थे, अनुकरण होता था रंगमंच में शेक्सपीरियन स्टेज' का'' (दे. प्रसाद वाङ्मय भाग 4 रंगमंच)। पारसी थियेटर के द्वारा एक प्रकार की विकृत रुचि और भोंडेपन का प्रचार किया जा रहा था।

उसमें परिवर्तन करके भिन्न-भिन्न रुचि वाले लोगों के लिए सभी कलाओं के योग से अभिनीत नाटक ही एक विद्या या माध्यम से रूप में उन्हें स्वीकार था। उपदेश और मनोरंजन से भी वे उसे बचाना चाहते थे। वे यथार्थवाद के इब्सनीय रूप से परिचित थे और उसके आधार पर भाषा तथा सामाजिक चेतना के छिन्न-भिन्न होकर बिखरने के कारण वेदना की वृत्ति की प्रस्तुति को पश्चिम की नकल से विकसित यथार्थ के कारण आवश्यक नहीं मानते थे। उनको विश्वास था कि अतीत और वर्तमान के आधार पर ही भविष्य का निर्माण सम्भव है। उन्होंने लिखा कि कुछ लोग कहते हैं साहित्यकार को आदर्शवादी होना ही चाहिए और सिद्धांत से ही आदर्शवादी धार्मिक प्रवचनकर्ता बन जाता है। वह समाज को कैसा होना चाहिए, यही आदेश करता है। और यथार्थवादी सिद्धांत से ही इतिहासकार से अधिक कुछ नहीं ठहरता क्योंकि यथार्थवाद इतिहास की संपत्ति है। वह चित्रित करता है कि समाज कैसा है या था किंतु साहित्यकार न तो इतिहास कर्ता है और न धर्मशास्त्र प्रणेता। इन दोनों के कर्त्तव्य स्वतंत्र हैं। साहित्य इन दोनों की कमी को पूरा करने का काम करता है-''उनके अनुसार साहित्य समय की वास्तविक स्थिति क्या है, इसको दिखाते हुए भी उसमें आदर्शवाद का सामंजस्य स्थिर करता है। दु:ख दग्ध जगत और आनंदपूर्ण स्वर्ग का एकीकरण साहित्य है। इसीलिए असत्य अघटित घटना पर कल्पना को वाणी महत्त्वपूर्ण स्थान देती है, जो निजी सौन्दर्य के कारण सत्य पथ पर प्रतिष्ठित होती है उसमें विश्वमंगल की भावना ओतप्रोत रहती है। (प्रसाद वाङ्मय भाग 4)।

इन उद्धरणों में व्याप्त विश्वदृष्टि या दार्शनिक मुद्रा तथा नैतिक और कल्पनात्मक विजन का समन्वय उनकी समस्त रचनाओं में अन्त प्रवाहित रक्त की तरह है। पौरुष, आनन्द उल्लास और श्रेयमयी प्रेय दृष्टि उनके नाटकों में स्वतंत्रता की कामना के साथ ही अनुस्यूत है। उनके निबन्ध एक प्रकार से उनकी सर्जनात्मकता के व्याख्यान हैं। लगता है जैसे वे उनके नाटकों, काव्य ग्रंथों और

उपन्यास, कहानियों में व्याप्त आत्मा की संकल्पनात्मकता को आलोचना की भाषा में रूपान्तरित करते हैं। उनके अन्तिम अधूरे नाटक अग्निमित्र और अधूरे उपन्यास इरावती में उनके निबंध 'रहस्यवाद', 'यथार्थवाद' और 'छायावाद', काव्य और कला, और 'रंगमंच' की अनेक स्थापनाओं को अग्रगामिता प्रदान हुई है। जीवन का विकास इस दु:ख पूर्ण बुद्धिवाद के बन्दीगृह में अवरुद्ध है। उसे आनंद पथ पर ले चलने की क्षमता तुममें अन्तर्निहित है। दु:खवाद की निद्रा छोड़कर आनन्द की जागृति के लिए मानवता चंचल हो रही है। यह सब उसी के क्षुद्र उपसर्ग हैं, तुम मंगलपूर्ण सृष्टि स्थिति संहार तिरोभाव और अनुग्रह के पंच कृत्य करने में कुशल चिदानंदमयी आत्मसत्ता में विश्वास करो।'' (प्रसाद वाङ्मय भाग 4, पृ. 790)

अपने समय की दु:खदग्धता के नरक की पहचान करके उस जगत को श्रद्धा सर्ग की कल्पना में रूपान्तरित करने की संकल्पनात्मक अनुभूति की 'राज्यश्री' के 'लोकसेवा' व्रत या कामायनी के आनन्दसर्ग की समरस स्थिति में, एक स्मितरेखा आलोक, मयी मूर्ति की तरह व्याप्त है। अभिनय, सूत्रधार, नियतिनटी, रंगमंच आदि शब्द प्रसाद के जीवन दर्शन के बीज शब्द है, जो नाटक को 'लीला' का अर्थ देकर रचनाओं का आत्मसाक्षात्कार या आत्मोपलब्धि का पर्याय भी बना देते हैं। दूसरी ओर महाशक्ति के माध्यम से आनन्द की प्रतीति के लिए 'नाटक' लिखना और सृष्टि के विधान या क्रम को एक नाटक के रूप में देखना, एक से अपने समय की पराधीनता से मुक्ति का उपाय खोजना, स्वतंत्रता प्राप्त करना और दूसरे से स्वतंत्रता प्राप्त करना, एक से स्वराज्य और दूसरे से स्व-राज्य में विचरने का संकल्प कितना महत्त्वपूर्ण और कितना परस्पर विरुद्ध दिखता है। काल और कालातीत की एक साथ उपलब्धि ऋजुरेखीय काल के स्वीकार के साथ ही काल के अतिक्रमण की इच्छा और अन्तत: कामना, स्कंदगुप्त, चन्द्रगुप्त, एक घूँट, विशाख आदि में उस अतिक्रमण का प्रसादान्त संकेत प्रसाद से नाटकों को इतिहास और समकालीन अतीत और वर्तमान दोनों बना देते हैं। एक ही साथ इतिहास और नाटक का रचनात्मक निर्वाह भी अन्तत: एक प्रकार के विरुद्धों का सामंजस्य है।

अतीत प्रसाद के लिए प्रदत्त या पुरातत्त्व की दृष्टि से खोदकर निकाला गया मात्र ही नहीं है वह साम्राज्यवाद के दौर में हत दर्प जाति के लिए सांस्कृतिक स्तर पर उत्तेजना और प्रेरणा का भी विषय है। प्रसाद के नाटकों में 'भारत-भारती' का आभ्यंतरित रूप ही नहीं मिलता है, वर्तमान राष्ट्रीय शक्ति का एक हद तक

मानवीय समस्याओं के संघर्ष में परम्परा की खोज मिलती है। शक्ति के विद्युत्कणों की तलाश और समन्वय की समकालीन दृष्टि का अतीत में प्रेक्षपण ही स्कंदगुप्त, सिंहरण, अलका, देवसेवा, कार्नेलिया, मन्दाकिनी, चाणक्य, चन्द्रगुप्त, हर्ष, ध्रुवस्वामिनी आदि चरित्रों की सृष्टि करवाता है। सृष्टि इसलिए कि इतिहास के अन्तर्गत ये रहे होंगे।

लेकिन इस रूप में ये इन नाटकों की नैतिकता पर चढ़े हुए अग्निवाण ही हैं, जिसे प्रसाद ने निर्मित किया है–विशेष संकेत के रूप में। इतिहास सन्दर्भ और सामग्री दोनों हैं। वह उपादान है निमित्त नहीं, निमित्त तो मूलतः तत्कालीन स्वाधीनता की आकांक्षा और आत्म गौरव की प्राप्ति है। अजातशत्रु के कथा प्रसंग और 'कामायनी' के आमुख में प्रसाद ने अपनी इतिहास दृष्टि का संकेत किया है। वे इतिहास को इतिहास सृष्टि के लिए प्रयोग करना चाहते हैं और नाटकों में समन्वित इच्छा शक्ति का, आत्माओं की संकल्पनात्मक अनुभूति का, विश्वात्मा की इच्छा का अनेक स्तरों पर पाठक और श्रोता के सामने घटित को घटमान के रूप में प्रयुक्त करते हैं। इतिहास की यह द्वन्द्वात्मक चेतना हेगेल के डायलेक्टिक और शैवागमदर्शन के द्वन्द्व से मिलकर बनी है। इसके मूल में काल की चक्रीय या सनातन दृष्टि भी है, परन्तु वह सनातनता कर्म की साधना का निषेध नहीं करती है बल्कि संकल्पात्मक बनाती है। द्वन्द्वात्मकता के कोष में संकल्पाष्कता का यह वैचारिक बीजारोपण प्रसाद के लिए ही संभव था। अजातशत्रु के कथाप्रसंग का यह उद्धरण 'कामायानी' के 'आमुख' के साथ मिलाकर देखने पर ऐतिहासिक नाटकों की अर्थगर्भ संकेतात्मकता और इतिहास दृष्टि या कालचेतना के लिए काफी संकेतात्मक है।

''इतिहास में घटनाओं की प्रायः पुनरावृत्ति होते देखी जाती है इसका तात्पर्य यह नहीं कि इसमें कोई नयी घटना होती ही नहीं किन्तु असाधारण नयी घटना भी भविष्य में फिर होने की आशा रखती है। मानव समाज की कल्पना का भंडार अक्षय है, क्योंकि वह इच्छा शक्ति का विकास है। इन कल्पनाओं और इच्छाओं का मूल सूत्र बहुत ही सूक्ष्म और अपरिस्फुट होता है। जब वह इच्छा शक्ति किसी व्यक्ति या जाति में केन्द्रीभूत होकर अपना सफल या विकसित रूप धारण करती है तभी इतिहास की सृष्टि होती है। विश्व में जब तक कल्पना इयत्ता को नहीं प्राप्त होती तब तक वह रूप परिवर्तन करती हुई, पुनरावृत्ति करती ही जाती है। समाज की अभिलाषा अनंत स्रोतवाली है। पूर्व कल्पना के पूर्ण होते होते एक नयी कल्पना उसका विरोध करने लगती है और पूर्व कल्पना कुछ काल तक ठहर

कर फिर होने के लिये अपना क्षेत्र प्रस्तुत करती है उधर इतिहास का नवीन अध्याय खुलने लगता है। मानव समाज के इतिहास का इसी प्रकार संकलन होता है।'' अजातशत्रु कथा प्रसंग

''आज के मनुष्य के समीप तो उसकी वर्तमान संस्कृति का क्रमपूर्ण इतिहास ही होता है, परन्तु उसके इतिहास की सीमा जहाँ से प्रारम्भ होती है ठीक उसी के पहिले सामूहिक चेतना की दृढ़ और गहरे रंगों की रेखाओं से, बीती हुई और भी पहले की बातों का उल्लेख स्मृति पट पर अमिट रहता है, परन्तु कुछ अतिरंजित सा। वे घटनाएँ आज विचित्रता से पूर्ण जान पड़ती हैं संभवत: इसीलिए हमको अपनी प्राचीन श्रुतियों का निरुक्त के द्वारा अर्थ करना पड़ता है जिससे कि उन अर्थों का अपनी वर्तमान रुचि से सामंजस्य किया जाये'' आज हम सत्य का अर्थ घटना कर लेते हैं। तब भी उसके तिथि क्रम मात्र से सन्तुष्ट न होकर मनोवैज्ञानिक अन्वेषण के द्वारा इतिहास की घटना के भीतर कुछ देखना चाहते हैं। उसके मूल में क्या रहस्य है ? आत्मा की अनुभूति ! हाँ, उसी भाव के रूपग्रहण की चेष्टा सत्य या घटना बन कर प्रत्यक्ष होती है। फिर वे सत्य घटनाएँ स्थूल और क्षणिक होकर मिथ्या और अभाव में परिणति हो जाती हैं। किन्तु सूक्ष्म अनुभूति या भाव, चिरंतन सत्य के रूप में प्रतिष्ठित रहता है, जिसके द्वारा युग-युग के पुरुषों की और पुरुषार्थों की अभिव्यक्ति होती रहती है।'' कामायनी–आमुख।

प्रसाद के इतिहास की यह समकालीनता एक प्रकार का सनातनत्व भी लिये है। पुराणों से ली गई कथाओं के भाव के रूप ग्रहण की चेष्टा, जो शुद्ध वर्तमान में होती है सत्य के रूप ग्रहण करने के क्रम में रूपक का अर्थ ले लेती है। 'जनमेजय के नागयज्ञ' में जिसे मैं नाटकीयता की दृष्टि से काफी अर्थगर्भ और महत्त्वपूर्ण नाटक मानता हूँ, में यह रूपकत्व देवासुर संग्राम के अन्तर्निहित रूपकत्व जैसा ही अर्थवान है। यह रूपकत्व उनके सभी नाटकों के इतिहास की घटना के अर्थ को वर्तमान में अन्तरित करने या संकेतिक करने के कारण विद्यमान है वैसे रूपक तो यह है ही।

प्रसाद इतिहास और वर्तमान का प्रयोग 'प्रितच्छाया' (दे. जायसी-साही) अलंकार की तरह करते हैं। जैसे अपने सामने रखे हुए दो दर्पण हों लगभग। जायसी के पद्मावत की तरह, जिसका प्रसाद बहुत सम्मान के साथ गाला के प्रसंग में उल्लेख करते हैं और यह प्रसाद की इतिहास दृष्टि को विशेषकर ऐतिहासिक नाटकों के लोक और अलोक, इतिहास और स्वप्नलोक के समान ही

रचते हैं। अलाउद्दीन के द्वारा राख के हाथ में उठाने का उल्लेख वे 'संकेत' के रूप में करते हैं।

जयशंकर प्रसाद की इस गहरी चिन्तनशीला ने हिन्दी नाटकों को पहली बार बौद्धिक, अर्थवत्ता प्रदान की। उनके नाटकों की भूमिकाएँ जहाँ एक ओर उनकी अनुसंधान परक तथ्यान्वेषी दृष्टि का संकेत करती हैं वहीं इतिहास को एक अंगरखा भी संधान परक तथ्यान्वेषों दृष्टि का संकेत करती हैं वहीं इतिहास को एक अंगरखा भी पहनाती है। यद्यपि जयशंकर प्रसाद जी ने स्कंदगुप्त की भूमिका में लिखा है कि ''पात्रों की ऐतिहासिकता के विरुद्ध चरित्र की सृष्टि, जहाँ तक सम्भव हो सका। नहीं होने दी गई है। फिर भी कल्पना का अवलम्ब लेना ही पड़ा है केवल घटना की परम्परा ठीक करने के लिए।'' उन्होंने भूमिकाओं में अनेक स्त्रोतों के द्वारा अपने समकालीन सामाजिक राजनैतिक यथार्थ का समरूपी खोजने का संभव प्रयत्न किया। पराधीनता और पराधीनता से मुक्ति के ही समरूपी न केवल अतीत में खोजे गए बल्कि सांस्कृतिक पराधीनता के अनेक कारणों के भी समरूपी और समस्थानिकों की पहचान करके उन्हें वर्तमान के लिये, आँखें खोलने वाले, 'शक्ति संचारक के रूप में प्रस्तुत किया गया। चन्द्रगुप्त की भूमिका, जो चन्द्रगुप्त नाटक की तरह, जैसा की प्रो.रामस्वरूप चतुर्वेदी ने उल्लेख किया है कई बार लिखी गयी है, इस संदर्भ में अधिक महत्त्वपूर्ण है। प्रायश्चित, विशाख, जनमेजय का नागयज्ञ, आदि नाटकों के परिचय और प्राक्कथनों का इस दृष्टि से भी विशेष महत्त्व है। धार्मिक मतवाद, जाति उपजातियों के झगड़े, सांप्रदायिक समस्यायें, धर्मोन्माद, देश के छोटे-छोटे टुकड़ों में विभाजन की प्रवृत्तियों के बहुपक्षीय समाधान नाटकों में खोजने का प्रयत्न उनकी विशेषता है।

अपने समय को परिभाषित करने के क्रम में अपने अतीत के प्राणतत्त्व को आत्मसात करते चलना उनका स्वभाव था। विचार, भाषा, शिल्प, यथार्थवाद को आत्मसात करते चलना उनका मानवीय चेतना, दार्शनिकता, रंगमंचीयता आदि की दृष्टि से वे सतत जागरूक रचनाकार हैं। उर्वशी चम्पू से लेकर ध्रुवस्वामिनी तक की यात्रा नाटक की दृष्टि से अनवरत विकास और सतत जागरुकता की यात्रा है। 1909 ई. में प्रकाशित उर्वशी चम्पू को उन्होंने 'बाल्य रचना' मानते हुए पद्य के ब्रज भाषा में होने पर प्रकारान्तर से एक हिचक और कमी का अनुभव किया है। रचना में भी प्रेमतत्त्व का सम्प्रेषण है। कुछ कल्पित प्रसंगों के अलावा चम्पू में वैचारिकता और समकालीनता का अभाव है नाटकीयता के तत्त्व भी कम हैं।

सज्जन पाँच दृश्यों का नाट्य प्रयत्न है जिसमें संस्कृत और पारसी थियेटर की नाट्य रूढ़ियों का प्रयोग किया गया है।

प्रारम्भ नान्दा पाठ नट का प्रयोग, भरत वाक्य और पारसी थियेटर की तरह से गानेवालियों का प्रथम दृश्य में उपयोग तथा गीतों का संगीतात्मक प्रयोग मिलता है। पंचम दृश्य में द्रोपदी युधिष्ठिर के काव्यात्मक संवाद केशव की याद दिलाते हैं, नाटक के प्रारम्भ और अन्त दोनों में सत्कविता और सज्जनता के सम्बन्धों को रेखांकित किया गया है। युधिष्ठिर की धर्मनिष्ठा और सज्जनता को एक मूल्य के रूप में प्रस्तुत करना लेखक का लक्ष्य रहा है। 'कल्याणी परिणय' 1912 ई. में नागरी प्रचारिणी पत्रिका में प्रकाशित हुआ था बाद में 1931 में कुछ संशोधनों के साथ चन्द्रगुप्त में समायोजित कर लिया गया। इस नाटक में पहली बार पहले दृश्य में ही चाणक्य अन्धकार हट रहा जगत जागृत हुआ' के द्वारा प्रकृति और जागरण दोनों का संकेत किया गया है। गीत साभिप्राय प्रयुक्त है। चाणक्य का स्मरण भी भारत के गौरवमय अतीत का स्मरण है जिसमें क्या से क्या हो गया कि ध्वनि है।

इतना था सौहार्द सभी हम एक थे।
एक अकेले हमीं रहे, न अनेक थे॥
करुणा का था राज्य, प्रेम ही धर्म था
युद्धानन्द विनोद एक ही कर्म था
न था किसी में मोह, कभी न विवाद था
मिलता अविरत स्वच्छ सुधा का स्वाद था
भीत शीत की भी न मार्ग की मन्त्रणा
यह कुचक्र मय चाल न थी, न कुमन्त्रणा

प्रसाद ने इसी नाटक में कार्नेलिया–एक विदेशी महिला–के मुख से 'भारत भूमि की प्रशंसा करवाई है। 'चन्द्रगुप्त' में यह अधिक सर्जनात्मक और आत्मीयता युक्त है। इसमें प्रयुक्त यह वाक्य कि भारत की पवित्र भूमि केवल हत्या, लूट, रक्त और युद्ध से वीभत्स बनायी जा रही है। वाह कैसा सुन्दर देश है। मुझे इस भूमि से जन्म भूमि सा प्रेम होता जा रहा है'' स्वदेशानुराग की वृद्धि की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है नाटक में चरित्रांकन व्यक्तित्त्व के अनुकूल नहीं है। प्रायश्चित जो 1914 में इन्दु में प्रकाशित हुआ था एक दृष्टि से जयशंकर प्रसाद के प्रारम्भिक रुझानों से भी प्रायश्चित है। यह नाटक प्रसाद जी का जिसमें राष्ट्र प्रेम को मूल्य मानकर देशद्रोह का प्रायश्चित आत्मवध माना गया है। इसमें भावना का एकांगीपन

अधिक है, नाटक में उस प्रकार की बौद्धिकता नहीं है। जैसे स्कन्धगुप्त, चन्द्रगुप्त आदि में मिलता है। चरित्रों में अन्तर्द्वन्द्व और आत्मसंघर्ष की शुरूआत अवश्य है। पात्र भी अधिक नहीं है यद्यपि कि क्रिया व्यापार और वस्तु विन्यास विखरा हुआ है। कुल छह दृश्यों का नाटक है।

प्रायश्चित में प्रारम्भ में दो विद्या धारियाँ आती हैं, जो लगभग पारसी थियेटर की शैली में नाटक के कार्य व्यापार की सूचना देने के साथ ही साथ हिन्दू साम्राज्य के सूर्य के अस्त होने और आर्य साम्राज्य के नाश के कारणों का उल्लखे करती हुई यह भी कहती हैं कि क्या यह किसी नीच भारतवासी का कार्य है।' नाटक के प्रारंभ के इस संवाद का निम्नलिखित अंश महत्त्वपूर्ण है, जो एक प्रकार से नाटक का संदेश भरा है। प्रतिहिंसा का प्रसाद बाद के नाटकों में अच्छा नहीं मानते हैं, परन्तु अहिंसा को वे गुलामी का कारण अवश्य मानते हैं। उनके उपन्यासों और प्रारम्भिक काव्यों से भी ऐसे तरुण संघों के समर्थन का भाव मिलता है, जो देश को राजनैतिक और सांस्कृतिक दृष्टि से सम्पन्न करना चाहते हैं स्कन्दगुप्त, चाणक्य और चन्द्रगुप्त में ही नहीं कंकाल तितली और इरावती में भी इसके प्रयत्न है।

पं. सखी ! हिंसा कैसी बुरी वस्तु है। देख इसने कैसा भयंकर कार्य किया।''

दू.सीधी। इस रही सही 'प्रतिहिंसा' को भी भारतवासियों के लिये ईश्वर की दया समझ। जिस दिन इसका लोप होगा उस दिन से तो इनके भाग्य में दासत्य करना लिखा है।''

प्रसाद–युगीन समीक्षा

भारतेन्दुकाल में खेले जाने वाले नाटकों का कथ्य प्रायः पौराणिक सामाजिक विषयों से सम्बद्ध था परन्तु कई स्थानों पर राजनीतिक समस्याओं की ओर भी संकेत कर दिया जाता था जैसे "सीता स्वयंवर" नाटक में ब्रिटिश कूटनीति के समान कठोर शिवधनुष को टस से मस नहीं किया जा सकता" कहा गया। इस प्रकार संवादों के माध्यम से ही जन–जागृति उत्पन्न करने का उपक्रम किया जाता था। ऐसे आयोजन कहीं–कहीं प्रतिबन्धित भी कर दिये जाते थे। इस प्रकार इस युग में राजनैतिक संकेत प्रतीकात्मक रूप में प्रेषित किए जाने लगे।

सार्वजनिक स्थल पर मंच–निर्माण, घरों में नाट्य प्रदर्शन, नाट्य पुनरावृत्ति, पूर्वाभ्यास, भडकीली पोशाकें, ट्रान्सफर सीन, दर्शक श्रेणियाँ, कुलीन वर्ग आदि

का कला प्रेम, आमंत्रण पत्रों का चलन, चमत्कार प्रयोग आदि के संकेत मिलते हैं। द्विवेदीयुगीन अभिनय कला आदि अतिनाटकीयता से प्रेरित कही गई है, परन्तु इन सबसे बड़ी बात तो यह है कि इस युग में रंगमंचीय समीक्षाओं का भी प्रचलन हो चुका था।

समीक्षाओं का रूप कैसा था, यह बतलाना कठिन है। 1920-1930 तक साहित्यिक नाटकों के साथ-साथ पारसी रंगमंचीय नाटकों की धारा चलती रही थी। सभी नाटकों में अतिनाटकीयता प्रसंगों, दैवीशक्ति, कौतुहल चमत्कार, शोखी और छेड़छाड़ प्रेम सम्बन्धी सस्ते गाने, रोमांचकारी घटनाओं, कुरुचिपूर्ण हास्य आदि की प्रधानता थी। इन व्यावसायिक रंगमंचीय नाटकों ने जनरुचि को इतना विकृत कर दिया कि आधुनिक काल में भी नाटककारों को साहित्यिक नाटकों के अनुसार, गीत, गजल का प्रयोग अनिवार्य करना पड़ा। इसलिए जयशंकर प्रसाद पर भी रचनागत शिथिलता, अराजकता, बहुउद्देशीयता, घटना प्रधानता का दोषारोपण किया गया है, परन्तु ऐसा लगता है कि उस युग में कुछ लेखकों ने कटु आलोचना करना ही अपना ध्येय बना लिया था। चाहे वे सही हो या गलत लेकिन आलोचक को अध्येता होने के साथ-साथ प्रस्तुति के काल, पात्र और वस्तुस्थिति से भी पूर्ण परिचित होना चाहिए अन्यथा किसी के दोषी ठहराने के पूर्वाग्रह के आक्षेप से वह स्वयं को बचा नहीं सकेगा क्योंकि समीक्षा के दौरान कभी-कभी भारी भूलें रह जाती हैं। इसी परिप्रेक्ष्य में यदि हम प्रसाद जी की इस उक्ति की ओर ध्यान दें-"मैंने उन कम्पनियों के लिए नाटक नहीं लिखे हैं, जो चार चलते अभिनेताओं को एकत्र कर कुछ पैसा जुटाकर चार पर्दे मँगनी माँग लेती हैं और दुअन्नी-अठन्नी के टिकिट पर इक्केवालों, खोमचेवालों और दुकानदारों को बटोर कर जगह-जगह प्रहसन करती फिरती हैं। उत्तर रामचरित, शकुन्तला और मुद्राराक्षस कभी न ऐसे अभिनेताओं द्वारा अभिनीत हो सकते हैं और न जन साधारण में वे रसोद्रेक का कारण बन सकते हैं 3.।" तो प्रसाद जी पर किया गया दोषारोपण विद्वजनों के प्रति ईर्ष्या का द्योतक लगने लगता है।

प्रसाद काल में कुछ नए रूप सामने आए वे हैं-नेपथ्य में गान, कोलाहल और रणवाद्य आदि। बहुत कम अवसर ऐसे होते हैं, जब लेखक स्वयं पूर्वाभ्यास के समय कलाकारों के मध्य बैठकर अपनी लिखित भावधारा के मूर्त रूप का रसास्वादन करता है और उसमें कहीं अर्थ का अनर्थ हो रहा हो तो सुधार भी करवा देता है। काशी में प्रसाद जी पूर्वाभ्यास के समय कलाकारों के मध्य बैठा करते थे। भारत सरकार के गीत एवं नाटक प्रभाग के कलाकारों द्वारा मंचित

उदयपुर में 12, 13, 14 जुलाई 1988 को मंचित मेरे एक नाटक "मेरा देश मेरे सपने" के पूर्वाभ्यास के दौरान मुझे भी उन कलाकारों के मध्य बैठने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था।

समीक्षाएँ नाटक क्षेत्र में एक महत्त्वपूर्ण कार्य करती हैं-वे नाट्य जगत् की अथवा साहित्य के विविध विधाओं की प्रस्तुति का बोध कराती हैं जिससे कला का और विकास होता है और युग का बोध। प्रसाद युग में समीक्षात्मक माध्यम का पूर्ण अभाव प्रतीत होता है यही कारण है कि रंगमंच की दृष्टि से इस युग को मात्र एक कडी समझा गया है, यद्यपि समीक्षाओं का अपेक्षाकृत रूप तात्कालिक 'जागरण', 'इन्दु', 'सरस्वती', 'माधुरी', 'प्रभा', 'आज' आदि पत्र-पत्रिकाओं में द्रष्टव्य बतलाया गया है पर यह सब अप्राप्य होने के कारण ही इस युग के समीक्षात्मक रूप को उभारने में असमर्थता प्रतीत होती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि समीक्षा का आदिकाल कुछ बिखरे-बिखरे सूत्रों में दिखाई देता है।

जयशंकर प्रसाद की साहित्य दृष्टि

जयशंकर प्रसाद हिन्दी कवि, नाट्ककार, कथाकार, उपन्यासकार तथा निबन्धकार थे। वे हिन्दी के छायावादी युग के चार प्रमुख स्तंभों में से एक हैं। उन्होंने हिंदी काव्य में छायावाद की स्थापना की जिसके द्वारा खड़ी बोली के काव्य में कमनीय माधुर्य की रससिद्ध धारा प्रवाहित हुई और वह काव्य की सिद्ध भाषा बन गई।

आधुनिक हिंदी साहित्य के इतिहास में इनके कृतित्त्व का गौरव अक्षुण्ण है। वे एक युगप्रवर्तक लेखक थे जिन्होंने एक ही साथ कविता, नाटक, कहानी और उपन्यास के क्षेत्र में हिंदी को गौरव करने लायक कृतियाँ दीं। कवि के रूप में वे निराला, पन्त, महादेवी के साथ छायावाद के चौथे स्तंभ के रूप में प्रतिष्ठित हुए है, नाटक लेखन में भारतेंदु के बाद वे एक अलग धारा बहाने वाले युगप्रवर्तक नाटककार रहे जिनके नाटक आज भी पाठक चाव से पढ़ते हैं। इसके अलावा कहानी और उपन्यास के क्षेत्र में भी उन्होंने कई यादगार कृतियाँ दीं। विविध रचनाओं के माध्यम से मानवीय करुणा और भारतीय मनीषा के अनेकानेक गौरवपूर्ण पक्षों का उद्घाटन। 48 वर्षो के छोटे से जीवन में कविता, कहानी, नाटक, उपन्यास और आलोचनात्मक निबंध आदि विभिन्न विधाओं में रचनाएं कीं।

उन्हें 'कामायनी' पर मंगलाप्रसाद पारितोषिक प्राप्त हुआ था। उन्होंने जीवन में कभी साहित्य को अर्जन का माध्यम नहीं बनाया, अपितु वे साधना समझकर ही साहित्य की रचना करते रहे। कुल मिलाकर ऐसी विविध प्रतिभा का साहित्यकार हिंदी में कम ही मिलेगा जिसने साहित्य के सभी अंगों को अपनी कृतियों से समृद्ध किया हो।

प्रसाद जी का जन्म माघ शुक्ल 10, संवत 1946 वि. (तदनुसार 30 जनवरी 1890ई. दिन-गुरुवार) को काशी के सरायगोवर्धन में हुआ। इनके पितामह बाबू शिवरतन साहू दान देने में प्रसिद्ध थे और इनके पिता बाबू देवीप्रसाद जी कलाकारों का आदर करने के लिये विख्यात थे। इनका काशी में बड़ा सम्मान था और काशी की जनता काशी नरेश के बाद 'हर हर महादेव' से बाबू देवीप्रसाद का ही स्वागत करती थी। किशोरावस्था के पूर्व ही माता और बड़े भाई का देहावसान हो जाने के कारण 17 वर्ष की उम्र में ही प्रसाद जी पर आपदाओं का पहाड़ टूट पड़ा। कच्ची गृहस्थी, घर में सहारे के रूप में केवल विधवा भाभी, कुटुंबियों, परिवार से संबद्ध अन्य लोगों का संपत्ति हड़पने का षड्यंत्र, इन सबका सामना उन्होंने धीरता और गंभीरता के साथ किया। प्रसाद जी की प्रारंभिक शिक्षा काशी में क्वींस कालेज में हुई, किंतु बाद में घर पर इनकी शिक्षा का व्यापक प्रबंध किया गया, जहाँ संस्कृत, हिंदी, उर्दू, तथा फारसी का अध्ययन इन्होंने किया। दीनबंधु ब्रह्मचारी जैसे विद्वान् इनके संस्कृत के अध्यापक थे। इनके गुरुओं में 'रसमय सिद्ध' की भी चर्चा की जाती है।

घर के वातावरण के कारण साहित्य और कला के प्रति उनमें प्रारंभ से ही रुचि थी और कहा जाता है कि नौ वर्ष की उम्र में ही उन्होंने 'कलाधर' के नाम से व्रजभाषा में एक सवैया लिखकर 'रसमय सिद्ध' को दिखाया था। उन्होंने वेद, इतिहास, पुराण तथा साहित्य शास्त्र का अत्यंत गंभीर अध्ययन किया था। वे बाग-बगीचे तथा भोजन बनाने के शौकीन थे और शतरंज के खिलाड़ी भी थे। वे नियमित व्यायाम करनेवाले, सात्विक खान पान एवं गंभीर प्रकृति के व्यक्ति थे। वे नागरीप्रचारिणी सभा के उपाध्यक्ष भी थे। क्षय रोग से नवम्बर 15, 1937 (दिन-सोमवार) को प्रातःकाल (उम्र 48) उनका देहांत काशी में हुआ।

प्रसाद जी के जीवनकाल में ऐसे साहित्यकार काशी में वर्तमान थे जिन्होंने अपनी कृतियों द्वारा हिंदी साहित्य की श्रीवृद्धि की। उनके बीच रहकर प्रसाद ने भी अनन्य गौरवशाली साहित्य की सृष्टि की। कविता, कहानी, उपन्यास, नाटक ओर निबंध, साहित्य की प्रायः सभी विधाओं में उन्होंने ऐतिहासिक महत्त्व की

रचनाएँ कीं तथा खड़ी बोली की श्रीसंपदा को महान् और मौलिक दान से समृद्ध किया। कालक्रम से प्रकाशित उनकी कृतियाँ ये हैं :

उर्वशी (चंपू), सम्राट चंद्रगुप्त मौर्य (निबंध), शोकोच्छवास (कविता), प्रेमराज्य (क), सज्जन (एकांक), कल्याणी परिणय (एकाकीं), छाया (कहानीसंग्रह), कानन कुसुम (काव्य), करुणालय (गीतिकाव्य), प्रेमपथिक (काव्य), प्रायश्चित (एकांकी), महाराणा का महत्त्व (काव्य), राजश्री (नाटक) चित्रधार (इसमें उनकी 20 वर्ष तक की ही रचनाएँ हैं)। झरना (काव्य), विशाख (नाटक), अजातशत्रु (नाटक), कामना (नाटक), आँसू (काव्य), जनमेजय का नागयज्ञ (नाटक), प्रतिध्वनि (कहानी संग्रह), स्कंदगुप्त (नाटक), एक घूँट (एकांकी), अकाशदीप (कहानी संग्रह), ध्रुवस्वामिनी (नाटक), तितली (उपन्यास), लहर (काव्य संग्रह), इंद्रजाल (कहानीसंग्रह), कामायनी (महाकाव्य), इरावती (अधूरा उपन्यास)। प्रसाद संगीत (नाटकों में आए हुए गीत)।

प्रसाद ने काव्यरचना ब्रजभाषा में आरंभ की और धीर-धीरे खड़ी बोली को अपनाते हुए इस भाँति अग्रसर हुए कि खड़ी बोली के मूर्धन्य कवियों में उनकी गणना की जाने लगी और वे युगवर्तक कवि के रूप में प्रतिष्ठित हुए।

उनकी काव्य रचनाएँ दो वर्गो में विभक्त है– काव्यपथ अनुसंधान की रचनाएँ और रससिद्ध रचनाएँ। आँसू, लहर तथा कामायनी दूसरे वर्ग की रचनाएँ हैं। इस समस्त रचनाओं की विशेषताओं का आकलन करने पर हिंदी काव्य को प्रसाद जी की निम्नांकित देन मानी जा सकती है।

उन्होंने हिंदी काव्य में छायावाद की स्थापना की जिसके द्वारा खड़ी बोली के काव्य में कमनीय माधुर्य की रससिद्ध धारा प्रवाहित हुई और वह काव्य की सिद्ध भाषा बन गई। उनकी सर्वप्रथम छायावादी रचना 'खोलो द्वार' 1914 ई. में इंदु में प्रकाशित हुई। वे छायावाद के प्रतिष्ठापक ही नहीं अपितु छायावादी पद्धति पर सरस संगीतमय गीतों के लिखनेवाले श्रेष्ठ कवि भी हैं। उन्होंने हिंदी में 'करुणालय' द्वारा गीत नाट्य का भी आरंभ किया। उन्होंने भिन्न तुकांत काव्य लिखने के लिये मौलिक छंदचयन किया और अनेक छंद का संभवत: उन्होंने सबसे पहले प्रयोग किया। उन्होंने नाटकीय ढंग पर काव्य-कथा-शैली का मनोवैज्ञानिक पथ पर विकास किया। साथ ही कहानी कला की नई टेकनीक का संयोग काव्यकथा से कराया। प्रगीतों की ओर विशेष रूप से उन्होंने गद्य साहित्य को संपुष्ट किया और नीरस इत्तिवृत्तात्मक काव्यपद्धति को भावपद्धति के सिंहासन पर स्थापित किया।

काव्यक्षेत्र में प्रसाद की कीर्ति का मूलाधार 'कामायनी' है। खड़ी बोली का यह अद्वितीय महाकव्य मनु और श्रद्धा को आधार बनाकर रचित मानवता को विजयिनी बनाने का संदेश देता है। यह रूपक कथाकाव्य भी है जिसमें मन, श्रद्धा और इड़ा (बुद्धि) के योग से अखंड आनंद की उपलब्धि का रूपक प्रत्यभिज्ञा दर्शन के आधार पर संयोजित किया गया है। उनकी यह कृति छायावाद और खड़ी बोली की काव्यगरिमा का ज्वलंत उदाहरण है। सुमित्रानंदन पंत इसे 'हिंदी में ताजमहल के समान' मानते हैं। शिल्पविधि, भाषा सौष्ठव एवं भावाभिव्यक्ति की दृष्टि से इसकी तुलना खड़ी बोली के किसी भी काव्य से नहीं की जा सकती है।

कथा के क्षेत्र में प्रसाद जी आधुनिक ढंग की कहानियों के आरंभयिता माने जाते हैं। सन् 1912 ई. में 'इंदु' में उनकी पहली कहानी 'ग्राम' प्रकाशित हुई। प्राय: तभी से गतिपूर्वक आधुनिक कहानियों की रचना हिंदी में आरंभ हुई। प्रसाद जी ने कुल 72 कहानियाँ लिखी हैं। उनकी अधिकतर कहानियों में भावना की प्रधानता है किंतु उन्होंने यथार्थ की दृष्टि से भी कुछ श्रेष्ठ कहानियाँ लिखी हैं। उनकी वातावरणप्रधान कहानियाँ अत्यंत सफल हुई हैं। उन्होंने ऐतिहासिक, प्रागैतिहासिक एवं पौराणिक कथानकों पर मौलिक एवं कलात्मक कहानियाँ लिखी हैं। भावना-प्रधान प्रेमकथाएँ, समस्यामूलक कहानियाँ लिखी हैं। भावना प्रधान प्रेमकथाएँ, समस्यामूलक कहानियाँ, रहस्यवादी, प्रतीकात्मक और आदर्शोन्मुख यथार्थवादी उत्तम कहानियाँ, भी उन्होंने लिखी हैं। ये कहानियाँ भावनाओं की मिठास तथा कवित्व से पूर्ण हैं।

प्रसाद जी भारत के उन्नत अतीत का जीवित वातावरण प्रस्तुत करने में सिद्धहस्त थे। उनकी कितनी ही कहानियाँ ऐसी हैं जिनमें आदि से अंत तक भारतीय संस्कृति एवं आदर्शो की रक्षा का सफल प्रयास किया गया है। उनकी कुछ श्रेष्ठ कहानियों के नाम हैं– आकाशदीप, गुंडा, पुरस्कार, सालवती, स्वर्ग के खंडहर में आँधी, इंद्रजाल, छोटा जादूगर, बिसाती, मधुआ, विरामचिह्न, समुद्रसंतरण, अपनी कहानियों में जिन अमर चरित्रों की उन्होंने सृष्टि की है, उनमें से कुछ हैं चंपा, मधुलिका, लैला, इरावती, सालवती और मधुआ का शराबी, गुंडा का नन्हकूसिंह और घीसू जो अपने अमिट प्रभाव छोड़ जाते हैं।

प्रसाद ने तीन उपन्यास लिखे हैं। 'कंकाल', में नागरिक सभ्यता का अंतर यथार्थ उद्घाटित किया गया है। 'तितली' में ग्रामीण जीवन के सुधार के संकेत हैं। प्रथम यथार्थवादी उन्यास हैं, दूसरे में आदर्शोन्मुख यथार्थ है। इन उपन्यासों के

द्वारा प्रसाद जी हिंदी में यथार्थवादी उपन्यास लेखन के क्षेत्र में अपनी गरिमा स्थापित करते हैं। इरावती ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर लिखा गया इनका अधूरा उपन्यास है, जो रोमांस के कारण ऐतिहासिक रोमांस के उपन्यासों में विशेष आदर का पात्र है। इन्होंने अपने उपन्यासों में ग्राम, नगर, प्रकृति और जीवन का मार्मिक चित्रण किया है, जो भावुकता और कवित्व से पूर्ण होते हुए भी प्रौढ़ लोगों की शैल्पिक जिज्ञासा का समाधान करता है।

प्रसाद ने आठ ऐतिहासिक, तीन पौराणिक और दो भावात्मक, कुल 13 नाटकों की सर्जना की। 'कामना' और 'एक घूँट' को छोड़कर ये नाटक मूलतः इतिहास पर आधारित हैं। इनमें महाभारत से लेकर हर्ष के समय तक के इतिहास से सामग्री ली गई है। वे हिंदी के सर्वश्रेष्ठ नाटककार हैं। उनके नाटकों में सांस्कृतिक और राष्ट्रीय चेतना इतिहास की भित्ति पर संस्थित है।

जयशंकर प्रसाद ने अपने दौर के पारसी रंगमंच की परंपरा को अस्वीकारते हुए भारत के गौरवमय अतीत के अनमोल चरित्रों को सामने लाते हुए अविस्मरनीय नाटकों की रचना की। उनके नाटक स्कंदगुप्त, चंद्रगुप्त आदि में स्वर्णिम अतीत को सामने रखकर मानों एक सोये हुए देश को जागने की प्रेरणा दी जा रही थी। उनके नाटकों में देशप्रेम का स्वर अत्यंत दर्शनीय है और इन नाटकों में कई अत्यंत सुंदर और प्रसिद्ध गीत मिलते हैं। 'हिमाद्रि तुंगश्रृंग से', 'अरुण यह मधुमय देश हमारा' जैसे उनके नाटकों के गीत सुप्रसिद्ध रहे हैं।

इनके नाटकों पर अभिनेय न होने का आरोप है। आक्षेप लगता रहा है कि वे रंगमंच के हिसाब से नहीं लिखे गए हैं जिसका कारण यह बताया जाता है कि इनमें काव्यतत्त्व की प्रधानता, स्वगत कथनों का विस्तार, गायन का बीच बीच में प्रयोग तथा दृश्यों का त्रुटिपूर्ण संयोजन है। किंतु उनके अनेक नाटक सफलतापूर्वक अभिनीत हो चुके हैं। उनके नाटकों में प्राचीन वस्तुविन्यास और रसवादी भारतीय परंपरा तो है ही, साथ ही पारसी नाटक कंपनियों, बँगला तथा भारतेंदुयुगीन नाटकों एवे शेक्सपियर की नाटकीय शिल्पविधि के योग से उन्होंने नवीन मार्ग ग्रहण किया है। उनके नाटकों के आरंभ और अंत में उनका अपना मौलिक शिल्प है, जो अत्यंत कलात्मक है। उनके नायक और प्रतिनायक दोनों चारित्रिक दृष्टि के गठन से अपनी विशेषता से मंडित हैं। इनकी नायिकाएँ भी नारीसुलभ गुणों से, प्रेम, त्याग, उत्सर्ग, भावुक उदारता से पूर्ण हैं। उन्होंने अपने नाटकों में जहाँ राजा, आचार्य, सैनिक, वीर और कूटनीतिज्ञ का चित्रण किया है वहीं ओजस्वी, महिमाशाली स्त्रियों और विलासिनी, वासनामयी तथा उग्र

नायिकाओं का भी चित्रण किया है। चरित्रचित्रण उनके अत्यंत सफल हैं। चरित्रचित्रण की दृष्टि से उन्होंने नाटकों में राजश्री एवं चाणक्य को अमर कर दिया है। नाटकों में इतिहास के आधार पर वर्तमान समस्याओं के समाधान का मार्ग प्रस्तुत करते हुए वे मिलते हैं। किंतु गंभीर चिंतन के साथ स्वच्छंद काव्यात्मक दृष्टि उनके समाधान के मूल में है। कथोपकथन स्वाभाविक है किंतु उनकी भाषा संस्कृतगर्भित है। नाटकों में दार्शनिक गंभीतरता का बाहुल्य है पर वह गद्यात्मक न होकर सरस है। उन्होंने कुछ नाटकों में स्वगत का भी प्रयोग किया है किंतु ऐसे नाटक केवल चार हैं। भारतीय नाट्य परंपरा में विश्वास करने के कारण उन्होंने नाट्यरूपक 'कामना' के रूप में प्रस्तुत किया। ये नाटक प्रभाव की एकता लाने में पूर्ण सफल हैं। अपनी कुछ त्रुटियों के बावजूद प्रसाद जी नाटककार के रूप में हिंदी में अप्रतिम हैं।

भारतेन्दु के उपरांत जयशंकर प्रसाद की प्रतिभा ने साहित्य के अनेक क्षेत्रों को एक साथ स्पर्श किया है। करूण मधुर गीत, अतुकान्त रचनाएं, मुक्त छंद, खंडकाव्य सभी उनके काव्य के बहुमुखी प्रसाद के अंतगर्त्त है। लघुकथा के वैचित्र्य से लंबी कहानियों की विविधता तक उनका कथा साहित्य फैला है। नागरिक यथार्थ पर आधारित उपन्यास 'कंकाल' से लेकर भावात्मक ग्रामीणता पर आधारित उपन्यास 'तितली' तक उनकी औपन्यासिक प्रतिभा का विस्तार है। एंकाकी, प्रतीक रूपक, गीतिनाट्य ऐतिहासिक नाटक आदि में उन्होंने नाटकीय स्थिति का संचयन किया है। उनका निबंध साहित्य किसी भी गंभीर दार्शनिक चिन्तन को गौरव देने में समर्थ है।

महादेवी वर्मा ने 'पथ के साथी' में जयशंकर प्रसाद के संबंध में लिखा है कि ''बुद्धि के आधिक्य से पीड़ित हमारे युग को, प्रसाद का सबसे महत्त्वपूर्ण दान 'कामायनी' है।

'कामायनी' जैसे महाकाव्य के रचियता जयशंकर प्रसाद की रचनाओं में अंतर्द्वंद्व का जो रूप दिखाई देता है वह प्रसादजी के लेखनी का मौलिक गुण है। अंतर्द्वंद्व को आपके अन्य काव्यों यथा 'प्रेमपथिक, 'काननकुसुम', 'चित्रधार', 'झरना', 'आंसू', 'करुणालय', 'महाराणा का महत्त्व' एवं 'लहर' में भी दृष्टिगोचर होता है। आपके नाटकों यथा 'चंद्रगुप्त', ध्रुवस्वामिनी', 'राज्यश्री', 'प्रायश्चित', 'सज्जन', 'कल्याणी परिणय', विशाख', 'कामना', 'स्कंदगुप्त', 'एक घूंट', 'जनमेजय का नागयज्ञ' तथा कहानियों का संकलन यथा 'छाया', 'प्रतिध्वनि', 'इंद्रजाल', 'आंधी', 'आकाशद्वीप' में भी अंतर्द्वंद्व गहन संवेदना के

स्तर पर उपस्थित है। आपके उपन्यास यथा 'कंकाल, तितली व अधूरी इरावती में भी अंतर्द्वंद्व की स्पष्ट रेखा इंगित होती है। 'चंद्रगुप्त के आरंभिक दृश्य में अलका सिंहरण से कहती है, ''देखती हूँ कि प्रायः मनुष्य दूसरों को अपने मार्ग पर चलाने के लिए रुक जाता है और अपना चलना बंद कर देता है।'' सूत्र शैली में कहा गया यह वाक्य एक बड़े अंतविरोध को अपने में समाहित किए हुए है और इस द्वंद्व प्रक्रिया में अर्थ की अनेक परतें उघारता है। प्रसादजी का सर्जनात्मक गद्य यहां अपने पूरे वैभव पर है।

जयशंकर प्रसाद की अधिकांश रचनाएं कल्पना तथा इतिहास के सुदंर समन्वय पर आधारित हैं तथा प्रत्येक काल में यथार्थ को गहरे स्तर पर संवेदना की भावभूमि पर प्रस्तुत करती है। आपकी रचनाओं में शिल्प के स्तर पर भी मौलिकता दृष्टिगोचर होती है जिसके भाषा की संस्कृतनिष्ठता तथा प्रांजलता विशिष्ठ गुण है। आपकी अनुभूति और चिंतन के दर्शन आपके चित्रात्मक वस्तु-विवरण से संपृक्त रचनाओं में भली भांति होता है। जयशंकर प्रसाद ने हिन्दी साहित्य की सभी महत्त्वपूर्ण विद्याओं में रचनाओं का सृजन किया जो उनकी प्रखर सृजनशीलता का प्रभाव है एवं हिन्दी साहित्य की अमूल्य थाती है। हिन्दी साहित्य में छायावाद के आधार स्तंभ रहे प्रसादजी साहित्याकाश में अनवरत चमकने वाले नक्षत्र माने जाते है। महादेवी वर्मा ने ठीक ही कहा है कि ''छायावाद युग में भाव में जिस ज्वार ने जीवन को सब ओर से प्लावित कर दिया था उसके तट और गन्तव्य के संबंध में जिज्ञासा स्वाभाविक थी और इस जिज्ञासा का उत्तर कामायनी ने दिया। प्रसाद को आनंदवादी कहने की भी एक परम्परा बनती जा रही है पर कोई महान कवि विशुद्ध आनन्दवादी दर्शन नहीं स्वीकार करता क्योंकि अधिक और अधिक सामंजस्य अखंड की पूकार ही उसके सृजन की प्रेरणा है और वह निरंतर असंतोष का दूसरा नाम है। 'आनंद अंखड़ घना था' विश्व जीवन का चरम लक्ष्य हो सकता है परंतु उसे चरम सिद्ध तक पहुँचाने के लिए कवि को तो निरन्तर साधक ही बना रहना पड़ता है। सितार यदि समरसता पा ले तो फिर झंकार के जन्म का प्रश्न ही नहीं उठता क्योंकि वह तो हर चोट के उत्तर में उठती है और सम विषम स्वरों को एक विशेष क्रम में रखकर दूसरों के निकट संगीत बना देती है। यदि आघात या आघात का अभाव दोनों एक मौन या एक स्वर बन गए हैं तब फिर संगीत का सृजन और लय संभव नहीं। प्रसाद का जीवन, बौद्ध विचारधारा की ओर उनका झुकाव, चरम त्याग, बलिदान वाले करूण कोमल पात्रों की सृष्टि उनके साहित्य में बार-बार

अनुगुंजित करुणा का स्वर आदि प्रमाणित करेंगे कि उनके जीवन के तार इतने सधे और खिचे हुए थे कि हल्की सी कंपन भी उनमें अपनी प्रतिध्वनि पा लेती थी।''

जयशंकर प्रसाद की प्रारंभिक शिक्षा घर पर ही हुई, बाद में वाराणसी के क्विस इंटर कॉलेज में अध्ययन किया परंतु इनका विपुल ज्ञान इनकी स्वाध्याय की प्रवृति से हासिल हुई तथा अपने अध्यवसायी गुण के कारण छायावाद के महत्त्वपूर्ण स्तंभ बने एवं हिन्दी साहित्य को अपनी रचनाओं के रूप में एक अनमोल रत्न प्रदान किया। सत्रह वर्ष के उम्र में ही अपने माता-पिता एवं बड़े भाई के देहावसान के कारण गृहस्थी का बोझा आपके कंधे पर आ गया। गृह कलह में खानदानी समृद्धि जाती रही परंतु अभाव में एवं गरीबी की परिस्थितियो में आपमें कवि व्यक्तित्त्व को उभारा। नौ वर्ष की उम्र में आपने कलाधर उपनाम से ब्रजभाषा में एक सवैया लिखा था। आरंभिक रचनाएं ब्रजभाषा में लिखी जिसे छोड़कर बाद में हिन्दी में आ गये। जयशंकर प्रसाद के मामा अम्बिका प्रसाद गुप्त द्वारा संपादित 'इन्दु' पत्रिका में आपकी प्रथम रचना प्रकाशित हुई थी। प्रसादजी का पहला संग्रह 'चित्रधार' है तथा 'कानन कुसुम' आपकी खड़ी बोली का प्रथम संस्करण है। 'कानन कुसुम' में प्रसादजी अनुभूति और अभिव्यक्ति की नयी दिशा तलाशने की चेष्टा की है। 'प्रेमपथिक' का ब्रजभाषा स्वरूप सर्वप्रथम 'इन्दु' पत्रिका में छपा जिसे बाद में कवि ने खूद खड़ी बोली में रूपान्तरित किया था। प्रेमपथिक एक भाव मूलक कथा है जिसके माध्यम से आदर्श प्रेम की व्यंजना की गयी है। 'करुणालय' की रचना गीति नाट्य के आधार पर हुई है। 'महाराणा का महत्त्व' 1914 ई. में 'इन्दु' पत्रिका में प्रकाशित हुई थी। 'झरना' का प्रथम प्रकाशन 1918 ई. में हुआ था। इसमें आधुनिक काव्य की प्रवृतियां को अधिक उजागर देखा जा सकता है। कवि के व्यक्तित्त्व को पहली बार स्पष्ट रूप से 'झरना' में देखा जा सकता है जिसमें कवि ने छायावाद को प्रतिष्ठित किया। 'आंसू' प्रसादजी की एक विशिष्ट रचना है जिसका प्रथम संस्करण 1925 ई. में छापा गया था। 'आंसू' को एक श्रेष्ठ गीतिकाव्य कहा जाता है जिसमें कवि की प्रेमानुभूति व्यंजित हैं। इसका मूल स्वर विषाद का है पर अन्ततः इसमें आशा और विश्वास के स्वर हैं। 'लहर' प्रसादजी की सर्वोत्तम कविताएं संकलित हैं। बाल्यावस्था से ही प्रसादजी का संपर्क कलाविदों, कवियों और संगीतज्ञों से रहा, जिन्होंने कवि प्रतिभा को विकसित होने का प्रचुर वातावरण दिया। कवि समाज में समस्या पूर्तियों से अपनी कविता का आरंभ किया। वेद उपनिषदों के गहन

अध्ययन ने प्रसादजी को चिन्तनशील और दार्शनिक बना दिया तथा बौद्ध धर्म का प्रभाव के कारण आपके काव्य में करूणा की भावना का समावेश पाया जाता है। शिव भक्त होने के कारण 'कामायनी' महाकाव्य के रहस्य और आनंद सर्ग शैव दर्शन से पूर्ण रूप से प्रभावित है। प्रसादजी छायावादी काव्य के जनक और पोषक होने के साथ ही आधुनिक काव्यधारा का गौरवमय प्रतिनिधित्व करते है। प्रसादजी का सबसे बड़ा हिन्दी साहित्य को योगदान यह है कि आपने जहां रीतिकालीन को अफीमची ऋगारिकता से कविता-कामिनी को निकाला वहीं आपने द्विवेदी युग के इतिवृत्तात्मकता के नीरसता के शुष्क रेगिस्तान में उसके सूखते हुए कंठ को मधुर रस धारा प्रदान कीया।

उपन्यास के क्षेत्र में प्रेमचंद के सहयोगी जयशंकर प्रसाद थे। काव्य में जीवन के चरम आदर्श आनंद को रूपायित करने वाले कवि प्रसाद अपने तीन उपन्यासों, दो पूर्ण, 'कंकाल' एवं 'तितली' और एक अपूर्ण 'इरावती' में सामाजिक यथार्थ का चित्रण ही चुनते है और इसके लिए कंकाल और तितली में आपका गद्य-विधान भी कम-बढ़ प्रेमचंद की तरह ही रहता है। अपने अंतिम अधूरे उपन्यास 'इरावती' में अवश्य आप एक भिन्न भाषिक स्तर पर रचना करते है। यहां कथानक शुंगकालीन है और रचना समस्या भी सामाजिक यथार्थ के बीच से लेखक की प्रिय जीवन साधना आनंद की भाव भूमि तक पहुँचने की है तब स्वभावत् भाषा का रूप, उनके नाटकों की तरह, तत्सम शब्दावली पर आधारित काव्यात्मक लक्षणा के निकट है। प्रसादजी की इस अंतिम अधूरी रचना में जैसे आपकी कविता, नाटक और उपन्यास तीनों रचना पक्षों का एक विराट समागम हुआ हो और 'इरावती' के अधूरेपन ने तो शायद उसकी कलात्मकता और उन्मुक्ता को कुछ बढ़ाया ही है। प्रसाद के आधे गाए गान के प्रिय बिंब की तरह। 'इरावती' के गद्य का कुछ अंश उदाहरणार्थ प्रस्तूत है - ''इरावती ने कहा - क्या बिना मुझसे पूछे तुम रह नहीं सकते ? अग्नि ! मैं जीवन-रागिनी में वर्जित स्वर हूँ। मुझे छेड़कर तुम सुखी न हो सकोगे। मुझसे मिल मुझे बचाना चाहते हो। यह तुम्हारी अनुकम्पा है। परंतु मेरे ऊपर मेरा भी कुछ ऋण है। मैंने भी अपने को इतने दिनों से संसार से सार लेकर, भीख मांग कर, अनुग्रह से अनुरोध से जुटा कर कैसा कुछ खड़ा कर दिया है। उस मूर्ति को क्यों बिगाडूं? स्त्री के लिए जब देखा कि स्वाबलम्ब का उपाय कला के अतिरिक्त दूसरा नहीं, तब उसी का आश्रय लेकर जी रही हूँ । मुझे अपने में जीने दो।''

प्रेमचंद से कुछ अलग प्रसादजी के कहानी गद्य में था। प्रसादजी की ऐतिहासिक कहानियों में वैभवपूर्ण गद्य और सामाजिक कहानियों में निरीह जैसा गद्य, दोनों प्रेमचंद के सम से अलग है जिनके यहां आरोह-अवरोह का वैविध्य अपेक्षकृत कम है। प्रसादजी के तत्समाग्रही गद्य का प्रवाह देश-काल परिस्थिति के संयोग से बनता है, इतिहास और दर्शन दोनों रूपों में जिसका बड़ा सघन अध्ययन नाटककार ने कर रखा था जैसा कि उनकी नाट्य भूमिकाओं और कुछ स्वतंत्र निबंधों से भी प्रकट होता है। सभी साहित्यों के इतिहास में नाटक का माध्यम अंशत: और कभी पूर्णत: कविता रही है। समूचे नाटक का लेखन गद्य में स्पष्ट ही बहुत बाद का विकास क्रम है। प्रसादजी का अन्य नाटकों, 'एक घूंट' को छोड़कर, का गद्य लेखन न सिर्फ आपके समकालीनों से बल्कि आपके अपने अन्य गद्य लेखन से अलग है। प्रसादजी का नाटकों में जनमेजय परीक्षित से लेकर बौद्ध, मौर्य काल होते हुए गुप्त और हर्षवर्धन तक का संसार को देखा जा सकता है परंतु नाटकों के माध्यम से प्रसादजी सिर्फ गड़े मुर्दे नहीं उखाड़ते अपितु अपने कथा संकेतों और चरित्रों के माध्यम से वर्त्तमान से जोड़ते हैं। इन नाटकों की भाषा अतीत और वर्त्तमान को जोड़ते चलती है और इस क्रम में जातीय-प्रादेशिक-सांप्रदायिक द्वन्द्वों के उपर राष्ट्रीय भाव बोध को स्थापित करती है। इस रूप में प्रसादजी का नाट्य-गद्य हिन्दी साहित्य के लिए एक विलक्षण उपलब्धि है। प्रसादजी के नाटकों की भाषा यदि ग्रहीता के मन में ऐतिहासिकता अंतराल को जन्म देती है तो कथा-भाषा आत्मीयता की अनुभूति उत्पन्न करती है। 'अजातशत्रु', 'स्कंदगुप्त', 'चुद्रगुप्त' और 'ध्रुवस्वामिनी' में प्रसादजी का बुनियादी नाट्य गद्य इसी प्रकार का है।

आलोचकों द्वारा प्रसादजी की काव्यात्मकता और तत्समाग्रही भाषा को लेकर यह प्रश्न उठाया जाता रहा है कि क्या यह गद्य श्रोता-पाठक के लिए तात्कालिक रूप से संप्रेषणीय है, क्योंकि गद्य प्रकार संप्रेषण प्रक्रिया में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तत्त्व माना जाता है। आलोचकों के उक्त प्रश्न के उत्तर में यह कहा जा सकता है कि संभव है कि एक लेखक की भाषा सरल हो पर प्रवाह न हो तथा दूसरी ओर भाषा कठिन काव्यात्मक और तत्समाग्रही हो जैसा कि प्रसादजी की है परंतु उसमें प्रवाह हो। इसे एक उदाहरण से स्पष्ट किया जा सकता है। 'अजातशत्रु' नाटक के प्रारंभ में महाराजा बिम्बसार अपनी रानी वासवी से पूछते है, ''देवी, तुम कुछ समझती हो कि मनुष्य के लिए एक पुत्र का होना क्यों इतना आवश्यक समझा गया है ?'' उत्तर से संतुष्ट न होकर महाराज अपनी ओर से

समाधान देते है, ''संसारी को त्याग, तितिक्षा या विराग होने के लिए पहला और सहज साधन है। पुत्र को समस्त अधिकार देकर वीतराग हो जाने से असंतोष नहीं होता क्योंकि मनुष्य अपनी ही आत्मा का भोग उसे भी समझता है।''

ऐतिहासिक नाटक के माध्यम से उत्तराधिकारी की समस्या का ऐसा संक्षिप्त और मर्मस्पर्शी विवेचना प्रसादजी को छोड़कर शायद ही कहीं और मिले, जो एक ही साथ जितना दार्शनिक विवेचना है उतना ही व्यावहारिक भी। प्राय सत्ता से लेकर गृहस्थ तक में उत्तराधिकारी की समस्या कैसे परिव्याप्त है, इसका संप्रेषण हर दर्शक वर्ग को अपने-अपने स्तर पर हो जाता है। प्रसादजी का सिर्फ एक नाटक 'एक घूंट' ही रोजमर्रा के बोलचाल की भाषा में है तथा इसी भाषा में प्रसादजी के बाद के नाटक प्राय: लिखे गये हैं। जयशंकर प्रसाद की काव्यभाषा दो स्तरों, एक बिब भाषा और दूसरा वर्णन की भाषा में गतिशील होती है। बिब भाषा जहां पूर्णत व्यवस्थित है वहीं वर्णन की भाषा में कुछ ढिलाई देखने को मिलती है। प्रसाद के ऐतिहासिक नाटकों का काल मानव संस्कृति के आरंभ से, जनमेजय का नागयज्ञ सम्राट हर्षबर्धन तक, राजश्री माना जाता है। इस विस्तृत काल अवधि की भाषा में संस्कृत तत्सम शब्दावली का प्रचुर प्रयोग दो प्रयोजनों, यथा, प्रथम तो तत्कालीन संस्कृति की झलक और द्वितीय नाटक काल समकालीन जीवन व्यवस्था से बहुत पूराना है, को सिद्ध करता है। प्रसादजी के ऐतिहासिक नाटकों का गद्य विधान संवाद प्रवाह की बुनियादी समस्या उत्पन्न नहीं करता है। उदाहरण के लिए नाटक 'चंद्रगुप्त' में चाणक्य का लंबा स्वगत कथन, ''समझदारी आने पर यौवन चला जाता है। जबतक माला गूंथी जाती है तब तक फूल कुम्हला जाते है।'' इन संवादों में कुछेक शब्दों का ठीकठाक अर्थ भले ही न समझ में आए परंतु काव्यात्मक प्रसंग पूरे के पूरे ग्रात्य हैं। ऐसा ही एक उदाहरण जब सिंहरण कहता है, ''अतीत सूखों के लिए सोच क्यों, अनागत भविष्य के लिए भय क्यों और वर्त्तमान को मैं अपने अनुकूल बना ही लूंगा, फिर चिंता किस बात की ?'' स्कंदगुप्त नाटक में देवसेना के भूख से नारी जीवन को रेखांकित करते ये संवाद कि ''संगीत सभा की अंतिम लहरदार और आश्रयहीन तान, धूपदान की एक क्षीण गंध-रेखा, कुचले हुए फूलों का ग्लान सौरभ और उत्सव के पीछे का अवसाद, इन सबों की प्रतिक्रिया मेरा क्षुद्र नारी जीवन।''

जयशंकर प्रसाद का महत्त्वपूर्ण चिंतन छायावाद और रहस्यवाद की पृष्ठभूमि को लेकर अधिक है। रहस्यवाद को उन्होंने वैदिक परम्परा के

स्वास्थ-सहज विकास के रूप में देखा जो अपने अद्वैत चिंतन में इस संसार को स्वीकार करता है तथा विवेक के स्थान पर आनंद को महत्त्व प्रदान करता है। आपका अधूरा उपन्यास 'इरावती', कहानी 'सालवती' और 'रहस्यवाद' विषयक निबंध का गद्य रचनात्मक और आलोचनात्मक लेखन का सुंदर उदाहरण है। अपने अधूरे उपन्यास 'इरावती' में प्रसादजी अग्निमित्र के समय यानी 155 ई.पू. के आस-पास परवर्ती बौद्ध समाज में व्याप्त विधि निषेधों के माध्यम से आधुनिक हिन्दू समाज की विषमताओं का अतिसुदंर चित्रण किया है। अपनी पुस्तक 'प्रसाद का गद्य' के समापन में सूर्यप्रसाद दीक्षित ने ठीक ही लिखा है कि ''गद्य की अनेक विधाएं प्राय: प्रसाद द्वारा उत्कृष्ट रूप में अविष्कृत हुई हैं।'' प्रसादजी के उपन्यास के गद्य में तद्भवता और तत्समता अपने-अपने ढ़ग से कैसे नियुक्त है इसे दो उदाहरणों से समझा जा सकता है, पहला 'तितली' उपन्यास के आरंभ का एक वर्णन इस प्रकार है ''संध्या गांव की सीमा में धीरे-धीरे आने लगी। अंधकार के साथ ही ठंड़ बढ़ चली। गंगा की कछार की झाड़ियों में सन्नाटा भरने लगा। नालों के करारों में चरवाहों के गीत गूंज रहे थे।'' यह वर्णन आधुनिक गांव की संध्या का है, जो जितना सामान्य है उतना ही आश्वस्तिकर भी है। दूसरा उदाहरण 'इरावती' उपन्यास के आरंभिक वर्णन से लिया जा सकता है, जो इस प्रकार है, ''महाकाल के विशाल मंदिर में सांयकालीन पूजन हो चुका। दर्शक अभी भी भक्ति भाव से यथास्थान बैठ रहे थे। मंडप के विशाल स्तंभों से वेले के गजरे झूल रहे थे। स्वर्ण के ऊँचे दीपाघरों में सुंगधित तैलों के दीप जल रहे थे। कस्तूरी अगुरू से मिली हुई धूप-गंध मंदिर में फैल रही थी।'' यह वर्णन प्राचीन विशाल मंदिर का है जहां की भव्यता आशंका को उकसाती है। प्रसादजी का अन्य दो उपन्यास 'कंकाल' और 'तितली' समकालीन समाज का चित्रण करते है। आपकी पांच कहानी संग्रहों में कुल सत्तर कहानियां हैं जिसमें कुछेक कहानियां ऐतिहासिक और ज्यादातर कहानियां समकालीन समाज, धर्म और आर्थिक स्थितियों का चित्रण है।

साहित्य चिंतन के विषयों में तो प्रसादजी और भी सुदृढ़ भूमि पर स्थित दिखते हैं। 'रहस्यवाद' शीर्षक निबंध में अद्वैत, रहस्य और आनंद का पक्ष लेते हुए उन्होंने विवेक के पक्ष में बड़ा सूक्ष्म पर करारा व्यंग्य किया है, ''इस पौराणिक धर्म के युग में विवेकवाद का सबसे बड़ा प्रतीक रामचंद्र के रूप में अवतरित हुआ, जो केवल अपनी मर्यादा में और दुख सहिष्णुता में महान रहें। किंतु पौराणिक युग का सबसे बड़ा प्रयत्न श्रीकृष्ण के पूर्णावतार का निरूपण था। इनमें

गीता का पक्ष जैसे बुद्धिवाद था वैसे ही ब्रजलीला और द्वारका का ऐश्वर्य योग आनंद से संबद्ध था।'' प्रसादजी के इस चिंतन में पूरा तारतम्य है। भारतीय पुनर्जागरण के चिंतन में आनंद बनाम विवेक का विवेचन करते हुए प्रसादजी ने आनंद के पक्ष को बड़ी क्षमता के साथ 'कामायनी' काव्य, 'इरावती' अधूरा उपन्यास, 'सालवती' कहानी और 'रहस्यवाद' शीर्षक निबंध में प्रतिष्ठित किया है। यह कहने में कोई अतिशियोक्ति नहीं होगी कि जयशंकर प्रसाद की तरह संश्लिष्ट रचनाकार व्यक्तित्त्व आधुनिक भारतीय साहित्य में कठिनाई से ही मिलेगा।

भक्तिकाल के बाद जिस छायावाद को आधुनिक हिन्दी कविता का स्वर्ण युग माना जाता है जयशंकर प्रसाद इसके प्रमुख स्तम्भों में से एक विशिष्ट स्तंभ थे। हिन्दी नाटक के विकास में प्रसादजी के विशिष्ट योगदान को देखते हुए 'प्रसाद युग' की स्थापना की गयी। प्रसादजी की महत्ता का अंदाजा इस बात से लगाया जा सकता है कि 'रामचरितमानस' के बाद महाकाव्य के रूप में इनकी 'कामायनी' प्रतिष्ठित हुई। 75 वर्ष बीत जाने के बाद भी 'कामायनी' जैसा उत्कृष्ट और उदान्त महाकाव्य कोई कवि नहीं लिख सका है।

'कामायनी' इतिहास और कल्पना का सुंदर समन्वय है किंतु अतीत के गौरवशाली वैभव के चित्रण में उन्होंने वर्त्तमान से भी अपने को जोड़े रखा है।

प्रसादजी ने रूपक कथात्मक शैली से 'कामायनी' को प्रारंभ किया है,

"हिमगिरि के उत्तुंग शिखर पर
बैठ शिला की सुंदर छांव
एक पुरूष भीगें नयनों से
देख रहा था प्रलय प्रवाह
नीचे जल था, ऊपर हिम था
एक तरल था, एक सघन।
एक तत्त्व की ही प्रधानता
कहो उसे जड़ या चेतन"

आलोचकों के अनुसार यह महाकाव्यातमक आरंभ है। सूक्ष्म और स्थूल, लाक्षिणक और चित्रात्मक शैली का इन पक्तियों में मणिकांचन संयोग है। यहां प्रसादजी ने बड़ी कुशलता से स्थूल के लिए सूक्ष्म उपमान दिया है। 'कामायनी' की ये प्रारम्भिक पक्तियां एक करुण छाप छोड़ जाती है। जल प्लावन को यदि प्रतीक समझें तो यह प्रत्येक हृदय का प्लावन है। जिसमें उसके सुख का संसार

करूणा जल में डूब जाता है और फिर उसका एकाकी जीवन सुख तलाशने लगता है। इसमें कोई दो राय नहीं कि कामायनी में प्रसादजी मानवीय चित्रवृत्तियों का मानवीकरण कर उसे अपना स्वतंत्र रूप देने के प्रयास में अत्यंत सफल रहे है। डा. प्रतिपाल सिंह ने कामायनी में श्रद्धा के चरित्र के संबंध में लिखा है कि ''श्रद्धा महाकाव्य की प्राण है एवं स्फूर्तिदायिनी शक्ति है, जो चिंताग्रस्त मनु को मंगलमय एवं कल्याणकारी पथ का पथिक बनाती है। वास्तव में श्रद्धा ने मनु के व्यक्तित्त्व को एक महामानवीय आकार दिया है। प्रश्न उठता है श्रद्धा क्या है ? सारा संसार जिस समय आपसी विवादों, कलहों के कारण भयानक कोलाहल में अपना अस्तित्त्व खो रहा था, श्रद्धा कहती है कि मैं उस विशेष स्थिति में हृदय की बात हूँ,

''तुमुल कोलाहल कलह में
मैं हृदय की बात रे मन !
विकल होकर नित्य चंचल
खोजती जब नींद के पल
चेतना थक सी रही तब
मैं मलय की बात रे मन !''

इस गीत के माध्यम से प्रसादजी ने मस्तिष्क पर हृदय को स्थापित कर दिया जो बहुत ही महत्त्वपूर्ण साहित्यिक घटना है। मस्तिष्क मरूभूमि की ज्वाला में भटकने के लिए है। वह धधकती हुई ज्वाला जिसमें चातकी स्वाति नक्षत्र की एक बूंद की प्यासी रहती है, ठीक इसी प्रकार आत्मा हृदय से निसृत प्रेम कणों पर ही जीवित रहती है। इस लाक्षणिक प्रयोग से यही अर्थ निकलता है कि बुद्धि के चक्कर में मनुष्य का जीवन मरु ज्वाला में घिर जाता है परिणामस्वरूप मनु के सौम्य सुखद प्रेममय जीवन की सारी शीतलता सारा सुख इड़ा के नगर में खो जाता है और वे मूर्च्छित आहत मैदान में पड़े रहते हैं। श्रद्धा का गीत वर्षा की भांति उनके जीवन सरसता लाता है, ताप मिटाता है और फिर जीने की रमणीय दिशा देता है। अनेक उपनिषदों, पुराणों एवं धर्मग्रंथों के गहन अध्ययन के पश्चात प्रसादजी ने श्रद्धा का चरित्र गढ़ा है। श्रद्धा आस्तिकता, आस्था और विश्वास का प्रतीक है। वास्तव में आज के आदमी की बुद्धि ही उसकी त्रासदी है। वह हृदय से दूर होता जाता है और असीमित दुख का भागी बनता है। श्रद्धा तो हर हृदय में आनंद देने को तत्पर है परंतु आनंद मनु की भांति बुद्धि के सारस्वत नगर में ढूढ़ रहा है। इस गीत का कामायनी में महत्त्वपूर्ण स्थान इसलिए भी है, क्योंकि

कवि ने इस गीत के माध्यम से जीवन में थके, निराश, हारे मनु को जीवन दिया है।

जयशंकर प्रसाद बहुत ही सरल और उदार व्यक्ति थे। उन्होंने अपनी किसी भी रचना के लिए पुरुस्कार के रूप में एक पैसा भी नहीं लिया। हिन्दुस्तानी एकाडेमी और काशीनगर प्रचारिणी सभा से उन्हें जो पुरुस्कार मिला था वह भी उन्होंने नगर प्रचारिणी सभा को दान कर दिया था। किसी संस्था का सभापति होना या किसी कवि सम्मेलन में कविता पाठ करना उन्हें स्वीकार नहीं था। प्रसादजी के साहित्य में अनुभूति और शिल्प दोनों दिशाओं में सतत जागरुकता का प्रयत्न दृष्टिगोचर होता है। यही कारण है कि वे 'चित्रधार' जैसी साधारण कृतियों की साधारण भूमि से उठकर 'कामायनी' जैसे ऋंग तक उठ सके। प्रेम, सौंदर्य की अनुभूतियॉ उनकी मानवीयता से संबंध रखती हैं। नाटकों में सांस्कृतिक दृष्टि अधिक मुखर है। इनकी कविताओं में मनोवैज्ञानिकता, दार्शनिकता तथा सांस्कृतिक भूमि का समावेश देखा जा सकता है। प्रसादजी ने ऐतिहासिक कथाओं के माध्यम से राष्ट्रीयता और आध्यात्मिकता का वर्तमान युग को संदेश दिया है। सौंदर्य वर्णन करने में प्रसादजी भौतिक जगत में ही रहे परंतु उनका सौंदर्य वर्णन रीतिकाल के कवियों की तरह कहीं भी ऐन्द्रिकता के भार से बोझिल नहीं होता है। उदाहरणार्थ,

''विछल रही है चांदनी, छवि मतवाली रात
कहती कंपित अधर से, बहलाने की बात''

कवि की काव्य प्रेरणा प्राकृति है जिसे उन्होंने कई रूपों में पेश किया है। प्रसादजी के कविताओं में मानवीय भावनाओं, काव्य में कला और कल्पना की उड़ान देखने को मिलती है। प्रसादजी ने संक्षिप्त छंद में जितना कह दिया है उतना अन्य कवि विस्तृत वर्णन में भी नहीं कह पाते है जैसे,

"तुम्हारी आंखों का बचपन,
खेलता जब अल्हड़ खेल"

हिन्दी काव्य की वह धारा जिसमें स्थल रूपात्मक चित्रणों के स्थान पर सूक्ष्म भावनाओं और निर्भय कल्पना का उन्मुक्त उपयोग होता है, आलोचकों द्वारा छायावाद के नाम से प्रतिष्ठित हुआ है। जयशंकर प्रसाद छायावाद के पोषक कवि थे जिन्होंने द्विवेदीकालीन काव्य की इतिवृतात्मक तथा नैतिक नीरसता के स्थान पर नवीन भावनाओं, आंकाक्षाओं, चेतना और अभिव्यक्ति के काव्य का एक नया रूप तैयार किया। नन्द दुलारे बाजपेयी ने लिखा है कि 'नवीन युग की हिन्दी

कविता की बृहत्यत्री रूप में श्री जयशंकर प्रसाद, श्री सूर्यकांत त्रिपाठी निराला और श्री सुमित्रानंदन पंत की प्रतिष्ठा मानी जाती है। इसमें ऐतिहासिक दृष्टि से जयशंकर प्रसाद का कार्य सबसे अधिक विशेष तथा समन्वित है। उन्होंने कविता के विषय को रसमय बनाया और कल्पना एवं सौंदर्य के नए स्पर्श कराए। प्रसादजी को अग्रगण्य छायावादी कवि के रूप में प्रतिष्ठित करने वाले काव्य संग्रहों में 'लहर', 'आंसू' और 'कामयानी' है। इनकी प्रतिभा ने छायावादी काव्य को 'कामायनी' की अन्तिम और सर्वश्रेष्ठ भेंट दी है।

प्रसादजी एक चिंतक कवि थे, उन्हें भारत के प्राचीन अध्यात्मवाद का बड़ा ध्यान था। कवि ने उन ऋषियों अर कृतियों का अध्ययन किया जिसके ज्ञान से मनुष्य सांसारिक सरिता को पार करके मानसिक शांति की अनुभूति करता है और आध्यात्मिक सुख प्राप्त करता है। कवि के प्रेम से ओत-प्रोत हृदय ने संसार को ही प्रेम के रंग में रंगा हुआ देखा है, उदाहरणार्थ,

"मानव जीवन वैदी पर, परिणय है बिरह मिलन का
सुख-दुख दोनों नाचेंगे, है खेल आंख, मन का"

हम पाते है कि प्रसादजी का प्रेम परक काव्य शुद्ध आध्यात्मिक है। उसमें इंद्रिय लिप्सा नहीं है, वासना नहीं है, मोह नहीं है, स्वार्थ नहीं है, क्योंकि प्रेम ही ईश्वर है। प्रेम में निष्क्रियता नहीं वह अनन्त प्रगति का प्रतीक है। छायावादी होने के कारण कवि का यह मानना है कि जिस प्रेम को हम मानव जगत में ढूढ़ते है वह प्रकृति के मूक संसार में बहुतायत में मिल सकती है। अत: प्राकृतिक दृश्यों का स्वाभिवक और सूक्ष्म चित्रण कवि के काव्य में सर्वत्र बिखरा मिलता है। इनके काव्य में जो सौंदर्य का वर्णन हुआ है उसमें प्रेमिका का नख-शिख वर्णन भी है परंतु उसके अंगों का वर्णन मात्र न होकर कल्पना विलास है। प्रसादजी की कविताएं सूक्ष्म कल्पना और गंभीर भावों से भरी हुई है जिसमें अनुभूतियों का समावेश, वेदना का करूण क्रन्दन, आशा और उल्लास का मार्मिक व्यंजना आदि गुण समान रूप से विद्यमान है। अनुभूति एवं कल्पना प्रधान काव्य कृतियों में 'आंसू' सर्वश्रेष्ठ है, इसमें एक सौ चौबीस छंद है जिसमें वेदना, पीड़ा और मधुर भाव का चित्रवत अभिव्यंजन है। आंसू में कवि ने आध्यात्मिक और सौंदर्यविष्ठ असंतोष को प्रकट कर काव्य में चिरमंगल का संदेश दिया है। कवि की दृष्टि में दुख का कारण है मन में संकल्प का आभाव। सुख्-दुख को मन का खेल समझकर समभाव बने रहने से ही मनुष्य मन का कल्याण है। इसके अतिरिक्त कविता 'हमारा देश' या 'भारत वर्ष' राष्ट्रीयता और सांस्कृतिकता से

भरी भाव भूमि का ज्वलंत उदाहरण है। कविता के माध्यम से प्रसादजी ने अपने सांस्कृतिक व्यक्तित्त्व की झांकी प्रस्तुत की है। बीणा की झंकार, दधीचि की दानशीलता, बुद्ध का शांति संदेश और ऋषिमनु का सामाजिक आदर्श हमारे देश की आध्यात्मिक और नैतिक पृष्ठ भूमि का आधार रचते है।

अंततः जयशंकर प्रसाद पर किए गए आलोचना का जिक्र करते हुए जहां मुक्तिबोध ने कामायनी महाकाव्य पर कटु आक्षेप करते हुए लिखा है कि प्रसाद की कामायनी में मनु की समस्या स्वयं कवि प्रसाद की समस्या है। इसमें वर्णित प्रलय उनके परिवार में घटित प्रलय, मृत्यु आदि की व्यावर्त्तक घटना, की ही छाया है। वहीं कामयानी को एक शालेय ग्रंथ कहते आलोचक नहीं थकते। विश्वबुक्स द्वारा प्रकाशित 'कामायनी' में सुदर्शन चोपड़ा ने तो यहां तक लिख डाला है कि हिन्दी छात्रों का मानसिक विकास अवरूद्ध करने का सारा दायित्व कामायनी जैसे कालजयी ग्रंथों पर ही है। आलोचक चाहे जो कहें परंतु इसमें कोई दो राय नहीं कि रामचरितमानस के बाद दूसरा महाकाव्य जयशंकर प्रसाद द्वारा लिखित कामायनी ही है। इनके बाद आजतक कोई हिन्दी के मठाधीशों ने महाकाव्य की रचना नहीं की और यह भी सत्य है कि कामायनी की आलोचना करते-करते लब्ध प्रतिष्ठित जरूर हो गए।

इस तथ्य से इंकार नहीं किया जा सकता है कि महाकवि जयशंकर प्रसाद आधुनिक हिन्दी साहित्य के सर्वांनीण विकास में सबसे अधिक योगदान देने वाले साहित्यकार थे। काव्य, कथा साहित्य, नाटक, आलोचना, दर्शन, इतिहास सभी क्षेत्रों में उनकी प्रतिभा अद्वितीय है। साहित्य जगत हमेशा ऐसे महान कवि, लेखक, कहानीकार, नाटककार, गीतकार का ऋणी रहेगा।

प्रसादयुगीन प्रतिनिधि रचनाकार

पंडित सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला

पंडित सूर्यकांत त्रिपाठी निराला का जन्म संवत 1953 वि. वसंत पंचमी के दिन ग्राम गढ़कोला जनपद उन्नाव में हुआ था। इनके पिता का नाम पं. राम सहाय त्रिपाठी था। वे मेदिनीपुर के महिषदल राज्य में नौकरी करते थे। इनकी मां सूर्य का व्रत रखती थीं, इनका जन्म भी रविवार को हुआ था इसीलिए इनका नामकरण सूर्य के आधार पर सूर्यकांत किया गया। साहित्य क्षेत्र में अपनी निराली प्रकृति के कारणस्वरूप उपनाम 'निराला' हो गया।

निराला की शिक्षा बंगाल में ही हुई। ये आरंभ से स्वच्छंद प्रकृति के थे। अत: स्कूली शिक्षा में इनका मन न रमा। स्कूल छोड़कर घर पर ही अनेक विषयों का ज्ञान प्राप्त किया। तेरह वर्ष की अवस्था में ही इनका विवाह हो गया था। इनकी दो संतानें एक पुत्रा एक पुत्री थी। पिता की मृत्यु के पश्चात् इन्होंने स्वयं महिषादल राज्य में नौकरी कर ली किंतु बाइस वर्ष की आयु में पत्नी का देहांत हो जाने पर इन्होंने नौकरी छोड़ दी और स्वतंत्र रूप से साहित्य साधना करने लगे। निराला के विराट वपु में कोमल एवं भावुक हृदय विद्यमान था। वे उदार एवं दानी प्रकृति के थे।

निराला का जीवन अभावों तथा दुखों से परिपूर्ण था किंतु इन्होंने कभी किसी विपत्ति के समक्ष सिर नहीं झुकाया। अभावों एवं पीड़ाओं की तीव्र एवं मर्मांतक व्यथा को झेलते हुए भी ये साहित्य साधना में तल्लीन रहे। मगर कब तक कोई इस प्रकार जी सकता है? निराला मन और बुद्धि से तो संघर्षों की उपेक्षा करते हुए अविचलित रहे किंतु उनकी चेतना के भीतर जैसे कुछ टूट रहा था, घुल रहा था। उनके जीवन के अंतिम वर्ष जहां उनकी चेतना के अथक-अविचल संघर्ष की कहानी कहते हैं, वहां उनके जीवन की विपत्तियों और व्यथाओं की दुर्निवार शक्ति को भी व्यंजित करते हैं।

कृतित्त्व–काव्य–'अनामिका', 'परिमल', 'गीतिका', 'तुलसीदास', 'कुकुरमुत्ता', 'अणिमा', 'बेला', 'अपरा', 'नए पत्ते', 'अर्चना', 'आराधना', 'गीत कुंज', 'सांध्य काकली', 'राम की शक्ति पूजा', 'सरोज स्मृति', (शोक गीत)।

काव्य ग्रंथों के अतिरिक्त इन्होंने उपन्यास, कहानी, आलोचना एवं निबंध आदि के क्षेत्र में अपनी लेखनी चलाई है।

साहित्यिक विशेषताएं–निराला ने क्रांति एवं विरोध का स्वर मुखरित करते हुए समाज की व्यथा एवं वेदना को वाणी दी तथा विषमता से पीड़ित मानवता की छटपटाहट को अंकित किया है। उन्होंने 'विधवा' कविता में उसके हाहाकार तथा वेदना को मुखरित किया है। 'रानी और कानी' कविता द्वारा समाज पर करारा व्यंग्य किया है जहां कन्या के विवाह के समय उसके आंतरिक सौंदर्य को न देखकर बाह्य सौंदर्य एवं धन को प्रमुखता दी जाती है। प्रयोगवाद के जन्मदाताओं में निराला का प्रमुख स्थान है। स्वदेशाभिमान एवं राष्ट्र प्रेम की भावना अति ज्वलंत थी। निराला का प्रेम एवं सौंदर्य चित्रण अनुपम है। निराला छायावाद के प्रमुख चार स्तंभों में थे। अत: उनके काव्य में छायावादी प्रवृत्ति का मिलना स्वाभाविक है। प्रकृति का नर-नारी के रूप में चित्रण निराला काव्य में

हुआ है। 'जूही की कली' ऐसी ही कविता है। दर्शन तथा रहस्य भावना निराला में रामकृष्ण परमहंस तथा स्वामी विवेकानंद के दार्शनिक विचारों से आई। प्रकृति के अनेक रम्य एवं मनोहारी चित्र अंकित किए हैं।शृंगार, वीर, रौद्र, करुण आदि विभिन्न रसों का सुंदर परिपाक मिलता है। करुण रस का सुंदर स्वरूप 'सरोज स्मृति' में विद्यमान है।

महादेवी वर्मा

महादेवी का जन्म सन् 1907 में फर्रुखाबाद में हुआ। पिता का नाम गोविंद प्रसाद तथा माता का नाम श्रीमती हेमरानी था। पति का नाम रूपनारायण वर्मा था जिन्होंने इस शर्त पर अलगाव कर लिया था कि दोनों पुनः विवाह नहीं करेंगे। महादेवी वर्मा का मुख्य क्षेत्र काव्य है। उनकी गणना छायावादी कवियों की वृहत् चतुष्टयी में की जाती है। उनके काव्य में वेदना की प्रधानता है। काव्य के अतिरिक्त उनकी गद्य की श्रेष्ठ रचनाएं भी हैं। प्रयाग में साहित्यकार संसद की स्थापना करके साहित्यकारों का मार्ग दर्शन किया। ये कुशल चित्रकार भी थीं। नारी को अपनी स्वतंत्रता तथा अधिकारों के प्रति सजग किया। उनके रेखाचित्रों में गद्य का चित्रात्मक, भावमय एवं कवित्वपूर्ण रूप विद्यमान है। पीड़ित पशुओं, मानवों तथा पालतू जानवरों के प्रति विशेष लगाव था। 18 मई, सन् 1983 ई. में इन्हें उत्तर प्रदेश हिंदी संस्थान ने सर्वश्रेष्ठ कवयित्री के रूप में 'भारत भारती' पुरस्कार से सम्मानित किया और 'भागीरथी की प्रतिमा' भेंट की।

कृतित्त्व

काव्य–'नीरजा', 'नीहार', 'रश्मि', 'सांध्यगीत', 'दीप शिखा' एवं 'यामा'।

गद्य–'अतीत के चलचित्र', 'स्मृति की रेखाएं', 'पथ के साथी', 'मेरा परिवार', तथा 'शृंखला की कड़ियां'।

अनूदित–'सप्तपर्णा'।

साहित्यिक विशेषताएं–महादेवी को आधुनिक मीरा कहा जाता है। महादेवी वेदन की कवयित्री हैं। उनके काव्य में करुणा, सहानुभूति, नारी की करुण दशा तथा उसके प्रति संवेदना विद्यमान है। इनकी कविताओं में आरंभ से ही विस्मय, जिज्ञासा, व्यथा और आध्यात्मिकता के भाव मिलते हैं जो निरंतर प्रौढ़ एवं परिमार्जित होते गए हैं। महादेवी के सभी गीतों में अनुभूति और विचार के

धरातल पर एकान्विति मिलती है। इनके गीतों में व्यथा, पीड़ा, आशा, अज्ञात प्रिय के प्रति प्रणय निवेदन तथा साधना की विविध अनुभूतियों की प्रधानता है।

महादेवी का दुखवाद नैराश्य या कर्महीनता का प्रतिपादन नहीं करता है। महादेवी ने दुख की महत्ता मात्र वैयक्तिक जीवन के संदर्भ में स्वीकारी है। समष्टिगत जीवन के प्रसंग में वे अथक और अमर साधना में विश्वास करती हैं। वे अमरों के लोक की कामना नहीं करती हैं वे तो मात्र 'मिटने के अधिकार' को स्थायित्व प्रदान करने की आकांक्षिणी हैं।

महादेवी बौद्ध-दर्शन के प्रभाव को मात्र अपनी लोकमंगल विधायिनी पीड़ा की स्वीकृति तक सीमित स्वीकारती हैं। अन्यथा जहां तक सत्य के पारमार्थिक स्वरूप का संबंध है वे उपनिषदों की परंपरा को ही स्वीकारती हैं। 'दीपशिखा', 'बादल', 'निशा', 'मंदिर', 'दिव' आदि उनके प्रिय बिंब हैं। वे लोकोत्तर सत्ता को स्वीकारती हैं। यह उनकी रहस्यात्मक अनुभूति है, जो व्यष्टि तक सीमित न होकर समष्टि तक व्याप्त है। लोक कल्याण की यही भावना उनकी दृढ़ आस्था, अचल साधना, तथा आत्मबलिदान के रूप में गीतों में बिखरी हुई दृष्टिगोचर होती है।

सुमित्रा नंदन पंत

कविवर सुमित्रा नंदन पंत का जन्म सन् 1900 में ग्राम कौसानी, जनपद अल्मोड़ा, वर्तमान उत्तरराखंड में हुआ था। इनके पिता का नाम गंगा दत्त पंत तथा माता का नाम श्रीमती सरस्वती देवी था। सबसे छोटी संतान थे। जन्म देते ही इनकी माता कुछ घंटे बाद ही इनको छोड़कर चल बसीं जिसके परिणामस्वरूप अल्मोड़ा की प्राकृतिक सुषमा की गोद में पलने लगे तथा प्रकृति के उस मनोरंजक परिवेश का इनके व्यक्तित्त्व पर अत्यधिक प्रभाव पड़ा। पंत की प्रारंभिक शिक्षा गांव की पाठशाला में हुई। इसके पश्चात् अल्मोड़ा गवर्नमेंट हाईस्कूल में प्रविष्ट हुए। काशी के जय नारायण हाई स्कूल से स्कूल लीविंग की परीक्षा पास की। सन् 1916 ई. में क्योर सेन्ट्रल कॉलेज प्रयाग से एफ.ए. की परीक्षा उत्तीर्ण की। संस्कृत, अंग्रेजी तथा बंगला का अध्ययन किया। सन् 1950 में आल इंडिया रेडियो के परामर्शदाता नियुक्त हुए। सन् 1957 तक रेडियो से संबद्ध रहे। 'कला और बूढ़ा चांद' काव्य ग्रंथ पर साहित्य अकादमी पुरस्कार तथा 'लोकायतन' पर सोवियत भूमि पुरस्कार, 'चिदंबरा' पर भारतीय ज्ञानपीठ पुरस्कार मिला। भारत सरकार ने पंत को 'पद्म भूषण' की उपाधि से विभूषित किया। पंत

में यथार्थ के विषम एवं दारुण रूप के अभाव का कारण भी कुछ सीमा तक प्रकृति के उस प्रभाव को ही स्वीकारा जा सकता है। प्रकृति के प्रति प्रगाढ़ प्रेम ने इन्हें जीवन की नैसर्गिक व्यापकता तथा अनेक रूपता से पूर्ण रूपेण वंचित कर दिया।

कृतित्त्व–'गिरजे का घंटा', 'ग्रंथि', 'वीणा', 'पल्लव', 'गुंजन', 'युगांत', 'युगवाणी', 'ग्राम्या', 'उत्तरा', 'स्वर्ण किरण, 'स्वर्ण धूलि', 'अंतिमा', 'किरण, 'पतझर', 'एक भाव क्रांति', 'लोकायतन', 'कला और बूढ़ा चांद', 'चिदंबरा', 'गीत हंस' तथा 'रजत शिखर' आदि काव्य रचनाएं हैं।

साहित्यिक विशेषताएं–पंत के काव्य विकास के प्रथम सोपान में 'वीणा', 'ग्रंथि', 'पल्लव' और 'गुंजन' काव्य आते हैं। ये छायावादी प्रवृत्ति की प्रमुख रचनाएं हैं।

द्वितीय सोपान में पंत की तीन रचनाएं 'युगांत', 'युगवाणी' तथा 'ग्राम्या' आती हैं। इस काल में कवि पहले गांधीवाद से प्रभावित है। बाद में मार्क्सवाद अपनी ओर आकर्षित कर लेता है तथा अंत में वह प्रगतिवादी बन जाता है।

मार्क्सवाद की भौतिक स्थूलता कवि के मूल संस्कारी कोमल स्वभाव के विपरीत होने के कारण वह पुनः अंतर्जगत की ओर मुड़ जाता है। इस काल की प्रमुख रचनाएं 'स्वर्ण किरण', 'स्वर्ण धूलि', 'उत्तरा', 'अतिमा', 'कला और बूढ़ा चाँद', 'किरण', 'पतझर', 'एक भाव क्रांति' तथा 'गीत हंस' है। इस काल में कवि पहले विवेकानंद और रामतीर्थ से प्रभावित होकर बाद में अरविंद दर्शन से प्रभावित होता है। सन् 1955 ई. के बाद की पंत की कुछ रचनाओं 'कौवे', 'मेंढक' आदि पर प्रयोगवादी कविता का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। पंत छायावादी चार उन्नायकों में से एक हैं। वे अति सुकुमार एवं संवेदनशील कवि हैं। उन्हें 'प्रकृति का मंजुल-मसृण कवि' कहा जाता है। दर्शन की दृष्टि से वे सबसे अधिक स्वामी विवेकानंद एवं स्वामी रामतीर्थ के वेदांत संबंधी विचारों से प्रभावित हुए तथा अंत में उन पर अरविंद दर्शन का प्रभाव परिलक्षित होता है।

कवि पंत आदर्श प्रेमी रहे हैं। कवि की आदर्शवादी भावना निरंतर प्रबल होती गई है। यह आदर्शवादी भावना ही 'परिवर्तन' कविता में 'सर्ववाद' का रूप ग्रहण कर लेती है। कवि 'तिमिर त्रास' का निवारण करना चाहता है किन्तु प्रकृति प्रेम को - जो एक तरह से ठोस यथार्थ जीवन के प्रति आसक्ति की सीमा बन

जाता है - त्यागना भी नहीं चाहता है। 'पल्लव' की भूमिका में पंत ने भाषा, अलंकार, छंद, शब्द और भाव के सामंजस्य पर विचार व्यक्त किए हैं जिससे यह स्पष्ट होता है कि कवि भाषा प्रयोग के संबंध में कितना जागरूक है। पंत की शैली में लाक्षणिक वैचित्र्य, विशेषण विपर्यय, विरोध चमत्कार, मानवीकरण, प्रतीक विधान तथा अन्योक्ति विधान विद्यमान हैं। अनुभूति के प्रवाह एवं वेग के अनुरूप ही भाषा में प्रवाह एवं आवेश है।। 'ग्राम्य' आदि में उनकी भाषा शैली एवं भाव बोध प्रगतिवादी चेतना से प्रभावित हैं।

सुभद्रा कुमारी चौहान

सुभद्रा कुमारी चौहान का जन्म सन् 1905 में ग्राम, निहालपुर जनपद प्रयाग में हुआ था। इन्होंने प्रयाग में शिक्षा प्राप्त की। सन् 1921 ई. के असहयोग आंदोलन के परिणामस्वरूप शिक्षा अधूरी छोड़ दी तथा राजनीति में कूदकर सक्रिय कार्य कर्त्ती बन गई। अपने राजनीतिक कारणों से अनेक बार जेल की हवा खानी पड़ी। काव्य रचना की प्रवृत्ति विद्यार्थी जीवन से ही थी।

कृतित्त्व–'त्रिधारा', 'मुकुल', 'झांसी की रानी'।

साहित्यिक विशेषताएं–भाव की दृष्टि से इनकी कविताओं के दो वर्ग किए जा सकते हैं–

(i) **राष्ट्रप्रेम**- जिनमें इन्होंने असहयोग आंदोलन या स्वतंत्रता संग्राम में सम्मिलित होने वाले वीरों को अपनी कविता का विषय बनाया है। 'झांसी की रानी' कविता को सामान्य जनता में अत्यधिक ख्याति मिली है।

(ii) **पारिवारिक**- इस वर्ग में वे कविताएं आती हैं जिनके सृजन की प्रेरणा इन्हें अपने परिवार से प्राप्त हुई है। ऐसी कविताओं में कुछ कविताएं पति-प्रेम की पारिवारिक भावना से अनुप्राणित हैं एवं कुछ का संबंध संतान प्रेम से है। संतान के प्रति नैसर्गिक वात्सल्य की सहज एवं मार्मिक अभिव्यक्ति इनके काव्य में मिलती है। भाषा शैली भावानुरूप सरल एवं गत्यात्मक है।

सियाराम शरण गुप्त

स्वर्गीय राष्ट्र कवि मैथिलीशरण गुप्त के अनुज सियाराम शरण गुप्त (सन् 1895-1963 ई) का जन्म ग्राम चिरगांव, जनपद झांसी, उत्तर प्रदेश में हुआ था। शरीरिक रुग्नता एवं पारिवारिक दुखों ने इनके जीवन को अति दुखमय बना दिया था। सरसता एवं नम्रता इनमें कूट-कूट कर भरी हुई थी।

कृतित्त्व

काव्य–'मौर्य विजय', 'नकुल', 'अनाथ', 'दूर्वादल', 'विषाद', 'आर्द्रा', 'आत्मोत्सर्ग', 'पाथेय', 'मृणमयी', 'बापू', 'उन्मुक्त', 'दैनिकी', 'नोआखाली', 'जयहिंद', 'गोपिका' आदि काव्य कृतियां।

कविताएं–'इन्दु' एवं 'सरस्वती' में प्रकाशित।

अनूदित–'गीता संवाद' गीता का अनुवाद।

साहित्यिक विशेषताएं–गांधीवादी मूल्यों एवं विचारधारा से इनका सम्पूर्ण काव्य अनुप्राणित है। प्राचीन भारतीय आख्यानों से संबंधित रचनाओं में भी इन्हीं मूल्यों की प्रतिष्ठा करने के प्रयास दृष्टिगोचर होते हैं। विषय प्रतिपादन एवं अभिव्यंजना शैली की दृष्टि से इनकी रचनाओं पर द्विवेदी युगीन रचना पद्धति का प्रभाव परिलक्षित होता है। छायावाद की कुछ प्रवृत्तियों एवं विशेषताओं के साथ शैली भी छायावादी हो गई है। भाषा शैली में सरलता एवं स्पष्टता है।

जगन्नाथ प्रसाद 'मिलिंद'

जगन्नाथ प्रसाद मिलिंद का जन्म सन् 1907 ई. में हुआ। इनकी रचना सन् 1922-1936 के मध्य हुई थी।

कृतित्त्व–कविता संकलन- 'जीवन-संगीत' - में भारत के सांस्कृतिक गौरव, राष्ट्रीय चेतना तथा बलिदान की भावना व्यक्त करने वाली कविताओं का संकलन।

रामधारी सिंह दिनकर

कृतित्त्व–कविता संग्रह - रामधारी सिंह दिनकर का इसी शैली का कविता संग्रह 'रेणुका' है।

उदय शंकर भट्ट

उदय शंकर भट्ट का जन्म सन् 1898 में हुआ था।

कृतित्त्व–'तक्ष शिला' - आख्यान काव्य की गणना भी इसी काव्यधारा के अंतर्गत की जाती है। इस रचना का मुख्य अभीष्ट सांस्कृतिक सौंदर्य गुण गाथा की अभिव्यक्ति है।

बालकृष्ण शर्मा 'नवीन'

बालकृष्ण शर्मा नवीन का जन्म सन् 1897 में ग्वालियर में हुआ था। सन् 1917 ई. में हाई स्कूल की परीक्षा उत्तीर्ण कर कानपुर चले गए। जहां गणेश-शंकर ने इन्हें कॉलेज में प्रविष्ट करा दिया। किंतु सन् 1920 ई. में गांधी के आह्वान पर कॉलेज का अध्ययन त्याग कर राजनीति के सक्रिय कार्यकर्त्ता बन गए। अपने लंबे राजनीतिक जीवनकाल में अनेक बार जेल का सफर करना पड़ा। देश की स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् पहले लोक सभा फिर राज्य सभा के सदस्य हो गए।

कृतित्त्व

पत्रिकाएं- 'प्रभा', 'प्रताप' का संपादन।

कविता संग्रह- 'कुंकुम'।

काव्य–'उर्मिला', 'अपलक', 'रश्मिरेखा', 'क्वासि', 'विनोबा स्तवन', तथा 'हम विषपायी जनम के'।

साहित्यिक विशेषताएं–'उर्मिला' में नवीन ने उर्मिला के चरित्र के माध्यम से भारतवर्ष की प्राचीन आर्य संस्कृति के उज्ज्वल रूप को प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। कथानक को अपने परिवेश के यथार्थ से - भारतीय संस्कृति और ब्रिटिश साम्राज्यवाद के संघर्ष से संबद्ध करने के लिए नवीन ने कुछ प्रसंगों की अत्यंत कौशल पूर्वक संयोजना की है। नवीन की रचनाओं में प्रणय और राष्ट्रप्रेम दोनों भावों की सशक्त अभिव्यक्ति हुई है। प्रणय संबंधी रचनाओं में छायावादी प्रणय के समान स्वच्छंदता तथा प्रेम और मस्ती के काव्य-जैसी मार्मिकता दृष्टिगोचर होती है। इस रूप में नवीन को परवर्ती प्रेम और मस्ती के काव्य के अग्रदूत के रूप में स्वीकार किया जा सकता है। इनकी राष्ट्रीय-सांस्कृतिक कविताओं में अनुभूतियों का सीधा संबंध इनके जीवन के साथ है। देश की स्वतंत्रता तथा समाज की नवीन संरचना हेतु इन्होंने जो प्रबल साधना की थी वही साधना निश्छल और सहज शक्ति के साथ इनकी राष्ट्रीय रचनाओं में भी दृष्टिगोचर होती है। कविता का विषय अतीत की महिमा का गौरवगान, तत्कालीन भारतीय समाज की रुग्णावस्था के प्रति व्यथा एवं आक्रोश, भविष्य को अवतरित करने की कामना आदि हैं।

भगवती चरण वर्मा

भगवती चरण वर्मा का जन्म सन् 1903 ई. में हुआ। इनकी कविताएं सन् 1917 से 'प्रताप' में प्रकाशित होने लगीं थी। स्पष्ट हो जाता है कि चौदह वर्ष की आयु से ही काव्य सृजन प्रारंभ कर दिया था।

साहित्यिक विशेषताएं–इनकी अनुभूति दो रूपों में अभिव्यक्त हुई है–जिसमें पहला जहां ये अपनी मस्ती एवं फक्कड़पने में अपने विचारों को अभिव्यक्ति प्रदान करते हैं–

"हम दीवानों की क्या हस्ती,
हैं आज यहां कल कहां चले।"

ऐसी अनुभूतियां इन्हें नवीन के साथ खड़ा कर देती हैं। किन्तु ऐसी रचनाएं परिमाण में बहुत कम हैं।

दूसरा मुख्य रूप से इन्होंने समाज की विषमताओं से पराजित और संघर्ष से विरत एकाकी व्यक्ति की अनुभूतियों को ही अभिव्यक्ति प्रदान की है।

वर्मा की भाषा शैली सरल और स्पष्ट है। छायावादी शैली की तरह तत्सम शब्दों की प्रधानता, सूक्ष्मता या वक्रता के दर्शन नहीं होते हैं। खड़ी बोली कविता के एक नए मोड़ की सूचना देती है।

हरिवंश राय बच्चन

हरिवंश राय बच्चन का जन्म सन् 1907 में हुआ था इनका आरंभिक जीवन कष्टों एवं अभावों में बीता। एम.ए. तक की शिक्षा इलाहाबाद से प्राप्त करके पी.एच.डी. हेतु लंदन चले गए। लंदन से वापस आकर विदेश मंत्रालय में सेवारत हो गए। दिल्ली विश्वविद्यालय के स्नातकोत्तर महाविद्यालयों की हिंदी की सभाओं, गोष्ठियों एवं कवि सम्मेलनों में खूब जाते थे जहां 'मधुशाला' सुनाए बिना छुट्टी नहीं पाते थे। सेवा मुक्त होकर पुत्र अमिताभ बच्चन के साथ मुंबई में रहने लगे जहाँ इनकी सन् 2003 में मृत्यु हो गयी।

कृतित्त्व–'मधुशाला', 'मधुबाला', 'मधु कलश'।

साहित्यिक विशेषताएं–इनके काव्य संग्रहों में उमर खैयाम की रुबाइयों का प्रभाव परिलक्षित होता है। किंतु मधुशाला में डूबा हुआ कवि सामाजिक विषमता से अनजान नहीं है। इसमें एक ओर तो उद्दाम यौवन की लालसा को स्वीकारा है दूसरी ओर उसी स्तर पर सामाजिक संवेदना को भी मुखर करने

का सफल प्रयास किया है। परिणामस्वरूप कवि ठोस यथार्थ को पूर्ण रूपेण ग्रहण करने में सफल नहीं हो सका। जीवन की विषमताओं को सामान्य अनुभूति के स्तर पर समाधानित करने का यत्न उसके द्वारा अवश्य किया गया। भाषा की दृष्टि से बच्चन का महत्त्वपूर्ण योगदान है। उनके काव्य में सीधी और स्पष्ट अभिव्यक्ति का स्वरूप मिलता है। कह सकते हैं सरलता एवं स्पष्टता का जो रूप भगवती चरण वर्मा की भाषा का है उसी का विकसित रूप बच्चन की भाषा का है।

नरेंद्र नाथ शर्मा

नरेंद्र नाथ शर्मा का जन्म सन् 1913 ई. में हुआ।

कृतित्त्व–'प्रभात फेरी', 'प्रवासी गीत' तथा 'पलाशवन'।

साहित्यिक विशेषताएं–प्रणयी शर्मा को प्रेम और मस्ती ने प्रभावित अवश्य किया किंतु संयम और निष्ठा ने उन्हें प्रणय के उच्छवास में लड़खड़ाने नहीं दिया। क्योंकि उन्होंने देश के राजनीतिक जीवन में अत्यंत दृढ़ता एवं सक्रियता से प्रतिभाग किया तथा वे प्रणय को अधिक सहजता के साथ खुलकर व्यक्त कर सके। इनके कविता संकलन भाव प्रधान हैं जिनमें प्रणय के संयोग-वियोग मूलक प्रसंगों का सरल एवं प्रवाहमयी भाषा में चित्र खिंचा गया है।

इस काव्य धारा के अन्य कवियों में गोपाल सिंह नेपाली (जन्म सन् 1902 ई.), हृदय नारायण 'हृदयेश' (जन्म सन् 1905 ई.), हरिकृष्ण प्रेमी (जन्म सन् 1908 ई.) तथा रामेश्वर शुक्ल अंचल (जन्म सन् 1915 ई.) आदि के काव्यों में प्रणय और यौवन की मधुर अनुभूतियों के अनेकानेक मोहक और सरस चित्र मिलते हैं। कवि सम्मेलनों में रंग जमा देते थे। बाद में चलचित्रों के लिए गीत लिखने लगे। इनके गीत भाषा एवं भावभूमि की सरलता के कारण सामान्य जनता को तल्लीन एवं भाव-विभोर करने में समर्थ हैं।

इनकी कविताओं में प्रणय के अतिरिक्त करुणा की भी अभिव्यक्ति मिलती है। हरिकृष्ण प्रेमी की कविताओं में देश प्रेम के साथ-साथ प्रणय की तीव्रता एवं यौवन के उल्लास दृष्टिगोचर होते हैं। हृदयेश की रचनाओं में विविधता देखने को मिलती है। भाषा शैली सरलता के साथ छायावादी वक्रता का पुट भी प्रस्तुत कर देती है। अंचल की कविताओं में मांसल प्रणय की आवेशमयी अभिव्यक्ति मिलती हैं।

हास्य व्यंग्य की प्रवृत्ति

छायावाद युग में पर्याप्त मात्रा में हास्य व्यंग्यात्मक काव्य का सृजन किया गया है। 'मनोरंजन' के संवादक ईश्वरी प्रसाद इस युग के प्रमुख व्यंग्यकार हैं। तत्कालीन रचित हास्य कविताएं 'मतवाला', 'गोलमाल', 'भूत', 'मौजी', 'मनोरंजन' आदि पत्रिकाओं में प्रकाशित होती थीं।

ईश्वरी प्रसाद शर्मा

खड़ी बोली एवं ब्रजभाषा दोनों में रचनाएं उपलब्ध हैं।

कृतित्त्व–'चना चबेना'।

साहित्यिक विशेषताएं–शर्मा ने उस युग के साहित्यिक, सामाजिक एवं राजनीतिक दोषों का अन्वेषण किया और उनकी रचना के लिए अपनी पसंद की शैली का प्रयोग किया।

हरिशंकर शर्मा

इस धारा के वरिष्ठ कवि हैं।

कृतित्त्व–कोई कविता संकलन प्रकाशित नहीं हुआ है 'पिंजरापोल' तथा 'चिड़ियाघर' नामक गद्य रचनाओं में कुछ हास्य-व्यंग्यात्मक कविताएं एवं पैरोडियों को उसी में शामिल कर लिया गया है।

साहित्यिक विशेषताएं–सामाजिक, धार्मिक क्षेत्रों में व्याप्त पाखंड तथा भ्रष्टाचार पर इन्होंने करारा व्यंग्य किया है।

पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र'

छायावाद युग के व्यंग्यकारों में पांडेय बेचन शर्मा का विशेष स्थान है।

साहित्यिक विशेषताएं–व्यंग्य कविताओं एवं पैरोडियों में अत्यधिक नवीनता एवं निडरता विद्यमान है। वर्तमान समय में भी वह प्रभावोत्पादक हैं।

कृष्ण प्रसाद गौड़ 'बेढब बनारसी'

छायावाद युग में ही नहीं अपितु उसके बाद भी तत्कालीन सामाजिक, धार्मिक आचारव्यवहार से संबंधित बुराइयों के प्रति व्यंग्यविनोद लिखे हैं।

साहित्यिक विशेषताएं–उस समय व्यंग्य-विनोद की जो धारा प्रवाहित हुई वह अपनी व्यावहारिक भाषा-शैली के कारण और भी अधिक महत्त्व की

है। हास्य पुट वर्द्धन करने हेतु इन्होंने अंग्रेजी एवं उर्दू की शब्दावली का अधिक एवं निस्संकोच प्रयोग किया है। उपमा तथा वक्रोक्ति के माध्यम से व्यंग्य को प्रखर बनाने में इनको सिद्धहस्तता हासिल थी।

हास्य-व्यंग्य की रचना करने वाले अन्य कवियों में अन्नपूर्णानंद (महाकवि चच्चा), कांतानाथ पांडेय, 'चोंच' तथा शिवरत्न शुक्ल आदि भी उल्लेखनीय हैं।

अन्नपूर्णानंद

साहित्यिक विशेषताएं–अन्नपूर्णानंद ने पाश्चात्य सभ्यता एवं संस्कृति के भौंडे अनुकरण, समाज की कुरीतियों, रूढ़ियों की दासता, मानव स्वार्थ आदि से संबंद्ध विषयों को व्यंग्य का विषय बनाया तथा उच्च कोटि के व्यंग्य काव्यों रचनाएं प्रस्तुत की हैं।

कांतानाथ पांडेय 'चोंच'

कृतित्त्व–'चोंच चालीसा', 'पानी पांडे' तथा 'महाकवि सांड'।

साहित्यिक विशेषताएं–'पानी पांडे' एवं 'महाकवि सांड' में इनकी कुछ हास्य रसात्मक कहानियों का भी समावेश किया गया है। सामाजिक कुरीतियों को लक्ष्य बनाना इन्होंने शिक्षाप्रद व्यंग्य लेखन की नई पद्धति का प्रयोग किया है। बेढब बनारसी की भांति अंग्रेजी शब्दों के प्रयोग द्वारा हास्य की सृष्टि करने में इनको अपूर्व सफलता मिली है।

शिवरत्न शुक्ल

कृतित्त्व–'परिहास प्रमोद'

साहित्यिक विशेषताएं–शिव रत्न शुक्ल की विनोदपूर्ण रचनाएं भी अनायास मनमोह लेती थीं। छायावाद में इनकी कृतियां इनके उपनाम 'बलई' नाम से प्रकाशित होती थीं। समाज में फैले हुए अभिशापों पर व्यंग्य करने के साथ ही इन्होंने पथभ्रष्ट, स्वार्थी राजनीतिज्ञों को भी नहीं छोड़ा है। उन पर भी करारा प्रहार किया है।

अयोध्या सिंह उपाध्याय 'हरि औध'

कृतित्त्व–'चोखे चौपदे', 'चुभते चौपदे'।

चतुर्भुज 'चतुरेश' -

कृतित्त्व–'हंसी का फव्वारा'।

ज्वालाराम नागर 'विलक्षण'

कृतित्त्व–'छायापद' इसके अतिरिक्त स्फुट व्यंग्य कविता लिखने वालों में जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी, मोहन लाल गुप्त तथा श्रीनाथ सिंह आदि हैं।

छायावाद युग में समाज, धर्म, राजनीति आदि विविध क्षेत्रों से संबद्ध ऐसी अनेक हास-परिहासात्मक रचनाएं लिखी गईं, जिनमें हास्य की मुखरता और व्यंग्य की तीव्रता स्वाभाविक रूप में दृश्यमान है। इन हास्य-व्यंग्यों में छायावादी प्रवृत्तियां और विशेषताएं नहीं मिलती हैं, क्योंकि विषय की सामान्य सहजता के कारण ये रचनाएं शैली, विचार संरचना आदि की दृष्टि से सामान्य ही स्वीकार की जानी चाहिए।

माखन लाल चतुर्वेदी

माखन लाल चतुर्वेदी का जन्म सन् 1889 में ग्राम बाबई, जनपद होशंगाबाद, मध्य प्रदेश में हुआ था। इनके पिता गांव में स्कूल के अध्यापक थे इसलिए इनकी आरंभिक शिक्षा वही हुई। ये सजग, उत्साही एवं संवेदनशील थे। देश की दशा के प्रति आरंभ से ही जागरुक थे। इन पर सैयद अमीर अली 'मीर' स्वामी रामतीर्थ तथा माधव राव सप्रे का विशेष प्रभाव पड़ा था। वैष्णव-संस्कार तो इन्हें अपने परिवार से ही मिले थे। आरंभ में क्रांति-दर्शन से प्रभावित हुए थे किंतु बाद में इनकी आस्था गांधीवाद की ओर हो गई। राजनीतिक सक्रियता के कारण कई बार जेल की यात्राएं कीं।

कृतित्त्व–'हिम किरीटिनी', 'हिमतरंगिनी', 'माता', 'युग चरण', 'समर्पण', 'वेणु लो गूंजे धरा' आदि कविता संग्रह।

पत्रिका- '-कर्मवीर' का संपादन।

साहित्यिक विशेषताएं–इनकी रचनाओं में देश के प्रति गंभीर प्रेम और देश के लिए कल्याणकारी भावना हेतु आत्मोत्सर्ग की उत्कट भावना के दर्शन होते हैं। इस मार्ग पर चलने वाले पथिक को तभी सफलता मिल सकती है जब यह जीवन के सुख और वैभव को ठुकराकर संघर्ष और साधना का मार्ग अपनाए। इन्होंने भारतवासियों को संघर्ष और साधना के मार्ग का पथिक बनने हेतु प्रेरित किया है। इनकी कई रचनाओं विशेषकर आरंभिक रचनाओं में आध्यात्मिकता को अभिव्यक्ति मिली है।

रामनरेश त्रिपाठी

द्विवेदी युगीन राम नरेश त्रिपाठी का जन्म सन् 1889 में ग्राम कोइरीपुर, जनपद जौनपुर में हुआ था। इनकी प्रारंभिक शिक्षा गांव की पाठशाला में ही हुई। अंग्रेजी अध्ययन हेतु जौनपुर के स्कूल में प्रवेश लिया किंतु नौवीं कक्षा तक ही पढ़ पाए। कविता के प्रति इनकी रुचि बचपन से ही थी। गांव के प्रधानाचार्य ब्रजभाषा में काव्य सृजन करते थे। उनसे प्रभावित होकर ये भी समस्यापूर्ति करने में लाए गए। 'सरस्वती' पत्रिका के प्रभावस्वरूप खड़ी बोली में लिखने लगे।

कृतित्त्व–'मानसी', 'पथिक', 'स्वप्न' (खंड काव्य)।

साहित्यिक विशेषताएं–अपने खंड काव्यों में परोक्ष रूप से परतंत्रता के बंधन काटने का संदेश दिया है। अनेक कविताओं में पशुबलि की अवहेलना करते हुए निडर होकर स्वतंत्रता के मार्ग का अनुगामी बनने हेतु प्रेरित किया गया है। देशभक्ति की कविताएं भी लिखी हैं। काल्पनिक कथाओं के माध्यम से देशोद्धार हेतु आत्मोत्सर्ग की भावना की अभिव्यक्ति की गई है। इन खंड काव्यों के नायक सामान्य जनता के प्रतिनिधि हैं। 'पथिक' का नायक जनता की विषमता का निवारण करने हेतु राजतंत्र का डटकर सामना करता है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए अंत में उसे अपने परिवार सहित बलिदान देना पड़ता है। 'स्वप्न' में कवि ने संवेदनशील नायक का चयन किया है, जो पहले स्वार्थ - लोकसेवा अथवा वैयक्तिक सुख - लोकहित को एक-दूसरे का विरोधी मानता था किंतु कर्त्तव्य का बोध हो जाने पर देश कल्याण हेतु तन-मन-धन से दत्त-चित्त होकर लग जाता है। 'पथिक' के विपरीत यह सुखांत काव्य है। इन दोनों काव्यों के द्वारा कवि ने राष्ट्र सेवा के आदर्श की स्थापना की है तथा समाज का विरोध करने वाली शक्तियों के प्रति विद्रोही प्रवृत्ति को बढ़ावा दिया है।

7

हिन्दी गद्य साहित्य का अद्यतन काल

इस काल में गद्य का चहुंमुखी विकास हुआ। पं हजारी प्रसाद द्विवेदी, जैनेन्द्र, अज्ञेय, यशपाल, नंददुलारे वाजपेयी, नगेंद्र, रामवृक्ष बेनीपुरी तथा डा रामविलास शर्मा आदि ने विचारात्मक निबंधों की रचना की है। हजारी प्रसाद द्विवेदी, विद्यानिवास मिश्र, कन्हैयालाल मिश्र प्रभाकर, विवेकी राय, और कुबेरनाथ राय ने ललित निबंधों की रचना की है। हरिशंकर परसाई, शरद जोशी, श्रीलाल शुक्ल, रवींन्द्रनाथ त्यागी, तथा के पी सक्सेना, के व्यंग्य आज के जीवन की विद्रूपताओं के उद्घाटन में सफल हुए हैं। जैनेन्द्र, अज्ञेय, यशपाल, इलाचंद्र जोशी, अमृतलाल नागर, रांगेय राघव और भगवती चरण वर्मा ने उल्लेखनीय उपन्यासों की रचना की। नागार्जुन, फणीश्वर नाथ रेणु, अमृतराय, तथा राही मासूम रजा ने लोकप्रिय आंचलिक उपन्यास लिखे हैं। मोहन राकेश, राजेन्द्र यादव, मन्नू भंडारी, कमलेश्वर, भीष्म साहनी, भैरव प्रसाद गुप्त, आदि ने आधुनिक भाव बोध वाले अनेक उपन्यासों और कहानियों की रचना की है। अमरकांत, निर्मल वर्मा तथा ज्ञानरंजन आदि भी नए कथा साहित्य के महत्त्वपूर्ण स्तंभ हैं। प्रसादोत्तर नाटकों के क्षेत्र में लक्ष्मीनारायण लाल, लक्ष्मीकांत वर्मा, तथा मोहन राकेश के नाम उल्लेखनीय हैं। कन्हैयालाल मिश्र प्रभाकर, रामवृक्ष बेनीपुरी तथा बनारसीदास

चतुर्वेदी आदि ने संस्मरण रेखाचित्र व जीवनी आदि की रचना की है। शुक्ल जी के बाद पं हजारी प्रसाद द्विवेदी, नंद दुलारे वाजपेयी, नगेन्द्र, रामविलास शर्मा तथा नामवर सिंह ने हिंदी समालोचना को समृद्ध किया। आज गद्य की अनेक नयी विधाओं जैसे यात्रा वृत्तांत, रिपोर्ताज, रेडियो रूपक, आलेख आदि में विपुल साहित्य की रचना हो रही है और गद्य की विधाएं एक-दूसरे से मिल रही हैं।

अद्यतन काल का हिन्दी नाटक

प्रसादोत्तर-युगीन नाटक अधिकाधिक यथार्थ की ओर उन्मुख दिखाई पड़ते हैं। परन्तु भारत के सामने एक विशिष्ट उद्देश्य था राष्ट्र की स्वाधीनता की प्राप्ति और विदेशी शासकों के अत्याचारों से मुक्ति प्राप्त करना, फलस्वरूप व्यापक स्तर पर पुनरुत्थान एवं पुनर्जागरण की लहर फैल गई। इस समूचे काल में पुनर्जागरण की शक्तियों का प्रभाव होने के कारण चेतना के स्तर पर भावुक, आवेशात्मक, आदर्शवादी, प्रवृत्तियों से आक्रांत होना नाटककारों के लिए स्वाभाविक था। यही कारण है कि प्रसादोत्तर काल तक किंचित परिवर्तनों के साथ सभी रचनाकारों की दृष्टि मूलत: आस्था, मर्यादा एवं गौरव के उच्चादर्शों से मंडित रही। भारतेन्दु ने अपनी अद्‌भुत व्यंग्यशक्ति एवं समाज-विश्लेषण की पैनी दृष्टि से सामाजिक यथार्थ का चित्रण किया परन्तु उनकी मूल चेतना सुधारवादी आग्रहों का परिणाम होने के कारण आस्थामूलक थी। द्विवेदी युग में भी दो दशकों के अनवरत साहित्यिक अनुशासन आदर्शवादी मर्यादा एवं नैतिकता के कठोर बन्धन के कारण यथार्थ के स्वर मद्दम पड़ गए। प्रसाद युगीन नाटकों की मूलधारा भी राष्ट्रीय एवं सांस्कृतिक आदर्श चेतना से सम्बन्धित थी परन्तु खल पात्रों की चारित्रिक दुर्बलताओं तथा सद् पात्रों की जीवन चरित्र-सृष्टि में यथार्थ चेतना को नकारा नहीं जा सकता। 19वीं शताब्दी में पश्चिमी नाट्य साहित्य में इब्सन् एवं शॉ द्वारा प्रवर्तित यथार्थवादी नाट्यान्दोलन ने भारतीय नाट्य साहित्य की गतिविधियों को भी प्रेरित एवं प्रभावित किया। लक्ष्मी नारायण मिश्र ने समस्या नाटकों का सूत्रपात करके बुद्धवादी यथार्थ को प्रतिष्ठित करने का दावा किया है। परन्तु सिद्धांत एवं प्रयोग में पर्याप्त अन्तर पाते हुए हम देखते हैं कि एक ओर वैचारिक धरातल पर प्रकृतवाद सुलभ जीवन के क्रांतिव्यंजक सम्बन्ध उभरते हैं, वहीं दूसरी ओर समाधान खोजते हुए परम्परा के प्रति भावुकता-सिक्त दृष्टि भी पाई जाती है। 'भावात्मकता और बौद्धिकता' का घपला होने के कारण उनके नाटकों का मूल स्वर यथार्थ से बिखर जाता है। स्वतंत्रता प्राप्ति से पूर्व अन्य युगीन सामाजिक

समस्याओं के साथ राष्ट्र की मुक्ति का प्रश्न सभी नाटककारों की चेतना पर छाया हुआ था। स्वाधीन भारत से उन्हें अनेक प्रकार की मीठी अपेक्षाएं थीं, परन्तु विडम्बना यह है कि स्वाधीनता प्राप्ति के बाद जीवन समस्याओं से आक्रांत, बोझिल और जटिल हो उठा। परिवेश के दबाव से ही यथार्थ बोध की शुरूआत हुई।

लक्ष्मीनारायण मिश्र ने अपने नाटक का लेखन प्रसाद-युग में ही प्रारम्भ किया था। उनके अशोक (1927), संन्यासी (1829), 'मुक्ति का रहस्य' (1932), राक्षस का मन्दिर (1932), 'राजयोग' (1934), सिन्दूर की होली (1934), 'आधी रात' (1934) आदि नाटक इसी काल के हैं। किन्तु मिश्र जी के इन नाटकों में भारतेन्दु और प्रसाद की नाट्यधारा से भिन्न प्रवृत्तियां दृष्टिगोचर होती हैं। जैसा कि पहले संकेत किया जा चुका है कि भारतेन्दु और प्रसाद-युग के नाटकों का दृष्टिकोण मूलतः राष्ट्रीय और सांस्कृतिक था। यद्यपि इस युग के नाटकों में आधुनिक यथार्थवादी धारा का प्रादुर्भाव हो चुका था। तथापि प्राचीन सांस्कृतिक आदर्शों के द्वारा राष्ट्रीयता का उद्घोष इस युग के नाटककारों का प्रमुख लक्ष्य था। अतः उसे हम सांस्कृतिक पुनरुत्थान की दृष्टि कह सकते हैं, जिनमें प्राचीन सांस्कृतिक मूल्यों और नयी यथार्थवादी चेतना में समन्वय और सन्तुलन परिलक्षित होता है। मिश्र जी नयी चेतना के प्रयोग के अग्रदूत माने जाते हैं। डॉ. विजय बापट के मतानुसार नयी बौद्धिक चेतना का विनियोग सर्वप्रथम उन्हीं के तथाकथित समस्या नाटकों में मिलता है। इस बौद्धिक चेतना और वैज्ञानिक दृष्टि का प्रादुर्भाव बीसवीं शताब्दी में पश्चिमी चिन्तकों के प्रभाव से हुआ था। डारविन द्वारा प्रतिपादित विकासवादी सिद्धान्त, फ्रायड के मनोविश्लेषण सिद्धान्त और मार्क्स के द्वन्द्वात्मक भौतिकतावादी सिद्धान्तों ने यूरोप को ही नहीं, भारतीय जीवन पद्धति को भी प्रभावित किया जिसके फलस्वरूप जीवन में आस्था और श्रद्धा की बजाय तर्क को प्रोत्साहन मिला। पश्चिम में इस प्रकार की बौद्धिक चेतना ने समस्या नाटक को जन्म दिया। उन्हीं की प्रेरणा से मिश्र जी ने भी हिन्दी नाटकों में भावुकता, रसात्मकता और आनन्द के स्थान पर तर्क और बौद्धिकता का समावेश किया। साथ ही द्रष्टव्य है कि बुद्धवादी दृष्टिकोण अपनाते हुए भी वे परम्परा-मोह से मुक्त नहीं हो पाए। युगीन मूल्यगत अन्तर्विरोधी चेतना समान रूप से उनके प्रत्येक नाटकों में देखी जा सकती है। इनके नाटकों का केन्द्रीय विषय स्त्री-पुरुष सम्बन्ध एवं सेक्स है। राष्ट्रोद्धार, विश्व-प्रेम आदि के मूल में भी मिश्र जी ने काम भावना को ही रखा है, जो परितृप्ति के अभाव में

अपनी दमित वृत्ति को देश सेवा आदि के रूप में अभिव्यक्त करती है और प्राय: इस प्रकार परितृप्ति' के साधन जुटा लेती है।

मिश्र जी के नाटकों के साथ हिन्दी-नाटक के विषय और शिल्प दोनों में बदलाव आया है। मिश्र जी के सभी नाटक तीन अंकों के हैं। इनमें इब्सन की नाट्य पद्धति का अनुसरण कर किसी भी अंक में बाह्यत: कोई दृष्य विभाजन नहीं रखा गया है यद्यपि दृष्य-परिवर्तन की सूचना यत्र-तत्र अवश्य दे दी जाती है। प्रेम, विवाह और सेक्स के क्षेत्र में विघटित जीवन मूल्यों की अभिव्यक्ति के लिए मिश्र जी ने शिल्पगत नवीनता को अपनाया है। पात्र समस्या के सम्बन्ध में तर्कमूलक वाद-विवाद करते हुए दिखाई देते हैं। कार्य-व्यापार के अभाव से इनके नाटकों में रुक्षता आ गई। जिसके फलस्वरूप प्रभावान्विति खण्डित हो गई। रसात्मकता, प्रभावन्विति के स्थान पर बौद्धक आक्रोश और उत्तेजना ही इनके नाटकों में प्रधान है। लेकिन भावुकता के कारण इनके नाटकों का शिल्पगत गठन प्रभावित हुआ है। इस अन्तर्विरोध के रहते हुए भी इनके नाटक अकलात्मक नहीं कहे जा सकते।

उपेन्द्रनाथ 'अश्क' उन नाटककारों में हैं जिन्होंने प्रसादोत्तर काल में नाट्य परम्परा को निर्भीक और बुनियादी यथार्थ की मुद्रा प्रदान की। काल-क्रम के अनुसार उनके प्रमुख नाटक हैं : 'जय-पराजय' (1937), स्वर्ग की झलक' (1938), 'छठा बेटा' (1940), 'कैद' (1943-45), 'उड़ान' (1943-45), 'भंवर' (1943), 'आदि मार्ग' (1950), 'पैतरे' (1952), 'अलग-अलग रास्ते' (1944-53), 'अंजो दीदी' (1953-54), 'आदर्श और यथार्थ' (1954) आदि। अश्क के प्राय: सभी नाटकों में विकसित नाट्य-कला के दर्शन होते हैं। वस्तु-विन्यास की दृष्टि से इनके नाटक सुगठित, स्वाभाविक, सन्तुलित एवं चुस्त बन पड़े हैं। उच्च मध्य वर्गीय समाज की रुढ़ियों, दुर्बलताओं, उनके जीवन में व्याप्त 'कृत्रिमता', दिखावे और ढोंग का पर्दाफाश करना उनके नाटकों का मूलभूत कथ्य है। यह कथ्य समाज के स्थूल यथार्थ से सम्बन्धित है। कथ्य की स्थूलता और सतही प्रगतिशील यथार्थवादिता ही अश्क के नाटकों की सीमा है, तथापि स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्ति के सम्मोहन से हिन्दी नाटक को मुक्त करने का श्रेय भी उन्हीं को प्राप्त है। उनकी विशेषता इस बात में है कि उन्होंने जीवन और समाज को एक आलोचक की दृष्टि से देखा है। इनके अनेक नाटक मंचित तथा रेडियो पर प्रसारित हो चुके हैं। इनका योगदान हिन्दी नाटक और रंगमंच के लिए एक विशेष उपलब्धि है।

आलोच्य-युग में कुछ पुराने खेमे के नाटककार यथा : सेठ गोविन्ददास, लक्ष्मी नारायण मिश्र, हरिकृष्ण प्रेमी, गोविन्द वल्लभ पंत, उदयशंकर भट्ट, जगन्नाथ प्रसाद 'मिलिन्द' आदि भी नाट्य साहित्य को समृद्ध करते रहे। सेठ गोविन्ददास के 'कर्ण' (1942), शशि गुप्त (1942) आदि पौराणिक नाटकों और 'हिंसा और अहिंसा' (1940), सन्तोष कहाँ (1941) आदि सामाजिक नाटकों की रचना की। हरिकृष्ण प्रेमी के 'छाया' (1941) और बन्धक (1940), सामाजिक नाटक हैं। दोनों नाटकों में आर्थिक शोषण एवं विषमता का यथार्थ मुखरित है। ऐतिहासिक नाटकों में 'आहुति' (1940), स्वप्नभंग (1940), विषपान (1945), साँपों की सृष्टि, उद्धार आदि उल्लेखनीय हैं। 'अमृत-पुत्री' (1978), नवीनतम ऐतिहासिक नाटक हैं। गोबिन्द वल्लभ पंत ने आलोच्य युग में 'अन्तःपुर का छिद्र (1940), 'सिन्दूर बिन्दी' (1946) और 'ययाति' (1951) नाटकों की रचना की। पन्त जी ने 'कला के लिए कला' की भावना से प्रेरित होकर नाटकों की रचना अवश्य की है, किन्तु उनके नाटक उद्देश्य से रहित नहीं हैं। उन्होंने जीवन की गहरी उलझनों एवं समस्याओं को बड़ी सूक्ष्मता से चित्रित किया है। पंत ने यद्यपि प्रसाद-युग की परम्परा का निर्वाह किया है, किन्तु उनके परवर्ती नाटकों में सामाजिक चेतना अधिकाधिक मुखर होती गई है। लक्ष्मीनारायण मिश्र ने 'गरुड़ध्वज' (1945), 'नारद की वीणा', 'वत्सराज' (1950) 'दशाश्वमेघ (1950), 'वितस्ता की लहरें' (1953), 'जगदगुरु', चक्रव्यूह (1953), कवि भारतेन्दु (1955), 'मृत्युञ्ज्य' (1958) चित्रकूट, अपराजित, धरती का हृदय आदि नाटकों की रचना की। सभी नाटकों में वर्तमान युग के शिक्षित व्यक्तियों की समस्याओं, उनकी संशयात्मक मनः स्थिति, उनकी कुंठाओं और मानसिक विकृतियों का स्वाभाविक और मनोविश्लेषणात्मक चित्रण किया गया है। उदयशंकर भट्ट के नाटकों में 'राधा' (1961), 'अन्तहीन-अन्त' (1942) 'मुक्तिपथ' (1944) 'शक विजय' (1949), कालीदास (1950) 'मेघदूत' (1950), विक्रमोर्वशी (1950), 'क्रांतिकारी' (1953), 'नया समाज' (1955), पार्वती (1962), मत्स्यगंधा (1976), आदि हैं। भट्ट जी के ऐतिहासिक और पौराणिक नाटकों की मूल प्रेरणा राष्ट्रीयता है। इसमें इतिहास और मिथक के बीच में यथार्थ और समस्या का अहसास भी दिखाई देता है। सामाजिक नाटकों के माध्यम से भट्ट जी ने वर्तमान जीवन के व्यक्तिगत एवं समाजगत संघर्षों एवं समस्याओं का यथार्थ चित्रण किया है। जगन्नाथप्रसाद मिलिन्द का 'समर्पण' (1950) और 'गौतम नन्द' (1952) ख्याति प्राप्त रचनाएं

हैं। इनके अतिरिक्त कई अन्य साहित्यकारों ने भी नाटक के क्षेत्र में अवतरण किया, किन्तु उन्हें विशेष सफलता नहीं मिली। इनमें बैकुण्ठनाथ दुग्गल, वृन्दावनलाल वर्मा, सीताराम चतुर्वेदी, चतुरसेन शास्त्री, जगन्नाथ प्रसाद मिलिन्द आदि उल्लेखनीय हैं।

इसी काल में स्वतंत्रता के बाद हिन्दी नाटक में परिवर्तन की एक नई स्थिति दिखाई देती है। प्रसादोत्तर नाटक के पहले चरण में यथार्थवादी प्रवृत्ति से अनुप्राणित हुआ और उसके साथ ही समस्यामूलक नाटक का आविर्भाव हुआ। किन्तु स्वतंत्रता के बाद सामाजिक यथार्थ और समस्या के प्रति जागरुकता के साथ-साथ नाटक के क्षेत्र में कथ्य और शिल्प के कई नए आयाम उभरे। इसके अतिरिक्त स्थूल यथार्थ के प्रति नाटककार के दृष्टिकोण में भी अन्तर आया।

युगीन परिवेश के ऐतिहासिक संदर्भों में पाँचवें दशक तक जीवन के समस्या संकुल होने पर भी आम जनता की स्थिति में सुधार और परिवर्तन आने की अभी धुँधली-सी आशा दिखाई दे रही थी परन्तु छठे दशक के बाद से मीठे मोहक सपने वालू की भीत की भांति ढह गए, परिवेश का दबाव बढ़ा, मोहासक्ति भंग हुई और आज परिवेशगत यथार्थ अधिक नंगा होकर सामने आ रहा है। यथार्थ बोध का सही अभिप्राय मोहभंग की इस प्रक्रिया से ही जोड़ा जा सकता है। जगदीश चन्द्र माथुर, लक्ष्मी नारायण लाल आदि नाटककारों ने अपनी ऐतिहासिक एवं सामाजिक रचनाओं द्वारा कुछ सीमाओं के साथ यथार्थ दृष्टि का परिचय दिया। 'जगदीशचन्द्र माथुर' के चार नाटक प्रकाशित हुए हैं– 'कोणार्क' (1954), 'पहला राजा' (1969), शारदीया तथा 'दशरथनन्दन'। इन नाटकों में क्रमशः मार्क्स एवं फ्रायड के प्रभावसूत्रों को आत्मसात करते हुए छायावादी रोमानी कथास्थितियों की सृष्टि करने में माथुर की दृष्टि यथार्थवादी एवं आदर्शवादी, कल्पना तथा स्वच्छन्दतावादी भावुकता को एक साथ ग्रहण करती है। परिणामतः उनके नाटकों में अन्तर्निहित समस्याएं जीवन के यथार्थ को व्याख्यायित करते हुए भी यथार्थवादी कलाशिल्प में प्रस्तुत नहीं हुई हैं। समस्याओं का विश्लेषण एवं विकास बौद्धक एवं तार्किक क्रिया द्वारा प्रेरित नहीं है। कोणार्क में कलाकार एवं सत्ता के संघर्ष की समस्या धर्मपद के तार्किक उपकथनों के माध्यम से विश्लेषित हुई हैं। परन्तु 'शारदीया' एवं 'पहला-राजा' की समस्याएं प्रगतिशील एवं ह्रासशील मूल्यों के संघर्ष की भूमि पर अवतरित होते हुए भी बौद्धक एवं तार्किक प्रक्रिया के अभाव में यथार्थवादी कला की दृष्टि से हमारी चिन्तन शक्ति को उद्‌बुद्ध नहीं करती क्योंकि माथुर का विशेष बल आन्तरिक

अनुभूतियों एवं मानवीय संवेदना को जगाने पर है। फलस्वरूप उन्होंने काव्यात्मकता एवं रसोत्कर्ष के साधनों का सहारा लिया है। अपनी विचारधारा के अनुरूप ही जगदीश चंद्र माथुर ने नाटकीय कला को संस्कृत एवं लोकनाट्य तथा यथार्थवादी मंच की विशेषताओं से अभिमंडित किया है। काव्य-तत्त्व, अलंकरण एवं रस परिपाक से सम्बन्धित तत्त्व उन्होंने संस्कृत नाटकों से ग्रहण किए हैं। संघर्ष, अन्तर्द्वन्द्व का तत्त्व पाश्चात्य यथार्थवादी नाटक शिल्प का प्रभाव है। संक्षेप में, एक ऐसे मंच की परिकल्पना पर उनका ध्यान केन्द्रित रहा है, जो बहुमुखी हो, एक ही शैली में सीमित नहीं हो, भिन्न-भिन्न सामाजिक आवश्यकताओं और चेतनाओं का परिचायक हो।

स्वतंत्रता के बाद हिन्दी नाटक ने पाश्चात्य प्रभाव से जो नये आयाम ग्रहण किए उनकी प्रथम अभिव्यक्ति धर्मवीर भारती के 'अन्धायुग' में प्रकट हुई है। पश्चिम में दो महायुद्धों के बाद नाटक के क्षेत्र में कथ्य और शिल्प के अनेक प्रयोग हुए। इसके साथ ही युद्ध की परिस्थितियों के कारण जीवन मूल्यों में भी जो बड़ा भारी परिवर्तन आया उसकी अभिव्यक्ति भी नाटक में हुई। भारत में समानान्तर सामाजिक परिस्थिति तो नहीं आई किन्तु पश्चिम की विचारधारा का उस पर प्रभाव पड़े बिना न रहा। नई कविता और नई कहानी उससे अनुप्राणित थी ही, हिन्दी नाटक को भी उससे एक दिशा मिली। ऐसी स्थिति में आधुनिक भाव-बोध को उजागर करने का प्रयास हुआ और धर्मवीर भारती, लक्ष्मी नारायण लाल, मोहन राकेश आदि नाटककारों ने उसमें महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई।

डॉ. धर्मवीर भारती के 'अन्धा युग' (1955) गीति-नाटक ने हिन्दी गीत नाट्य-परम्परा को एक नया मोड़ दिया है। इसमें नाटककार ने महाभारत के युद्ध को अनीति, अमर्यादा और अर्द्ध-सत्य से युक्त माना है। इसीलिए उन्होंने इस काल को अन्धायुग कहा है। इस नाटक में मिथकीय पद्धति द्वारा विगत और आगत का समन्वय कर, निरन्तरता में आस्था उत्पन्न करने का सघन प्रयास 'भारती' ने किया है। इसमें अस्तित्त्ववादी दर्शन की स्पष्ट झलक मिलती है। 'अन्धायुग' के अतिरिक्त सुमित्रानन्दन पन्त के 'रजतशिखर', 'शिल्पी' और 'सौवर्ण' में संगृहीत गीतिनाट्य, गिरजाकुमार माथुर का 'कल्पान्तर', सृष्टि की सांझ और अन्य काव्य-नाटक' में संगृहीत सिद्धान्त कुमार के पांच गीतिनाट्य-सृष्टि की साँझ, लोह देवता, संघर्ष, विकलांगों का देश और बादली का शाप तथा दुष्यन्तकुमार के गीतिनाटक 'एक कण्ठ विषपायी' (1963) आदि भी विशेष उल्लेखनीय हैं। डॉ. लक्ष्मी नारायण लाल के हैं : 'अन्धा कुआँ' (1955), 'मादा

कैक्टस' (1959), 'तीन आँखों वाली मछली' (1960), 'सुन्दर रस', 'सूखा सरोवर' (1960), रक्त कमल (1961), 'रात रानी' (1962), 'दर्पण' (1963)' 'सूर्यमुख' (1968), 'कलंकी', 'मिस्टर अभिमन्यु' (1971), 'कर्फ्यू' (1972) आदि। 'अन्धा कुआँ' में आर्थिक संघर्ष के कारण उत्पन्न ग्राम्य-जीवन के सामाजिक और पारिवारिक द्वन्द्व का चित्रण है। 'मादा कैक्टस', 'सुन्दर रस', 'सूखा सरोवर' और 'रक्त कमल' उनके प्रतीक नाटक हैं। 'तोता मैना' नाटक टेकनीक के नये प्रयोगों को प्रस्तुत करता है। यह नाटक लोकवृत्त पर आधारित है। 'दर्पण' और 'रातरानी' समस्या नाटक हैं। दर्पण में मनुष्य को अपने वास्तविक रूप की तलाश में भटकते हुए दिखाया गया है। 'कलंकी' नाटक में अनेक जटिल प्रश्नों यथा सक्रांति कालीन लोकचेतना को प्रस्तुत करना, आज के समय में भी कर्मकाण्ड, अन्धविश्वास, देखना, यथार्थ का सामना करने से कतराना आदि को लोकरंगमंचीय संस्कृति, अभिव्यंजनावादी नाट्य-संरचना में प्रस्तुत किया गया है। 'सूर्य-मुख' में महाभारत-युद्ध के बाद की घटना ली गयी है। इस नाटक पर 'अन्धायुग' और 'कनुप्रिया' की स्पष्ट छाप है। 'मिस्टर अभिमन्यु' और 'कर्फ्यू' आधुनिक जीवन की संवेदना को लेकर लिखे गये विचारोत्तेजक नाटक हैं। डॉ. लाल अपने चारों ओर के परिवेश और युग जीवन के प्रति सजग हैं। उनका लक्ष्य समाज की विरुपता को संयम और तर्क के साथ चित्रित कर समाज को बदलते जीवन-मूल्यों और नैतिक मानदंडो से अवगत कराना है।

हिन्दी नाटकों में क्रांतिकारी परिवर्तन लाकर 'मोहन राकेश' ने एक नये युग की स्थापना की है। उनका 'आषाढ़ का एक दिन' (1956), 'लहरों के राजहंस (1963) तथा 'आधे-अधूरे' (1969) नाटक निश्चय ही ऐसे आलोक स्तम्भ हैं, जो सुदूर भविष्य में भी हिन्दी-नाटक को एक नवीन गति-दिशा प्रदान करते रहेंगे। मानवीय सम्बन्धों में विघटन के कारण टूटते हुए व्यक्ति के आभ्यंतर यथार्थ का चित्रण करना इन नाटकों का केन्द्रीय कथ्य एवं मूल स्वर है। 'आषाढ़ का एक दिन' कवि कालिदास और उसकी बाल-संगिनी मल्लिका के प्रेम और संघर्ष की कथा पर आधारित है। कालिदास अपने परिवेश एवं मल्लिका से कट जाने के कारण जीवन के नये अर्थ की तलाश में निकल पड़ता है। 'लहरों के राजहंस' अश्वघोष के प्रसिद्ध महाकाव्य 'सौन्दरानन्द' पर आधारित है। इस नाटक में नन्द सुन्दरी और गौतम दोनों से निरपेक्ष हो जाने के बाद अलगाव की स्थिति में आंतरिक सत्य की तलाश करने के लिए चल पड़ता है। उनका जीवन-बोध

अस्तित्ववाद की वैचारिक भूमिका पर ही उभरा है। राकेश की दृष्टि का यह यथार्थ जीवन-अर्थों की खोज तक ही सीमित है। किसी परिणति तक पहुँचना राकेश का अभीष्ट भी नहीं है। इसी कारण उनके समस्त नाटकों का समापन किसी निश्चित अन्त पर पहुँच कर नहीं होता। 'आधे-अधूरे' द्वारा आधुनिक जीवन से साक्षात्कार कराया गया है, इसमें महानगर के मध्यम वर्गीय परिवार का चित्रण है। आज के परिवार की टूटन और चुक गये आपसी सम्बन्धों को नाटक में बड़े सशक्त ढंग से प्रस्तुत किया गया है। अस्तु, राकेश ने अपनी नाट्य-सृष्टि में अन्तर्निहित यथार्थ को पकड़ने की चेष्टा की है। सभी नाटक रंगमंचीय सम्भावनाओं से पूर्ण हैं। प्रसाद जी के बाद सर्वाधिक सशक्त नाटककार हम राकेश को कह सकते हैं। उन्होंने अतीत के सघन कुहासे और अपने समसामयिक जीवन के अन्धे-गलियारों में भटक कर सभी स्तरों पर अपनी नाट्यकला को पूर्णतया आधुनिक रखा है।

मोहन राकेश के बाद जिस नाटककार के प्रति विश्वास जागता है, वह है 'सुरेन्द्र वर्मा'। उनके नाटकों में 'द्रोपदी', 'सूर्य की अन्तिम किरण से पहली किरण तक', 'आठवां सर्ग' आदि उल्लेखनीय हैं। प्रथम नाटक में आधुनिक नारी की मन:स्थिति का चित्रण पुराने मिथक-प्रतीकों के माध्यम से बड़ी सफलतापूर्वक किया गया है। 'सूर्य की अन्तिम किरण से पहली किरण तक' का आधार छद्म इतिहास है, पर इसमें लेखक ने एक पौरुषहीन व्यक्ति के विवाह बन्धन में पड़ी नारी की शाश्वत समस्या को आधुनिक भाव-बोध के साथ उठाने का प्रयास किया है। आठवाँ सर्ग' कालिदास के जीवन और लेखन पर आधारित है और उसका कथ्य लेखकीय स्वातंत्र्य की आधुनिक चेतना को उजागर करता है।

व्यवस्था के संदर्भ में समाज एवं व्यक्ति के बाह्य एवं आंतरिक यथार्थ का चित्रण करना नये नाटककारों के नाटकों का केन्द्रीय कथ्य लगता है। ब्रजमोहन शाह के 'त्रिशंकु', ज्ञानदेव अग्निहोत्री के 'शुतुरमुर्ग', सर्वेश्वर दयाल सक्सेना के 'बकरी' आदि नाटकों में सत्ता के छद्म और पाखंडों का ही पर्दाफाश किया है। अधुनातन नाटककार मुद्राराक्षस, लक्ष्मीकांत वर्मा, मणि मधुकर, शंकर शेष और भीष्म साहनी भी क्रमश: अपने नाटकों 'योअर्स-फेथ-फुल्ली', 'तेंदुआ', 'मरजीवा', 'रोशनी एक नयी है', 'रसगन्धर्व', 'एक और द्रोणाचार्य' तथा 'हानूश' के माध्यम से इन्हीं प्रश्नों से जूझ रहे हैं। इन्होंने जहाँ एक ओर वर्ग-वैषम्यो की चेतना को जाग्रत करके व्यवस्था के ह्रासशील रूपों का यथार्थ चित्रण किया है वहीं सत्ता के दबाव में पिस रहे आम आदमी की करुण नियति और उससे उत्पन्न

संत्रास का भी रुपायन किया है। इस तरह नाटक सीधे जिन्दगी की शर्तों से जुड़े और उनकी विषमताओं के साथ जूझते व्यक्ति की यंत्रणा उसके भीतर यथार्थ को रंग-माध्यम से प्रस्तुत करने का बीड़ा उठाते हैं। बदलाव की चेतना और आकुलता को उजागर करने के सशक्त कथ्य से ही हिन्दी के रचनात्मक नाट्य के लिए शुभारम्भ की स्थिति मानी जा सकती है। नये नाटककार सत्यदेव 'दूबे, रमेश उपाध्याय, रामेश्वर प्रेम, शरद जोशी, गिरिराज, सुशील कुमार सिंह, बलराज पंडित, मृदुला गर्ग, सुदर्शन चोपड़ा नये नाटक लिखकर आंतरिक यथार्थ बोध की संपुष्टि में योग दे रहे हैं। अभी हाल ही में कुछ नाटक प्रकाशित हुए हैं–

प्रभात कुमार भट्टाचार्य का 'काठ महल', गंगाप्रसाद विमल का 'आज नहीं कल', प्रियदर्शी प्रकाश का 'सभ्य सांप', रमेश बख्षी का 'वामाचरण', भगवतीचरण वर्मा का 'वसीयत', इन्द्रजीत भाटिया का 'जीवन दण्ड' सुदर्शन चोपड़ा का 'काला पहाड़' शिवप्रसाद सिंह का 'घाटियां गूंजती हैं' नरेश मेहता का 'सुबह के घण्टे' ज्ञानदेव अग्निहोत्री का 'नेफा की एक शाम' अमृतराय को 'विदियों की एक झलक' गोविन्द चातक का' अपने अपने खूंटे' विपिन कुमार अग्रवाल का 'लोटन', विष्णुप्रभाकर का 'टगर', सुरेन्द्र वर्मा का 'द्रोपदी' और 'आठवाँ सर्ग' भीष्म साहनी का 'कबिरा खड़ा बाजार में', राजेन्द्र प्रसाद का 'प्रतीतियों के बाहर' और 'चेहरों का जंगल' आदि। इन नाटकों में जो सामान्य प्रवृत्तियां उभर कर आई हैं वे इस प्रकार हैं–आकार में छोटे, वर्तमान जीवन से उनका सम्बन्ध, वस्तुवाद का प्राधान्य, अधिकांश मनोवैज्ञानिक और समस्यात्मक, रंगमंचीय संकेतों का बाहुल्य संकलन त्रय के पालन की प्रवृत्ति आदि। इनमें से अन्तर्मन की सच्चाइयों को नकार कर तटस्थता का मुखौटा लगा लेने का उपदेश देने वाले नाटककार कहां तक सफल हो पायेंगे, इसका सही मूल्यांकन उनकी आने वाली कृतियों से ही लग सकेगा।

किसी भी रचना की सम्पूर्णता कथ्य और शिल्प के सानुपातिक कलात्मक संयोजन में निहित रहती है। हिन्दी नाटकों में इन दोनों तत्त्वों के बीच तालमेल की स्थिति पर यदि विचार किया जाए तो हिन्दी के बहुत कम नाटक इस स्तर तक ऊंचे उठ पाते हैं। जब तक रंग जगत में वे सफल नहीं होते, उन्हें अर्थवान साबित नहीं किया जा सकता। यह एक सुखद संयोग है कि हिन्दी रंगमंच व्यापक स्तर पर राष्ट्रीय रंगमंच की भूमिका में क्रियाशील है। आज के हिन्दी नाटकों की उपलब्धि पर विचार किया जाए तो यह निष्कर्ष निकलता है कि हिन्दी नाटक ने अपनी निरर्थकता और कलाहीनता के घेरे को तोड़कर उल्लेखनीय सर्जनात्मकता

प्राप्त करने की दिशा में कदम बढ़ाया है। और अब नाट्यलेखन केवल सतही सामाजिक उद्देश्यपरकता के आसपास चक्कर नहीं काटता बल्कि गहरी या मूलभूत मानवीय अनुभूति या स्थितियों का सन्धान करता है। इन नाटकों की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वे जीवन और समाज की विसंगतियों को उभारते हैं, पीड़ा संत्रास और अजनबीपन के बीच आज के मानव की दयनीय नियति को रेखांकित करते हैं। स्वतंत्रता के बाद नाटक आधुनिक युग बोध के साथ ही जुड़ता नहीं दिखाई देता, वरन् रंगशिल्प के प्रति अधिक जागरूक भी हो गया है।

अद्यतन काल के प्रमुख साहित्यकार

सेठ गोविद दास

सेठ गोविददास (1896-1974) भारत के स्वतंत्रता संग्राम सेनानी, सांसद तथा हिन्दी के साहित्यकार थे। उन्हें साहित्य एवं शिक्षा के क्षेत्र में सन 1961 में पद्म भूषण से सम्मानित किया गया था। भारत की राजभाषा के रूप में हिन्दी के वे प्रबल समर्थक थे। सेठ गोविददास हिन्दी के अनन्य साधक, भारतीय संस्कृति में अटल विश्वास रखने वाले, कला-मर्मज्ञ एवं विपुल मात्रा में साहित्य-रचना करने वाले, हिन्दी के उत्कृष्ट नाट्यकार ही नहीं थे, अपितु सार्वजनिक जीवन में अत्यंत स्वच्छ, नीति-व्यवहार में सुलझे हुए, सेवाभावी राजनीतिज्ञ भी थे।

सन् 1947 से 1974 तक वे जबलपुर से सांसद रहे। वे महात्मा गांधी के निकट सहयोगी थे। उनको दमोह में आठ माह का कारावास झेलना पड़ा था जहाँ उन्होने चार नाटक लिखे- "प्रकाश" (सामाजिक), "कर्तव्य" (पौराणिक), "नवरस" (दार्शनिक) तथा "स्पर्धा" (एकांकी)।

परिचय

सेठ गोविन्द दास का जन्म संवत 1953 (सन् 1896) को विजयादशमी के दिन जबलपुर के प्रसिद्ध माहेश्वरी व्यापारिक परिवार में राजा गोकुलदास के यहाँ हुआ था। राज परिवार में पले-बढ़े सेठजी की शिक्षा-दीक्षा भी आला दर्जे की हुई। अंग्रेजी भाषा, साहित्य और संस्कृति ही नहीं, स्केटिंग, नृत्य, घुड़सवारी का जादू भी इन पर चढ़ा।

तभी गांधीजी के असहयोग आंदोलन का तरुण गोविददास पर गहरा प्रभाव पड़ा और वैभवशाली जीवन का परित्याग कर वे दीन-दुखियों के साथ सेवकों के दल में शामिल हो गए तथा दर-दर की खाक छानी, जेल गए, जुर्माना भुगता और सरकार से बगावत के कारण पैतृक संपत्ति का उत्तराधिकार भी गंवाया।

सेठजी पर देवकीनंदन खत्री के तिलस्मी उपन्यासों 'चन्द्रकांता संतति' की तर्ज पर उन्होंने 'चंपावती', 'कृष्णलता' और 'सोमलता' नामक उपन्यास लिखे, वह भी मात्र सोलह वर्ष की किशोरावस्था में।

साहित्य में दूसरा प्रभाव सेठजी पर शेक्सपीयर का पड़ा। शेक्सपीयर के 'रोमियो-जूलियट', 'एजयू लाइक इट', 'पेटेव्कीज प्रिस ऑफ टायर' और 'विटर्स टेल' नामक प्रसिद्ध नाटकों के आधार पर सेठजी ने 'सुरेन्द्र-सुंदरी', 'कृष्णकामिनी', 'होनहार' और 'व्यर्थ संदेह' नामक उपन्यासों की रचना की। इस तरह सेठजी की साहित्य-रचना का प्रारंभ उपन्यास से हुआ। इसी समय उनकी रुचि कविता में बढ़ी। अपने उपन्यासों में तो जगह-जगह उन्होंने काव्य का प्रयोग किया ही, 'वाणासुर-पराभव' नामक काव्य की भी रचना की।

सन् 1917 में सेठजी का पहला नाटक 'विश्व प्रेम' छपा। उसका मंचन भी हुआ। प्रसिद्ध विदेशी नाटककार इब्सन से प्रेरणा लेकर आपने अपने लेखन में आमूल-चूल परिवर्तन कर डाला। उन्होंने नई तकनीक का प्रयोग करते हुए प्रतीक शैली में नाटक लिखे। 'विकास' उनका स्वप्न नाटक है। 'नवरस' उनका नाट्य-रुपक है। हिन्दी में मोनो ड्रामा पहले-पहल सेठजी ने ही लिखे।

हिन्दी भाषा की हित-चिंता में तन-मन-धन से संलग्न सेठ गोविददास हिन्दी साहित्य सम्मेलन के अत्यंत सफल सभापति सिद्ध हुए। हिन्दी के प्रश्न पर सेठजी ने कांग्रेस की नीति से हटकर संसद में दृढ़ता से हिन्दी का पक्ष लिया। वह हिन्दी के प्रबल पक्षधर और भारतीय संस्कृति के संवाहक थे।

जगदीशचंद्र माथुर

जगदीशचंद्र माथुर (जन्म 16 जुलाई, 1917) हिंदी के उन साहित्यकारों में से हैं जिन्होंने आकाशवाणी में काम करते हुए हिन्दी की लोकप्रियता के विकास में महत्त्वपूर्ण योगदान किया। परिवर्तन और राष्ट्र निर्माण के ऐसे ऐतिहासिक समय में जगदीशचंद्र माथुर, आईसीएस, ऑल इंडिया रेडियो के

डायरेक्टर जनरल थे। उन्होंने ही 'एआईआर' का नामकरण आकाशवाणी किया था। टेलीविजन उन्हीं के जमाने में वर्ष 1959 में शुरू हुआ था। हिंदी और भारतीय भाषाओं के तमाम बड़े लेखकों को वे ही रेडियो में लेकर आए थे। सुमित्रानंदन पंत से लेकर दिनकर और बालकृष्ण शर्मा नवीन जैसे दिग्गज साहित्यकारों के साथ उन्होंने हिंदी के माध्यम से सांस्कृतिक पुनर्जागरण का सूचना संचार तंत्र विकसित और स्थापित किया था। जन्म 1917 ई. खुर्जा जिला बुलंदशहर, उत्तर प्रदेश में हुआ।

प्रारंभिक शिक्षा खुर्जा में हुई। उच्च शिक्षा युइंग क्रिश्चियन कॉलेज, इलाहाबाद और प्रयाग विश्वविद्यालय में हुई। प्रयाग विश्वविद्यालय का शैक्षिक वातावरण और प्रयाग के साहित्यिक संस्कार रचनाकार के व्यक्तित्त्व निर्माण में महत्त्वपूर्ण भूमिका हैं। 1939 ई. में प्रयाग विश्वविद्यालय से एम.ए. (अंग्रेजी) करने के बाद 1941 ई. में 'इंडियन सिविल सर्विस' में चुन लिए गए।

सरकारी नौकरी में 6 वर्ष बिहार शासन के शिक्षा सचिव के रूप में, 1955 से 1962 ई. तक आकाशवाणी – भारत सरकार के महासंचालक के रूप में, 1963 से 1964 ई. तक उत्तर बिहार (तिरहुत) के कमिश्नर के रूप में कार्य करने के बाद 1963-64 में हार्वर्ड विश्वविद्यालय, अमेरिका में विजिटिंग फेलो नियुक्त होकर विदेश चले गए। वहाँ से लौटने के बाद विभिन्न महत्त्वपूर्ण पदों पर काम करते हुए 19 दिसम्बर 1971 ई. से भारत सरकार के हिंदी सलाहकार रहे। इन सरकारी नौकरियों में व्यस्त रहते हुए भी भारतीय इतिहास और संस्कृति को वर्तमान संदर्भ में व्याख्यायित करने का प्रयास चलता ही रहा।

साहित्यिक जीवन

अध्ययनकाल से ही उनका लेखन प्रारंभ होता है। 1930 ई. में तीन छोटे नाटकों के माध्यम से वे अपनी सृजनशीलता की धारा के प्रति उन्मुख हुए। प्रयाग में उनके नाटक 'चाँद', 'रुपाभ' पत्रिकाओं में न केवल छपे ही, बल्कि इन्होंने 'वीर अभिमन्यु', आदि नाटकों में भाग लिया। 'भोर का तारा' में संग्रहीत सारी रचनाएँ प्रयाग में ही लिखी गईं। यह नाम प्रतीक रूप में शिल्प और संवेदना दोनों दृष्टियों से माथुर के रचनात्मक व्यक्तित्त्व के 'भोर का तारा' ही है। इसके बाद की रचनाओं में समकालीनता और परंपरा के प्रति गहराई क्रमशः बढ़ती गई है। व्यक्तियों, घटनाओं और देशके विभिन्न ऐतिहासिक स्थलों से प्राप्त अनुभवों ने सृजन में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की है।

प्रमुख कृतियाँ

नाटक

'भोर का तारा' (1946 ई.),
'कोणार्क' (1950 ई.),
'ओ मेरे सपने' (1950 ई.)
'शारदीया' (1959 ई),
'दस तस्वीरें' (1962 ई.), '
'परंपराशील नाट्य' (1968 ई.),
'पहला राजा' (1970 ई.)
'जिन्होंने जीना जाना' (1972 ई.)

समालोचना

माथुर जी के नाटकों में कौतूहल और स्वच्छंद प्रेमाकुलता है। 'भोर का तारा' में कवि शेखर की भावुकता पर्यावरण में घटित करने या रचने का मोह भी प्रारंभ से मिलता है। परंतु समसामयिक को अनुभव के रूप में अनुभूत करके उसकी प्रामाणिकता को संस्कृति के माध्यम से सिद्ध करने का जो आग्रह उनके नाटकों में हैं उसकी रचनात्मक संभावना का प्रमाण 'कोणार्क' में है। परंपरा को माध्यम और संदर्भ के रूप में प्रयोग करने की कला में माथुर सिद्दहस्त हैं। परंतु इसका तात्पर्य यह नहीं कि यही उनका सब कुछ है, बल्कि उन्होंने रीढ़ की हड्डी आदि ऐसे नाटक भी लिखे जिनका संबंध समाज के भीतर के बदलते रिश्तों और मानवीय संबंधों से है। 'शारदीया' के सारे नाटकों में समस्या को व्यापक परिप्रेक्ष्य में रखकर देखने का आभास अवश्य है, परंतु समस्या मात्र का परिवृत्त इतना छोटा है कि वह किसी व्यापक सत्य का आधार नहीं बन पाती। वस्तुत: माथुर छायावादी संवेदना के रचनाकार हैं। यह संवेदना 'भोर का तारा' से लेकर 'पहला राजा' तक में कमोबेश मिलती है। यह अवश्य है कि यह छायावादिता नाटक के विधागक संस्कार और यथार्थ के प्रति गहरी संसक्ति के कारण 'कोणार्क' और 'पहला राजा' में काफी संस्कारित हुई है।

'कोणार्क' उत्तम नाटक है। इतिहास, संस्कृति और समकालीनता मिलकर निरवधिकाल की धारणा और मानवीय सत्य की आस्था को परिपुष्ट करते हैं। घटना की तथ्यता और नाटकीयता के बावजूद महाशिल्पी विशु की चिंता और

धर्मपद का साहसपूर्ण प्रयोग, व्यवस्था की अधिनायकवादी प्रवृत्ति से लड़ने और जुझने की प्रक्रिया एवं उसकी परिणति का संकेत नाटक को महत्त्वपूर्ण रचना बना देता है। कल्पना की रचनात्मक सामर्थ्य और संस्कृति का समकालीन अनुभव कोणार्क की सफल नाट्य कृति का कारण है। कोणार्क के अंत और घटनात्मक तीव्रता तथा परिसमाप्ति पर विवाद संभव है, परंतु उसके संप्रेषणात्मक प्रभाव पर प्रश्न चिन्ह संभव नहीं है। 'पहला राजा' नाटक के रचना-विधान और वातावरण को 'माध्यम' और 'संदर्भ' में रूप में प्रयोग करके लेखक ने व्यवस्था और प्रजाहित के आपसी रिश्तों को मानवीय दृष्टि से व्याख्यायित करने का प्रयास किया है। स्पुतनिक, अपोलो आदि के प्रयोग के कारण समकालीनता का अहसास गहराता है। पृथु, उर्वी, कवष आदि का प्रयास और उसका परिणाम सब मिलकर नाटक की समकालीनता को बराबर बनाए रखते हैं। पृथ्वी की उर्वर शक्ति, पानी और फावड़ा-कुदाल आद्वि का उपयोग रचना के काल को स्थिर करता है।

'परंपराशील नाट्य' महत्त्वपूर्ण समीक्षा-कृति है। इसमें लोक नाट्य की परंपरा और उसकी सामर्थ्य के विवेचन के अलावा नाटक की मूल दृष्टि को समझाने का प्रयास किया गया है। रामलीला, रासलीला आदि से संबद्ध नाटकों और उनकी उपादेयता के संदर्भ में परंपरा का समकालीन संदर्भ में महत्त्व और उसके उपयोग की संभावना भी विवेच्य है। 'दस तसवीरें' और 'इन्होंने जीना जाना है' रचनाकार के मानस पर प्रभाव डालने वाले व्यक्तियों की तस्वीरें और जीवनियाँ हैं, जिनका महत्त्व उनके रेखांकन और प्रभावांकन की दृष्टि से अक्षुण्ण है।

उपेन्द्रनाथ अश्क

उपेन्द्र नाथ अश्क (1910- 19 जनवरी 1996) हिन्दी के प्रसिद्ध कथाकार व उपन्यासकार थे। 'अश्क' का जन्म जालन्धर, पंजाब में हुआ। जालन्धर में प्रारम्भिक शिक्षा लेते समय 11 वर्ष की आयु से ही वे पंजाबी में तुकबंदियाँ करने लगे थे। कला स्नातक होने के बाद उन्होंने अध्यापन का कार्य शुरू किया तथा विधि की परीक्षा विशेष योग्यता के साथ पास की। अश्क जी ने अपना साहित्यिक जीवन उर्दू लेखक के रूप में शुरू किया था किन्तु बाद में वे हिन्दी के लेखक के रूप में ही जाने गए। 1932 में मुंशी प्रेमचन्द्र की सलाह पर उन्होंने हिन्दी में लिखना आरम्भ किया। 1933 में उनका दूसरा कहानी संग्रह 'औरत की फितरत' प्रकाशित हुआ जिसकी भूमिका मुंशी प्रेमचन्द ने लिखी।

उनका पहला काव्य संग्रह 'प्रातः प्रदीप' 1938 में प्रकाशित हुआ। बम्बई प्रवास में आपने फिल्मों की कहानियाँ, पटकथाएँ, सम्वाद और गीत लिखे, तीन फिल्मों में काम भी किया किन्तु चमक-दमक वाली जिन्दगी उन्हें रास नहीं आई। 19 जनवरी 1996 को अश्क जी चिर निद्रा में लीन हो गए। उनको 1972 के 'सोवियत लैण्ड नेहरू पुरस्कार' से भी सम्मानित किया गया।

उपेंद्रनाथ अश्क ने साहित्य की प्रायः सभी विधाओं में लिखा है, लेकिन उनकी मुख्य पहचान एक कथाकार के रूप में ही है। काव्य, नाटक, संस्मरण, उपन्यास, कहानी, आलोचना आदि क्षेत्रों में वे खूब सक्रिय रहे। इनमें से प्रायः हर विधा में उनकी एक-दो महत्त्वपूर्ण एवं उल्लेखनीय रचनाएं होने पर भी वे मुख्यतः कथाकार हैं। उन्होंने पंजाबी में भी लिखा है, हिंदी-उर्दू में प्रेमचंदोत्तर कथा-साहित्य में उनका विशिष्ट योगदान है। जैसे साहित्य की किसी एक विधा से वे बंधकर नहीं रहे उसी तरह किसी विधा में एक ही रंग की रचनाएं भी उन्होंने नहीं की। समाजवादी परंपरा का जो रूप अश्क के उपन्यासों में दृश्यमान होता है वह उन चरित्रों के द्वारा उत्पन्न होता है जिन्हें उन्होंने अपनी अनुभव दृष्टि और अद्‌भुत वर्णन-शैली द्वारा प्रस्तुत किया है। अश्क के व्यक्ति चिंतन के पक्ष को देखकर यही सुर निकलता है कि उन्होंने अपने चरित्रों को शिल्पी की बारीक दृष्टि से तराशा है, जिसकी एक-एक रेखाओं से उसकी संघर्षशीलता का प्रमाण दृष्टिगोचर होता है।

प्रकाशित रचनाएँ

उपन्यास : गिरती दीवारें, शहर में घूमता आईना, गर्म राख, सितारों के खेल, आदि

कहानी संग्रह : सत्तर श्रेष्ठ कहानियां, जुदाई की शाम के गीत, काले साहब, पिजरा, अआड।

नाटक : लौटता हुआ दिन, बड़े खिलाडी, जय-पराजय, स्वर्ग की झलक, भँवर।

एकांकी संग्रह : अन्धी गली, मुखड़ा बदल गया, चरवाहे।

काव्य : एक दिन आकाश ने कहा, प्रातःप्रदीप, दीप जलेगा, बरगद की बेटी, उर्म्मियाँ, रिजपर (?)।

संस्मरण : मण्टो मेरा दुश्मन, फिल्मी जीवन की झलकियाँ

आलोचना : अन्वेषण की सहयात्रा, हिन्दी कहानीः एक अन्तरंग परिचय।

कमलेश्वर

हिन्दी लेखक कमलेश्वर (6 जनवरी1932-27 जनवरी 2007) बीसवीं शती के सबसे सशक्त लेखकों में से एक समझे जाते हैं। कहानी, उपन्यास, पत्रकारिता, स्तंभ लेखन, फिल्म पटकथा जैसी अनेक विधाओं में उन्होंने अपनी लेखन प्रतिभा का परिचय दिया। कमलेश्वर का लेखन केवल गंभीर साहित्य से ही जुड़ा नहीं रहा बल्कि उनके लेखन के कई तरह के रंग देखने को मिलते हैं। उनका उपन्यास 'कितने पाकिस्तान' हो या फिर भारतीय राजनीति का एक चेहरा दिखाती फिल्म 'आंधी' हो, कमलेश्वर का काम एक मानक के तौर पर देखा जाता रहा है। उन्होंने मुंबई में जो टीवी पत्रकारिता की, वो बेहद मायने रखती है। 'कामगार विश्व' नाम के कार्यक्रम में उन्होंने गरीबों, मजदूरों की पीड़ा-उनकी दुनिया को अपनी आवाज दी।

कमलेश्वर का जन्म 6 जनवरी 1932 को उत्तरप्रदेश के मैनपुरी जिले में हुआ। उन्होंने 1954 में इलाहाबाद विश्वविद्यालय से हिन्दी साहित्य में एम.ए. किया। उन्होंने फिल्मों के लिए पटकथाएँ तो लिखी हीं, उनके उपन्यासों पर फिल्में भी बनी। 'आंधी', 'मौसम (फिल्म)', 'सारा आकाश', 'रजनीगंधा', 'छोटी सी बात', 'मिस्टर नटवरलाल', 'सौतन', 'लैला', 'रामबलराम' की पटकथाएँ उनकी कलम से ही लिखी गईं थीं। लोकप्रिय टीवी सीरियल 'चन्द्रकांता' के अलावा 'दर्पण' और 'एक कहानी' जैसे धारावाहिकों की पटकथा लिखने वाले भी कमलेश्वर ही थे। उन्होंने कई वृतचित्रों और कार्यक्रमों का निर्देशन भी किया।

1995 में कमलेश्वर को 'पद्मभूषण' से नवाजा गया और 2003 में उन्हें 'कितने पाकिस्तान'(उपन्यास) के लिए साहित्य अकादमी पुरस्कार से सम्मानित किया गया। वे 'सारिका' 'धर्मयुग', 'जागरण' और 'दैनिक भास्कर' जैसे प्रसिद्ध पत्र-पत्रिकाओं के संपादक भी रहे। उन्होंने दूरदर्शन के अतिरिक्त महानिदेशक जैसा महत्त्वपूर्ण दायित्व भी निभाया। कमलेश्वर ने अपने 75 साल के जीवन में 12 उपन्यास, 17 कहानी संग्रह और करीब 100 फिल्मों की पटकथाएँ लिखीं।

27 जनवरी 2007 को उनका निधन हो गया।

नाटक–उन्होंने तीन नाटक लिखे–अधूरी आवाज, रेत पर लिखे नाम और हिंदोस्ता हमारा।

मोहन राकेश

मोहन राकेश (अंग्रेजी: Mohan Rakesh, जन्म– 8 जनवरी, 1925– मृत्यु: 3 जनवरी, 1972) 'नई कहानी आन्दोलन' के साहित्यकार थे। हिन्दी नाटक के क्षितिज पर मोहन राकेश का उदय उस समय हुआ, जब स्वाधीनता के बाद पचास के दशक में सांस्कृतिक पुनर्जागरण का ज्वार देश में जीवन के हर क्षेत्र को स्पन्दित कर रहा था। उनके नाटकों ने न सिर्फ नाटक का आस्वाद, तेवर और स्तर ही बदल दिया, बल्कि हिन्दी रंगमंच की दिशा को भी प्रभावित किया। आधुनिक हिन्दी साहित्य काल में मोहन राकेश ने अपने लेखन से दूर होते हिन्दी साहित्य को रंगमंच के करीब ला दिया और स्वयं को भारतेन्दु हरिश्चंद्र और जयशंकर प्रसाद के समकक्ष खड़ा कर दिया। मोहन राकेश हिंदी साहित्य के उन चुनिंदा साहित्यकारों में हैं जिन्हें 'नयी कहानी आंदोलन' का नायक माना जाता है और साहित्य जगत में अधिकांश लोग उन्हें उस दौर का 'महानायक' कहते हैं। उन्होंने 'आषाढ़ का एक दिन' के रूप में हिंदी का पहला आधुनिक नाटक भी लिखा। कहानीकार-उपन्यासकार प्रकाश मनु भी ऐसे ही लोगों में शामिल हैं, जो नयी कहानी के दौर में मोहन राकेश को सर्वोपरि मानते हैं। प्रकाश मनु ने कहा ''नयी कहानी आंदोलन ने हिंदी कहानी की पूरी तस्वीर बदली है। उस दौर में तीन नायक मोहन राकेश, कमलेश्वर और राजेंद्र यादव रहे। खुद कमलेश्वर और राजेंद्र यादव भी राकेश को हमेशा सर्वश्रेष्ठ मानते रहे। **जन्म तथा शिक्षा** मोहन राकेश का जन्म 8 जनवरी, 1925 को अमृतसर, पंजाब में हुआ था।

उनके पिता पेशे से वकील थे और साथ ही साहित्य और संगीत के प्रेमी भी थे। पिता की साहित्यिक रुचि का प्रभाव मोहन राकेश पर भी पड़ा। मोहन राकेश ने पहले लाहौर के 'ओरियंटल कॉलेज' से 'शास्त्री' की परीक्षा पास की। किशोरावस्था में सिर से पिता का साया उठने के बावजूद उन्होंने हिम्मत नहीं हारी और पढ़ाई जारी रखी। इसके बाद उन्होंने 'पंजाब विश्वविद्यालय' से हिन्दी और अंग्रेजी में एम.ए. किया। एक शिक्षक के रूप में पेशेवर जिंदगी की शुरूआत करने के साथ ही उनका रुझान लघु कहानियों की ओर हुआ। बाद में उन्होंने कई नाटक और उपन्यास लिखे। बाद में अनेक वर्षों तक दिल्ली, जालंधर, शिमला और मुम्बई में अध्यापन कार्य करते रहे। स्वतंत्र लेखन अपनी साहित्यिक अभिरुचि के कारण मोहन राकेश का अध्यापन कार्य में मन नहीं लगा और एक वर्ष तक उन्होंने 'सारिका' पत्रिका का सम्पादन किया।

इस कार्य को भी अपने लेखन में बाधा समझकर इससे किनारा कर लिया और जीवन के अन्त तक स्वतंत्र लेखन ही इनके जीविकोपार्जन का साधन रहा। मोहन राकेश हिन्दी के बहुमुखी प्रतिभा संपन्न नाट्य लेखक और उपन्यासकार थे। समाज की संवेदनशील अनुभूतियों को चुनकर उनका सार्थक सम्बन्ध खोज निकालना उनकी कहानियों की विषय-वस्तु थी। **साहित्यिक परिचय** हिन्दी नाटकों में भारतेंदु हरिश्चंद्र और जयशंकर प्रसाद के बाद का दौर मोहन राकेश का दौर है, जिसमें हिन्दी नाटक दुबारा रंगमंच से जुड़े।

हिन्दी नाट्य साहित्य में भारतेंदु हरिश्चंद्र और जयशंकर प्रसाद के बाद यदि कोई लीक से हटकर नाम उभरता है तो वह मोहन राकेश का है। बीच में और भी कई नाम आते हैं, जिन्होंने आधुनिक हिन्दी नाटक की विकास-यात्रा में महत्त्वपूर्ण पड़ाव तय किए, किन्तु मोहन राकेश का लेखन एक अलग ही स्थान पर नजर आता है। इसलिए ही नहीं कि उन्होंने अच्छे नाटक लिखे, बल्कि इसलिए भी कि उन्होंने हिन्दी नाटक को अँधेरे में बन्द कमरों से बाहर निकाला और एक नए दौर के साथ जोड़कर दिखाया। **रचनाएँ** मोहन राकेश की रचनाएँ पाठकों और लेखकों के दिलों को छूती हैं।

एक बार जो उनकी रचना को पढ़ता है तो वह पूरी तरह से राकेश के शब्दों में डूब जाता है। राकेश के उपन्यास 'अंधेरे बंद कमरे', 'न आने वाला कल', 'अंतराल' और 'बाकलमा खुदा' है। इसके अलावा 'आधे अधूरे', 'आषाढ़ का एक दिन' और 'लहरों के राजहंस' उनके कुछ मशहूर नाटक हैं। 'लहरों के राजहंस' उनका सबसे विख्यात नाटक रहा। मोहन राकेश ने नाटक, उपन्यास, कहानी, यात्रा वृत्तान्त, निबन्ध आदि विधाओं में विपुल साहित्य की रचना की। **कथा साहित्य** मोहन राकेश पहले कहानी विधा के जरिये हिन्दी में आए। उनकी 'मिसपाल', 'आद्रा', 'ग्लासटैंक', 'जानवर' और 'मलबे का मालिक' आदि कहानियों ने हिन्दी कहानी का परिदृश्य ही बदल दिया। वे 'नयी कहानी आन्दोलन' के शीर्ष कथाकार के रूप में चर्चित हुए। मोहन राकेश हिन्दी के बहुमुखी प्रतिभा संपन्न नाट्य लेखक और उपन्यासकार हैं। उनकी कहानियों में एक निरंतर विकास मिलता है, जिससे वे आधुनिक मनुष्य की नियति के निकट से निकटतर आते गए हैं। उनकी खूबी यह थी कि वे कथा-शिल्प के उस्ताद थे और उनकी भाषा में गजब का सधाव ही नहीं, एक शास्त्रीय अनुशासन भी है।

कहानी से लेकर उपन्यास तक में उनकी कथा-भूमि शहरी मध्य वर्ग है। कुछ कहानियों में भारत-विभाजन की पीड़ा बहुत सशक्त रूप में अभिव्यक्त हुई

है। कहानी के बाद राकेश को सफलता नाट्य-लेखन के क्षेत्र में मिली है। नाट्य-लेखन मोहन राकेश को कहानी के बाद नाट्य-लेखन के क्षेत्र में सफलता मिली। मोहन राकेश को हिन्दी नाटकों का अग्रदूत भी कह सकते हैं। हिन्दी नाट्य साहित्य में भारतेन्दु और प्रसाद के बाद कोई नाम उभरता है तो वह मोहन राकेश का है। उसे युगों के रोमानी ऐन्द्रजालिक सम्मोहन से उबारकर एक नए दौर के साथ जोड़कर दिखाया। वस्तुत: मोहन राकेश के नाटक केवल हिन्दी के नाटक नहीं हैं। वे हिन्दी में लिखे अवश्य गए हैं, किन्तु वे समकालीन भारतीय नाट्य प्रवृत्तियों के द्योतक हैं।

उन्होंने हिन्दी नाटक को पहली बार अखिल भारतीय स्तर प्रदान किया और सदियों के अलग-थलग प्रवाह को विश्व नाटक की एक सामान्य धारा की ओर भी अग्रसर किया। प्रमुख भारतीय निर्देशकों इब्राहीम अलकाजी, ओम शिवपुरी, अरविन्द गौड़, श्यामानन्द जालान, रामगोपाल बजाज और दिनेश ठाकुर ने मोहन राकेश के नाटकों का निर्देशन किया। '**आषाढ़ का एक दिन**' मोहन राकेश राकेश जी की सबसे बड़ी उपलब्धि उनका नाटक "आषाढ़ का एक दिन" था, जिसने नाटकों को एक नया आयाम दिया। 'आषाढ़ का एक दिन' सन 1958 में प्रकाशित और नाटककार मोहन राकेश द्वारा रचित एक हिन्दी नाटक है। कभी-कभी इसे हिन्दी नाटक के आधुनिक युग का प्रथम नाटक कहा जाता है। सन् 1959 में इसे वर्ष का सर्वश्रेष्ठ नाटक होने के लिए 'संगीत नाटक अकादमी पुरस्कार' से भी सम्मानित किया गया था। कई प्रसिद्ध निर्देशक इस नाटक को मंच पर ला चुके हैं। 1979 में निर्देशक मणि कौल ने इस पर आधारित एक फिल्म बनाई, जिसने आगे जाकर साल की सर्वश्रेष्ठ फिल्म का 'फिल्म फेयर पुरस्कार' भी जीत लिया।

'आषाढ़ का एक दिन' महाकवि कालिदास के निजी जीवन पर केन्द्रित है, जो 100 ई. पू. से 500 ईस्वी के अनुमानित काल में व्यतीत हुआ। इस नाटक का शीर्षक कालिदास की कृति 'मेघदूतम्' की शुरूआती पंक्तियों से लिया गया है, क्योंकि आषाढ़ का महीना उत्तर भारत में वर्षा ऋतु का शुरूआती महीना होता है, इसका सीधा अर्थ "वर्षा ऋतु का एक दिन" है। मोहन राकेश द्वारा रचित 'आषाढ़ का एक दिन' एक त्रिखंडीय नाटक है। इसमें सफलता और प्रेम में से एक को चुनने के संशय से जूझते कालिदास, एक रचनाकार और एक आधुनिक मनुष्य के मन की पहेलियों को रखा गया है।

वहीं प्रेम में टूटकर भी प्रेम को नहीं टूटने देने वाली इस नाटक की नायिका मल्लिका के रूप में हिन्दी साहित्य को एक न भूलने वाला योग्य पात्र मिला है। कथन 'आषाढ़ का एक दिन' नाटक के प्रकाशन के बाद हिन्दी नाटक और रंगमंच में राकेश जी ने और भी कई महत्त्वपूर्ण कार्य किए। वे अपने नाटक 'आषाढ़ का एक दिन' की भूमिका में कहते है कि "हिन्दी रंगमंच की हिन्दी भाषी प्रदेश की सांस्कृतिक पूर्तियों और आकांक्षाओं का प्रतिनिधित्व करना होगा, रंगों और राशियों के विवेक को व्यक्त करना होगा हमारे दैन-दिन जीवन के रागरंग को प्रस्तुत करने के लिए हमारे संवेदों और स्पदंनों को अभिव्यक्त करने के लिए जिस रंगमंच की आवश्यकता है, वह पाश्चात्य रंगमंच से कहीं भिन्न होगा।"

राकेश जी को हिन्दी में नये रंग नाटकों का पुरोधा कहा जा सकता है। उनको नाटक की भाषा विषय पर कार्य करने के लिए 'नेहरू फैलोशिप' प्राप्त हुई थी, किन्तु असमय मृत्यु हो जाने के कारण यह काम पूरा नहीं हो सका। समकालीन लेखक मोहन राकेश ने हिन्दी नाटक को नई जमीन पर खड़ा कर दिया जो उन्होंने स्वयं ने जमीन तलाशी थी। उनके पूर्ववर्ती प्रयोगधर्मी नाट्यकारों- लक्ष्मीनारायण, जगदीशचन्द्र माथुर, उपेन्द्रनाथ अश्क, लक्ष्मीनारायण लाल, धर्मवीर भारती आदि ने जिस विश्वजनीन चेतना को अग्रसर किया था, उसका विकास क्रम मोहन राकेश में देखा जा सकता है और जिन्हें हम आधुनिक भाव बोध का नाम भी दे सकते हैं। इसमें हमने यथार्थवाद, प्रकृतिवाद, प्रतीकवाद, अभिव्यक्तिवाद, एपिक थियेटर या अतियथार्थवाद या असंगतवाद आदि अनेक मत-मतान्तरों में देखा है। प्रमुख कृतियाँ मोहन राकेश ने मुख्यत: नाटक और उपन्यास लिखे। नाटक और उपन्यास के अतिरिक्त उन्होंने कुछ संस्कृत नाटकों और विदेशी उपन्यासों का अनुवाद भी किया।

इनकी मुख्य रचनाएँ इस प्रकार हैं- उपन्यास नाटक कहानी संग्रह निबंध संग्रह अनुवाद अँधेरे बंद कमरे अन्तराल न आने वाला कल, आषाढ़ का एक दिन, लहरों के राजहंस, आधे, अधूरे, क्वार्टर, तथा अन्य कहानियाँ पहचान, तथा अन्य कहानियाँ वारिस तथा अन्य कहानियाँ। परिवेश एकत्र - असंकलित तथा अप्रकाशित रचनाएं, आखिरी चट्टान तक (यात्रा-वृत्त) तथा डायरी। मृच्छकटिकम् शाकुंतलम् सम्मान और पुरस्कार वर्ष 1968 में मोहन राकेश को 'संगीत नाटक अकादमी पुरस्कार' से सम्मानित किया गया था। निधन- हिन्दी साहित्य जगत को नई ऊँचाई देने वाले मोहन राकेश का 3 जनवरी, 1972 को नई दिल्ली में आकस्मिक निधन हुआ।

स्वदेश दीपक

स्वदेश दीपक (1942 –) एक लोकप्रिय भारतीय नाटककार, उपन्यासकार और लघु कहानी लेखक हैं। उन्होंने 15 से भी अधिक प्रकाशित पुस्तकें लिखीं हैं। स्वदेश दीपक हिंदी साहित्यिक परिदृश्य पर 1960 के दशक के मध्य से सक्रिय हैं। उन्होंने हिंदी और अंग्रेजी में स्नातकोत्तर उपाधि प्राप्त की थी। छब्बीस साल उन्होंने अम्बाला के गांधी मेमोरियल कालेज में अंग्रेजी साहित्य पढ़ाया। उन्हें संगीत नाटक अकादमी सम्मान (2004) से सम्मानिय किया गया। वे 2 जून 2006 को, सुबह की सैर के लिए निकले और आज तक वापस नहीं आए।

कृतियाँ

कहानी संग्रह- अश्वारोही (1973), मातम (1978), तमाशा (1979), प्रतिनिधि कहानियां (1985), बाल भगवान (1986), किसी अप्रिय घटना का समाचार नहीं (1990), मसखरे कभी नहीं रोते (1997), निर्वाचित कहानियां (2003)

उपन्यास- नंबर 57 स्क्वाड्रन (1973), मायापोत (1985)

नाटक- बाल भगवान (1989), कोर्ट मार्शल (1991), जलता हुआ रथ (1998), सबसे उदास कविता (1998), काल कोठरी (1999)

संस्मरण- मैंने मांडू नहीं देखा (2003)।

कोर्ट मार्शल स्वदेश दीपक का सर्वश्रेष्ठ नाटक है। दीपक स्वदेश के कोर्ट मार्शल का अरविन्द गौड़ के निर्देशन में अस्मिता थियेटर ग्रुप द्वारा भारत भर में 450 बार से अधिक मन्चन। रंगमंच निर्देशक रन्जीत कपूर, उषा गांगुली, अमला राय और नदिरा बब्बर ने भी इसका मन्चन किया। यह कई भारतीय भाषाओं में अनुवाद किया गया है रंगकर्मियो में इस दशक का लोकप्रिय, प्रासंगिक, सामाजिक और राजनीतिक नाटक।

नाग बोडस

नाग बोडस एक लोकप्रिय भारतीय नाटककार और हिन्दी कथाकार थे।

प्रमुख नाटक

अम्मा तुझे सलाम,

खुबसुरत बहू,

टीन -ट्प्पर,
क्रिति-विक्रिति,
तीन नाटक,
नर -नारी उर्फ बाबा लोचन दास

अम्मा तुझे सलाम

स्वर्गीय श्री नाग Bodas द्वारा लिखित अम्मा तुझे सलाम एक सामाजिक व्यंग्य नाटक है। जो इस उपभोक्ता- समाज में भिखारियों के जीवन के बारे में है। नाटक बोडस विकलांग मैकेनिक की कहानी के माध्यम से सामाजिक नियमों और पाखंड का खुलासा करता है। वह दुनिया की कठोरता के बावजूद, उसमें अपनी निष्ठा रखता है और छोटी खुशियों का सपना पूरा करना चाहता है। यह नाटक संघर्ष, निर्दोष बचपन, मानसिक अस्थिरता, साजिश, महत्त्वाकांक्षा और समाज की बेरहमी दर्शाने के साथ महिलाओं और बच्चों के अवैध व्यापार का मुद्दा भी उठाता है। अम्मा तुझे सलाम का पहला मन्चन अरविन्द गौड़ के निर्देशन मैं अस्मिता नाट्य संस्था ने किया। खूबसूरत बहू 'को रन्जीत कपूर ने रानावि रंगमंडल के साथ किया। नर -नारी उर्फ थेन्कु बाबा लोचन दास का पहला मन्चन भी रानावि ने किया।

❐❐❐